जैन साहित्य एवं मंदिर उपकरण

हमारे यहाँ सभी प्रकार का दिगंबर जैन एवं भारत के सभी प्रमुख धार्मिक
संस्थानों का सत साहित्य एवं मदिर में उपयोग हेतु उपकरण और
प्रभावना में बाटने योग्य सामग्री सीमित मूल्य पर उपलब्ध है !

शुध्द चांदी के उपकरण आर्डर पर निर्मित किये जातें है!

(पांडुशिला, सिंघासन ,छत्र ,चंवर प्रातिहार्य , जापमाला ,
मंगल कलश,पूजा बर्तन चंदोवा,तोरण,झारी)

नोट :- हमारे यहाँ घरो मे उपयोग हेतु , साधुओं के उपयोग हेतु,
अनुष्ठानो मे उपयोग हेतु शुध्द देशी घी भी
आर्डर पर उपलब्ध कराया जाता है !

Contact:-
Sourabh Sagar Indore
9993602663
7722983010
sourabhjn1989@gmail.com

जय जिनेन्द्र

जैन

गाय का शुद्ध देशी घी

शुद्धता पूर्वक बनाया गया देशी घी

साधु व्रती एवं धार्मिक अनुष्ठानो को ध्यान में
रख कर बनाया गया शुद्ध देशी घी

घी ऐसा के दिल जीत जाये !

अब 1kg की पैकिंग में भी उपलब्ध

संपर्क सूत्र

Contact For Order

Sourabh Sagar Indore

Call & Whatsapp:

9993602663,7722983010

All India Home Delivery

उपाश्रम की छाँव में

(आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा रचित
'मूकमाटी' महाकाव्य का भावानुवाद)

मुनि निर्वेगसागर

प्रकाशक

धर्मोदय विद्यापीठ

सागर (मध्यप्रदेश)

कृति	:	उपाश्रम की छाँव में
भावानुवादक	:	मुनि निर्वेगसागर
सम्पादन	:	ब्र० डॉ० भरत जैन
संस्करण	:	पंचम, अप्रैल, २०१८
आवृत्ति	:	११००
वेबसाईड	:	www.vidhyasagarpathshala.com
चित्रांकन	:	श्रीमति चेतना-डॉ० विजय जैन, गंजबासौदा
पुण्यार्जक	:	अर्चित जैन, शिवपुरी ९९२६२-२५५९२
प्राप्तिस्थान	:	धर्मोदय विद्यापीठ बाहुबली कॉलोनी, सागर (मध्यप्रदेश) ९४२४९-५१७७१
मुद्रक	:	विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा भोपाल (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

आधुनिक जीवन का सर्वोत्कृष्ट शास्त्र–''मूकमाटी''	v
भूमिका	vii
अनुभूति के द्वार से	xii
मूकमाटी महाकाव्य : कुछ अनछुए पहलू	xv
अन्तःकरण	xxi

प्रथम खण्ड

संकर नहीं : वर्ण लाभ

सोपान १. माटी की वेदना : धरती की निर्देशना	३
सोपान २. चिंतन मनन में डूबी माटी : प्रभात का इंतजार	१६
सोपान ३. शिल्पी चरण माटी की ओर : उपाश्रम में माटी	२१
सोपान ४. कंकरों की कमी : मिला माटी से मंत्र	३५
सोपान ५. कसी गाँठ रस्सी की : खोलने का पुरुषार्थ	४४
सोपान ६. संकल्पिता मछली का प्रयास : ऊपर भूपर आने का	४८

द्वितीय खण्ड

शब्द सो बोध नहीं

बोध सो शोध नहीं

सोपान ७. शिल्पी मुख से : काय रता ही कायरता	६५
सोपान ८. काँटों की परिणति में बदलाहट	७०
सोपान ९. माटी की रौंदन क्रिया में रुकावट	८२
सोपान १०. माटी से निकलते भिन्न-भिन्न रस	९२
सोपान ११. सब रसों में श्रेष्ठ रस-शान्त रस ही उपादेय	१०८
सोपान १२. अपक्व कुम्भ पर कलाकृति	११३

सोपान १३. सूर्य की प्रखरता से तपती धरती १२७

तृतीय खण्ड

पुण्य का पालन
पाप का प्रक्षालन

सोपान १४. जल की अज्ञानता : सागर का स्वभाव १३७
सोपान १५. प्रभाकर के मुख से नारी का गौरव १४५
सोपान १६. राजा के मन में मोतियों का लोभ १५२
सोपान १७. बादलों का प्रयास : अन्त में हार १५८
सोपान १८. शिल्पी की मनोदशा : कुम्भ की दृढ़ता १७५

चतुर्थ खण्ड

अग्नि की परीक्षा
चाँदी-सी राख

सोपान १९. अवा में कुम्भ की अनुभूति १८७
सोपान २०. स्वप्न की निरर्थकता २०१
सोपान २१. अतिथि का स्वागत : कुम्भ की भावना २०६
सोपान २२. दाता पात्र की मर्यादा २१५
सोपान २३. वैरागी हुआ सेठजी का मन २२८
सोपान २४. ईर्ष्या से भरे स्वर्ण कलश की दशा २३६
सोपान २५. बीमार हुए सेठजी, माटी का उपचार २५१
सोपान २६. अपमानित स्वर्ण कलश ने बुलाया आतंकवाद २६६
सोपान २७. आपत्ति में फँसा सेठ परिवार २७०
सोपान २८. मूसलाधार वर्षा में कुम्भ का सहारा २७९
सोपान २९. आतंकवाद की परिवर्तित हुई परिणति २८७
सोपान ३०. कुम्भ और कुम्भकार का पुनः मिलन २९७
परिशिष्ट १. 'मूकमाटी' महाकाव्यगत कुछ रोचक काव्य खण्ड ३०५
परिशिष्ट २. दिगम्बर जैनाचार्य सन्त शिरोमणि श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर हुए शोध कार्य ३१८
परिशिष्ट ३. मूकमाटी मीमांसा : एक परिचय ३२२

आधुनिक जीवन का सर्वोत्कृष्ट शास्त्र–''मूकमाटी''

पापात्मा से परमात्मा तक की यात्रा का वर्णन करने वाले इस काव्य में पतित माटी से पावन घट बनने की प्रक्रिया को रूपक बनाया गया है। चार चरण– संकर नहीं वर्ण लाभ, शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं, पुण्य का पालन–पाप का प्रक्षालन, अग्नि की परीक्षा, में माटी का विकास क्रम प्रस्तुत है। शिल्पी यानि कुम्भकार सच्चे गुरु का प्रतीक है तो माटी आत्म विकास के इच्छुक भव्य जीव का।

मूकमाटी की संक्षिप्त कथा वस्तु इस प्रकार है–

नदी किनारे पड़ी हुई माटी के मन में किसी एक दिन अपने जीवन को उन्नत बनाने का भाव पैदा हुआ। उसने माँ धरती के सन्मुख अपने भाव और वर्तमान दशा की बात रखी माँ धरती ने समझाया सत्ता–प्रतिसत्ता का रहस्य, संगति का प्रभाव और समर्पण की बात। माटी ने सब कुछ ध्यान पूर्वक सुना और वह माँ से कहती है–हे माँ? मुझे पथ दो (सम्यग्दर्शन) पाथेय दो (सम्यग्ज्ञान) और पद भी दो (सम्यक्चारित्र) जिससे की मैं भी आत्मकल्याण कर सकूँ। इधर शिल्पी भी कुम्भ बनाने का विचार करता है और नदी किनारे पड़ी माटी को उठाकर अपने उपाश्रम की ओर ले जाने का उपक्रम करता है। उपाश्रम में ले जाकर माटी को बारीक तार वाली चालनी से छानता है। छनी हुई मृदु माटी में शीतल जल मिलाकर उसे लौदें का रूप प्रदान करता है वह। घूमते हुए चाक पर रखे माटी के पिण्ड को अपनी करांगुलिओं का सहारा दे घट का आकार देता है तथा उस पर नीतिप्रद कुछ चित्र, कविताओं का सृजन भी करता है।

इसी बीच उद्घाटित होते हैं कुछ प्रसंग। सत्ता का स्वरूप, आस्था का महत्त्व, संघर्षमय जीवन का परिणाम, कर्म बंध और मुक्ति की प्रक्रिया, संप्रेषण की बात, कर्तव्य और कर्तृत्व, दया और करुणा की यथार्थता, वर्ण लाभ और वर्ण हानि, हीरा और कंचन बनने का उपाय, अहिंसा की चर्चा, वैराग्य की ओर मछली, सतयुग और कलियुग की परिभाषा, सल्लेखना की विधि। पुरुष और प्रकृति का योगदान, मान कषाय की स्पष्टता, शूल और फूल की चर्चा, क्षमावाणी, अच्छा मन्त्र, मोह और मोक्ष, समीचीन साहित्य, सभी रसों में शान्त रस की श्रेष्ठता, करुणा की सीमा, काल चक्र, ९, ९९, ६३, ३६ का रहस्योद्घाटन, सिंह और श्वान

की प्रवृत्ति, ही और भी बीजाक्षर, वसंत ऋतु और संसार की नश्वरता।

बने हुए अपक्व घट को मिटाने का प्रयास बदलिओं द्वारा किया जाता है सो असफल हुआ और हुई कुंभकार के प्रांगण में मोतियों की वर्षा, मेघमुक्ता का अवतरण। पुनः सागर के निर्देशन में बादलों का प्रयाण, धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे इस हेतु भू-कणों का जल-कणों के साथ संघर्ष होता है आखिर में पृथ्वी की जीत हुई। अपक्व कुम्भों को पकाने के लिए अवा में रखा जाता है, अग्नि परीक्षा में उतरता है कुम्भ, पूर्ण सफलता प्राप्त होने पर मन में भावना भाता है कि अतिथि का लाभ हो। नगर सेठ का सेवक कुम्भकार से कुम्भ को ले जाता है और वह अतिथि का पड़गाहन कर आहार दान में सहयोगी बनता है। कुम्भ का आदर देख स्वर्णकलश आदि अनेक पात्र ईर्ष्या एवं क्रोध से भर जाते हैं। जिसका परिणाम-आतंकवाद को आमंत्रित किया जाता है सेठ परिवार को नष्ट करने के लिए। बहुत प्रयास करने के बाद भी आतंकवाद का दल सफल नहीं हो पाया। फिर वह अपनी मानसिक स्थिति बदलता हुआ सेठ परिवार और कुम्भ के साथ पहुँचता है नदी तट पर, जहाँ कुम्भकार पुनः माटी लेने आया हुआ था। पास में विराजे मुनिराज का सभी ने दर्शन किया कुछ प्रवचन सुने और मौन में डूबे हुए मुनि और माहौल को निहारती सी मूकमाटी।

इसी बीच उद्घाटित कुछ और प्रसंग न्याय-अन्याय, नारी की महानता, समाज निर्माण में भूमिका, नारी शब्द के पर्यायवाची शब्दों की आदर्श व्याख्या, लोभ पाप का फल, सज्जनों का कर्तव्य, महापुरुषों की भावना, स्वर्ग-अपवर्ग का कारण, लेखनी की चाहना-भावना, अणु और मनु की शक्ति, अग्नि के बीच कुम्भ, जीवनदान, ध्यान-धारणा का आधुनिक चित्रण, अध्यात्म और दर्शन की मीमांसा, स्वप्नों की बात, अतिथि की चर्या, भूख का रूप, दाता-पात्र की समीक्षा, सेठ की वैराग्य कथा, समीचीन उपचार विधि माटी द्वारा, कला शब्द और प्रयोजन, आतंकवाद का जन्म, धरती का सहारा, सबका जीवन मंगलमय हो यही भावना इत्यादि।

अलिखित ऐसे और भी अनेक प्रसंग इस मूकमाटी में हैं जिनमें मानवीय जीवन विकास के महत्त्वपूर्ण सूत्र जुड़े हुए हैं।

डॉ० विजय जैन, गंजबासौदा

भूमिका

अरिहंतभासियत्थं, गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा॥

अरिहन्त प्रभु के मुख से निकली दिव्यध्वनि को ग्रहण कर गणधर-परमेष्ठी ने उसे भव्य जीवों के आत्मकल्याणार्थ ग्यारह अंग, चौदह पूर्व रूप द्वादशांग श्रुत की माला में पिरोहित किया। जिनोपदिष्ट आगम में विश्व की समस्त विद्याओं एवं कलाओं का सांगोपांग वर्णन प्राप्त हुआ। गणधर-परमेष्ठी के द्वारा वर्णित श्रुत को आचार्यों ने अपनी बुद्धि में धारण किया। वीर प्रभु के निर्वाण प्राप्त होने के बाद भी सैकड़ों वर्षों तक द्वादशांग ज्ञान शिष्यों को गुरु-परम्परा के मुख से मिलता रहा। व्यतीत होते काल के साथ-साथ मानवीय बुद्धि का ह्रास होने लगा, स्मरण-शक्ति क्षीण होने लगी। तब श्रुतज्ञान के संरक्षण की भावना ले अनेक प्राचीन आचार्यों ने उसे लिपिबद्ध करना प्रारम्भ किया, जिनमें श्री पुष्पदन्त-भूतबली आचार्य, श्री यतिवृषभाचार्य, श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री उमास्वामी आचार्य, श्री समन्तभद्राचार्य, श्री जिनसेनाचार्य, श्री नेमिचन्द्राचार्य इत्यादि आचार्य प्रमुख हैं। आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में छुपे हुए रहस्यों को उद्घाटित करने हेतु टीकाओं, व्याख्याओं का लेखन श्री अमृतचन्द्राचार्य, श्री पूज्यपादाचार्य, श्री जयसेनाचार्य, श्री भट्टाकलंकदेव, श्री विद्यानन्दाचार्य, श्री ब्रह्मदेवसूरि इत्यादि आचार्यों द्वारा किया गया। इन पूर्व आचार्यों का कृपा प्रसाद आज भी हमारे समक्ष है और भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का निर्देशन करा रहा है।

वैज्ञानिक चमत्कारों से आकर्षित, आधुनिक विचारधारा में डूबी भारतीय मानवता को समीचीन दिशाबोध देने के लिए इस युग के सरस्वती पुत्र श्रमणाचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के प्रधान मुनि शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा नवीन विधा काव्य शैली में 'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना की गई है। समीचीन तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली यह कृति निश्चित ही भौतिकवादी चकाचौंध में उलझी, लक्ष्यहीन दौड़ में भागती हुई, दुनिया के लिए जन्म-जरा-मृत्यु रूपी रोग से छुटकारा दिलाने वाली परम औषध के समान हितकारी है।

पतित से पावन, पापात्मा से परमात्मा बनने तक की सम्पूर्ण यात्रा, मार्ग की बाधाएँ, उन्हें पार करने की कला, एक माटी से घट बनने की प्रक्रिया को रूपक बनाकर यहाँ प्रस्तुत किया गया है। आगमिक व्याख्याओं को सहजता, संक्षिप्तता से प्रस्तुत करना इसकी विशेषता है। जैसे-

१. मिटती - काया में
मिलती - माया में
म्लानमुखी और मुदित मुखी
नहीं होना ही
सही सल्लेखना है।.........(पृ. ८७)

२. पुरुष का प्रकृति में रमण ही
मोक्ष है, सार है।
और
अन्यत्र रमना ही
भ्रमण है
मोह है, संसार है। (पृ. ९३)

३. आना, जाना, लगा हुआ है,
आना यानी जनन-उत्पाद है,
जाना यानी मरण-व्यय है,
लगा यानी स्थिर-ध्रौव्य है। (पृ. १८५)

अनेक अनसुलझे प्रश्नों का समाधान भी मूकमाटी में पाया जा सकता है। जैसे-

१. **विकल्प रहित कैसे हुआ जाए ?**
अविकल्पी है वह
दृढ़ संकल्पी मानव। (पृ. २७)

२. **वर्णलाभ क्या ? वर्ण हानि क्या ?**
नीर का क्षीर बनना है

वर्ण-लाभ है/वरदान है
क्षीर का फट जाना ही
वर्ण-संकर है
अभिशाप है।

३. **काल चक्र कैसे** ?

काल स्वयं चक्र नहीं है
संसार-चक्र का चालक होता है।
यही कारण है कि
उपचार से काल को चक्र कहा है। (पृ. १६१)

४. **संसार दुःख से कैसे बचें** ?

कर पर कर दो
बच जाओगे। (पृ. १७४)

मातृभाषा कन्नड़ होते हुए भी इस प्रकार के उत्कृष्ट महाकाव्य की रचना करना आचार्यश्री की यह अपनी विशेषता ही मानी जायेगी, जो अन्यत्र दुर्लभ है। यह अनुपम अलौकिक कृति वर्तमान युग में सर्वाधिक लोकप्रिय और चर्चित है। तभी तो मूकमाटी महाकाव्य पर अब तक ४ डी॰ लिट्॰, २७ पीएच॰ डी॰, ७ एम॰ फिल॰ के शोध प्रबन्ध तथा २ एम॰ एड॰ और ६ एम॰ ए॰ के लघु शोध प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं तथा लगभग ३०० से अधिक विद्वान्/समीक्षकों ने मूकमाटी के विभिन्न पक्षों पर अपनी कलम चलायी।

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने मूकमाटी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कृतियाँ सृजित कर जैन आगम के भण्डार को वृद्धिंगत किया है।

कुछ कृतियाँ इस प्रकार हैं-शारदा-स्तुतिरियम्, श्रमण-शतकम्, निरंजन-शतकम्, भावना-शतकम्, परीषहजय-शतकम्, सुनीति-शतकम्, चैतन्य-चन्द्रोदय शतकम्, धीवरोदय-चम्पूकाव्यम्, संस्कृत कृतियाँ, नर्मदा का नरम कंकर, डूबो मत लगाओ डुबकी, तोता क्यों रोता ?, चेतना के गहराव में-काव्य संग्रह, आचार्य शान्तिसागर स्तुति, आचार्य वीरसागर स्तुति, आचार्य शिवसागर स्तुति, आचार्य ज्ञानसागर स्तुति, अध्यात्म-१० भक्तिगीत रचित हैं। निजानुभवशतक, मुक्तकशतक, श्रमणशतक, निरंजनशतक, भावनाशतक, परीषहजयशतक, सुनीतिशतक, दोहादोहन-

शतक, पूर्णोदयशतक, सूर्योदयशतक, सर्वोदयशतक, जिनस्तुतिशतक हिन्दी कृतियाँ, विज्जाणुवेक्खा प्राकृत, कन्नड़ कविता, बंगला कविता, अंग्रेजी कविता, लगभग ५०० हाईकू कवितावली, शताधिक प्रकाशित प्रवचनावली, त्रिसहस्राधिक अप्रकाशित प्रवचनावली भी आचार्य श्री द्वारा रचित हैं। पूर्वाचार्यों द्वारा संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा में रचित आगम ग्रन्थों का हिन्दी पद्यानुवाद भी आपने किया है। जैसे–कुन्दकुन्द का कुन्दन (समयसार), जैन गीता (समणसुत्तं), निजामृतपान (समयसार कलश), अष्टपाहुड, नियमसार, बारसाणुवेक्खा, पञ्चास्तिकाय, इष्टोपदेश (२ बार पद्यानुवाद), प्रवचनसार, समाधिसुधा शतक (समाधि शतक), नौ भक्तियाँ (पूज्यपाद आचार्यकृत), इत्यादि द्रष्टव्य हैं।

भगवान् महावीर की श्रमण परम्परा को आगे बढ़ाते हुए लगभग १२० मुनि, १७२ आर्यिकाएँ, ५७ ऐलक, ६४ क्षुल्लक एवं ३ क्षुल्लिका कुल ४१६ दीक्षाएँ आचार्यश्री के कर कमलों से सम्पन्न हुईं।

आचार्य महाराज काव्य प्रतिभा के धनी हैं, जिनकी लेखनी से माटी को केन्द्र बिन्दु में रखकर मूकमाटी काव्य का ताना–बाना बुना गया है। प्रस्तुत महाकाव्य चार खण्डों में विभाजित है–

प्रथम खण्ड–'संकर नहीं : वर्ण लाभ' के अन्तर्गत कंकरों से मिश्रित माटी को उसके मूल स्वरूप में लाने की बात कही गई है, जिससे वह अपना कोमल वर्ण प्राप्त कर सके। हर पदार्थ अपने मौलिक स्वरूप में आ जाए, यही धर्म मार्ग है।

द्वितीय खण्ड–'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' सही दिशा में शब्द, बोध और शोध को प्रस्थापित करता है, जो श्रद्धा–ज्ञान एवं चारित्र के क्रमशः पर्याय बन गए हैं।

तृतीय खण्ड–'पुण्य का पालन : पाप–प्रक्षालन' के अन्तर्गत शुभ कार्यों के सम्पादन, लोकहित एवं आत्महित के लिए किए गए प्रयत्नों के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है।

चतुर्थ खण्ड–'अग्नि की परीक्षा : चाँदी–सी राख' में कथा–शिल्प का अद्भुत विस्तार है। इस खण्ड में कवि, कथाकार और सर्वोपरि सन्त की अपूर्व अनुभूतियों का संगम है। प्रकारान्तर से युगीन परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब ही है।

आचार्यश्री के सागर में अनेक रत्न भरे हुए हैं, उनमें से एक रत्न मुनि श्री

निर्वेगसागरजी महाराज हैं जिन्होंने मूकमाटी महाकाव्य का '**उपाश्रम की छाँव में**' शीर्षक से भावानुवाद किया। विषय-वस्तु की स्पष्टता हेतु आवश्यक स्थानों पर मुनि श्री निर्वेगसागरजी महाराज के द्वारा 'विशेष' उपशीर्षक के अन्तर्गत स्पष्टीकरण किया गया है। इससे वह विषय मूलग्रन्थकार के द्वारा कथित नहीं समझा जायें।

मुनिश्री ने मूकमाटी महाकाव्य की बहु-बार कक्षाएँ लगायीं और अब इसे इतिहास की अमरगाथा बनाने के लिए, आचार्यश्री के भावों को जन-जन तक पहुँचाने के लिए इस भावानुवाद को लिपिबद्ध किया। इस भावानुवाद को पढ़ने से एक अच्छी उपन्यास शैली का अहसास होता है। वाक्यों की तारतम्यता से ज्ञात होता है कि लेखक ने मूकमाटी महाकाव्य का गहराई से चिन्तन किया अतएव मैं अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता हूँ। मुनिश्री के चरणों में कोटि-कोटि नमन समर्पित करता हूँ।

आचार्यश्री ने मूकमाटी में जीवन की अनेक परछाइयों को नजदीक से देखा है और उनकी बहुरंगी प्रतिकृतियों को अनुभूति की पाँखुड़ियों में सँजोया है। आइये, इस भावानुवाद को पढ़कर इन पाँखों की सुगंधी का हम भी कुछ रसास्वादन कर अपने जीवन को सफल बनायें।

ब्र० डॉ० भरत जैन

अनुभूति के द्वार से

विद्या का आनन्द और आनन्द की विद्या, जिसमें समाहित है, ऐसी है यह मूकमाटी। 'मूकमाटी' महाकाव्य के फ्रेम में तो फिट है ही; पर मैं समझता हूँ कि इस काव्य के लिए महाकाव्य से भी श्रेष्ठ सम्बोधन की तलाश करनी चाहिए। कारण कि महाकाव्य तो प्रधान पुरुष, पुराण पुरुष या कहें कि किसी श्रेष्ठ पुरुष की जीवन-कथा पर आधारित होते हैं किन्तु इन सबसे हटकर माटी जैसी अकिञ्चन, पद-दलित वस्तु को चुनकर, उसके सहयात्री पात्रों से संवाद जोड़कर, कथा का ताना-बाना तैयार करना, भावाभिव्यक्ति की अपने आप में अद्वितीय व अभिनव काव्य-विधा है। चारों पुरुषार्थ का अवबोध कराने वाली इस मूकमाटी की काया में जीवन के चारोंपन दिखाई देते हैं तो भाषा में चारों वेद और भासना में चारों अनुयोगों का ज्ञान झलकता है।

अतुकान्त की विधा में रचा गया, यह आध्यात्मिक काव्य साहित्य का बाना पहनकर दर्शन की आधारशिला पर खड़ा है। इसमें क्या-क्या है ? यह कह पाना जितना कठिन है, 'क्या नहीं है' यह कह पाना उससे भी कई गुना अधिक कठिन है। इस कृति को पाठक यदि कवि हृदय से एवं कविता की आँख से पढ़ेंगे तो वैसा ही आनन्द पायेंगे, जिस आनन्द से सराबोर होकर इस महाकाव्य का सृजन हुआ है।

यह बात सच है कि मूकमाटी के लेखन की शुरूआत मढ़ियाजी क्षेत्र, जबलपुर (मध्यप्रदेश) से प्रारम्भ हुई जैसा कि स्वयं गुरुवर की लेखनी से आया है, किन्तु मेरी अनुभूति कहती है कि मूकमाटी में छिपे कुम्भ के अस्तित्व ने शाश्वत सिद्धभूमि तीर्थराज सम्मेदशिखर (सन् १९८३) मधुवन (गिरिडीह), बिहार प्रान्त में ही गुरुवर के चिन्तन और चेतना को नया आयाम दे दिया था। जैसे शिल्पी अनगढ़ पाषाण में ही प्रतिमा की अवस्थिति देखकर फिर उसे वैसा आकार देने का उपक्रम करता है, ठीक वैसा ही कार्य मूकमाटी का हुआ है।

आचार्यश्री का चिन्तन जब लेखनी में उतरने लगा तब यह सपाट सरपट सरिता की तरह अबाधगति से लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ता गया, फिर क्या कहना! अप्रैल माह १९८४ से फरवरी माह १९८७ तक मात्र चौंतीस (३४) माह में ही इस बृहत् काय लेखन कार्य को सम्पन्न कर लिया गया।

इस लेखन काल में गुरुचरणों में रहकर लेखन कार्य को देखने, यथासमय संघस्थ साधुजनों के साथ या किन्हीं साहित्यकारों/विद्वानों को सुनाते समय मुझे भी गुरु मुख से सुनने का अमृत लाभ मिला। पाण्डुलिपि बनाकर प्रकाशनार्थ जाते-जाते भी इन आँखों को देखने की सुखद अनुभूति मिली। प्रकाशित प्रथम संस्करण का लोकार्पण सन् १९८८ (मढ़ियाजी क्षेत्र, जबलपुर, मध्यप्रदेश) में चातुर्मास समापन क्षणों के एक गरिमामयी कार्यक्रम में सम्पन्न हुआ।

सहज त्यागी, सहज विरागी, धर्मानुरागी और निजात्मानुरागी व्यक्तित्व का नाम है 'आचार्य विद्यासागर'। मूकमाटी के सृजेता आचार्यश्री की विशेषता है कि वे सन्तों में कवि और कवियों में सन्त हैं। सधी और बँधी हुई चर्या से जिन्होंने जिह्वा और जीवन में ऐक्य स्थापित किया है, ऐसे गुरुवर को उनके हजारों शिष्य, लाखों अनुयायी और करोड़ों श्रद्धालु मूकमाटी के मंगलघट की तरह सिद्धत्व पाने वीर और राम जैसा सुबह-शाम भज रहे हैं।

कुछ वर्षों से मूकमाटी महाकाव्य के स्वाध्याय और कथा के रूप में चिन्तन और चर्चा में निरत अनुज भ्राता मुनि श्री निर्वेगसागरजी ने अपने श्रम, सूझबूझ और गुरु-कृपा से मूकमाटी का मन्थन किया। मुनिश्री ने मूकमाटी की मृदुता, मुस्कान और महिमा को पहचान कर जनमानस को उससे परिचित कराने के लिए '**उपाश्रम की छाँव में**' के रूप में सुगम पथ तैयार किया है। भावानुवाद का यह प्रयास गुरुवर द्वारा रचित अपूर्व आनन्ददायी कृति मूकमाटी का अमृत सभी चख सकें, इसी प्रशस्त भावना के साथ ही हुआ है।

सुगम पथ के रूप में मुनिश्री ने समग्र मूकमाटी कृति में तीस सोपान सुनिश्चित किए हैं। मूकमाटी के कुछ मुख्य काव्यांशों को काव्य खण्ड के रूप में वर्गीकृत किया है, जिसकी संख्या लगभग ५९ है। कथा प्रवाह में तारतम्यता बनाए रखने के लिए जो शीर्षक बनाए गए हैं, उन्हें 'बिखरे कण' की संज्ञा दी गई है। परिशिष्ट में 'मूकमाटी' महाकाव्यगत 'कुछ रोचक काव्य खण्ड' के नाम से विभिन्न स्थलों पर आए शब्द विग्रह (अलग-अलग करना) से उत्पन्न नवीन अर्थ देने वाले काव्य खण्डों को एकीकृत कर संयोजित किया गया है। साथ ही साथ विभिन्न काव्यांशों के भागों को दर्पणवत् दर्शाती चित्रों की संयोजना भी अतिशय प्रभावकारी है।

गुरुवर की जन्मभूमि सदलगा (जिला-बेलगाम, कर्नाटक) से श्रवणबेलगोला यात्रा के दौरान मुनिश्री का अभिप्राय मूकमाटी के भावानुवाद कृति पर कुछ लिख

देने के रूप में प्रकट हुआ, तब जैसे किसी गायक को गाने का या कवि को कविता सुनाने का अवसर मिलने पर उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता है, ठीक मेरे लिए भी यह अवसर उसी तरह की सुखद अनुभूति का रहा।

इस कृति का रसास्वादन, मनन, चिन्तन, अवलोकन अधिकांशतः साहित्यकारों ने किया है, कर रहे हैं और जो अभी तक अछूते हैं, उन्हें कभी न कभी अपनी लीक से हटकर करना होगा। सम्यक्त्व से आलोकित एक निगाह मूकमाटी पर डालनी होगी, क्योंकि उसमें ऐसा ही कुछ अकथनीय आकर्षण है, जिससे भू-प्रेमी (मातृभूमि प्रेमी) कभी छोड़ नहीं सकते और दूसरी खास बात तो यह है कि भूशयन साधना प्रिय इसके रचयिता जो रहे।

अतः मूकमाटी मूक रहते हुए भी मुखर होगी और अपनी सुगंधी को वहाँ तक फैलायेगी जहाँ तक माटी है, माटी का विस्तार है। महामना आचार्यश्री और उनकी काव्य-साधना के प्रति हम सब ऋणी हैं। वे शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति की मंगल यात्रा पूर्ण करें तथा वृद्धि को प्राप्त हुए त्याग-तपस्या अभियान के महायज्ञ का समापन कर पवित्र सिद्धालय की ऊँचाइयाँ प्राप्त करें। आचार्यश्री 'आचार्यश्री' हैं और उनकी मूकमाटी, मूकमाटी ही है, सभी उपमाओं से परे, सभी बंधनों से परे।

जो मूक होता है, वह महान है,
माटी मूक है इसलिए वह महान है
और यह मूकमाटी है
जो सामयिक सारे प्रश्नों की समाधान है।

मुनि समतासागर

१४ जनवरी, २०१०
आदिनाथ निर्वाण दिवस,
श्रवणबेलगोला (हासन, कर्नाटक)

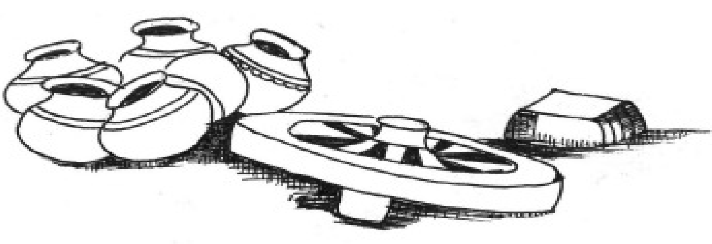

मूकमाटी महाकाव्य : कुछ अनछुए पहलू

संत शिरोमणि जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपनी आत्मसाधना के द्वारा जहाँ आत्मकल्याण हेतु विशेष प्रयास किये हैं, वहीं ''स्वान्तः-सुखाय'' से ऊपर उठकर ''परजन-हिताय'' के उदात्त भावों को भी सार्थकता प्रदान करने के लिए साहित्य रचना की है।

प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, कन्नड़ एवं अंग्रेजी भाषाओं में निबद्ध आपकी कृतियाँ भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि में नूतन अवदान हैं। आपने जहाँ संस्कृत में ६ शतक, १ चम्पू काव्य, पद्यानुवाद एवं काव्य सर्जना की है, वहीं अनेक जैनाचार्यों द्वारा अभिलिखित प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृत भाषा की श्रेष्ठ कृतियों का सरस एवं प्रांजल पद्यानुवाद राष्ट्रभाषा में किया है। ४ मौलिक हिन्दी कविता संग्रह, ११ हिन्दी शतक, अनेक स्फुट काव्य तथा हाइकू रचनाओं के अतिरिक्त आपके प्रवचन साहित्य को भी पाकर/पढ़कर साहित्य जगत् में आपकी विशिष्ट पहचान स्थापित हुई है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की मुनि दीक्षा गुरुवर आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा सन् १९६८ में हुई थी। इसी वर्ष से आपकी साहित्य धारा जो प्रस्फुटित हुई, वह नूतन चिंतन-मनन को शब्दायित करती हुई अविरल गतिमान हुई है। वही काव्य सर्जना 'मूकमाटी' महाकाव्य के माध्यम से भी आपके द्वारा प्रसारित हुई थी। इसका प्रारंभिक आलेखन आपकी साहित्यिक तूलिका द्वारा मध्यप्रदेश की संस्कारधानी के नाम से प्रख्यात जबलपुर नगर में स्थित पिसनहारी मढ़ियाजी क्षेत्र पर प्रारंभ हुआ था। २५ अप्रैल, १९८४ के पावन क्षणों से लिखा जाने वाला यह महाकाव्य सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर (मध्यप्रदेश) में पंचकल्याणक एवं त्रि-गजरथ महोत्सव के प्रसंग पर ११ फरवरी, १९८७ को पूर्ण हुआ था। यूँ तो इस रचना का भावनात्मक सूत्रपात्र श्री बाहुबली व चौबीसी जिनालय, मधुवन तीर्थराज सम्मेदशिखरजी (गिरिडीह, बिहार) में १३ फरवरी, १९८३ को हो चुका था, जो आंशिक रूप से आपकी भाव सम्पदा को रूपायित कर जनमानस के सम्मुख प्रकट हुआ था। इस भावभूमि को आपके 'पावन प्रवचन' संज्ञक संग्रह में तथा 'आचार्य विद्यासागर-समग्र (खण्ड ४) में 'धर्म : आत्म-

उत्थान का विज्ञान' के नाम से (पृष्ठ ४१४-४२०) अवलोकित किया जा सकता है।

इस आलेख में १९८८ में प्रकाशित प्रथम संस्करण से लेकर सन् २०१५ में प्रकाशित तेरहवें संस्करण तक एवं ३ बार अंग्रेजी, ३ बार मराठी, २ बार कन्नड़ तथा बांग्ला एवं गुजराती भाषा में भी अनुवादित इस 'मूकमाटी' महाकाव्य के भीतर गूढ़ रूप में छिपे हुए कुछ रहस्यों को स्पष्ट करने का सम्यक् प्रयास है, जो जब कभी श्रीगुरु के श्रीमुख से ही सुना/समझा गया था।

(१) भारतीय भौगोलिक सीमाओं की सुदृढ़ एवं अभेद्य रेखाओं में सेंध लगाना तथा देश के भीतर भी आतंकवाद, उग्रवाद, नक्सलवाद, माओवाद आदि जैसी विभीषिकाएँ जब-तब अपना मुँह बाएँ खड़ी देखी जाती हैं। विभिन्न प्रदेशों में शासन-प्रशासन की नीतियों से असंतुष्ट वर्ग अपने विचारों को जनमानस पर जबरन थोपकर, देश की अखंडता एवं एकता को बिखराने का दुस्साहस भी यदा-कदा करते रहते हैं और आतंकवाद के रूप में कभी कश्मीर, कभी पंजाब, कभी उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में तो कभी झारखण्ड, बिहार, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा आंध्रप्रदेश आदि में भी वह विकराल आकार लेता हुआ-सा प्रतीत हो जाता है ।

'मूकमाटी' के आलेखन काल के दौरान ही सम-सामयिक घटनाक्रम पर आचार्यवर्य की सूक्ष्म दृष्टि रही, जो काव्य के मिस इसमें झलकती है, किन्तु श्लेष के गूढ़ अर्थ को नहीं समझ पाने से सामान्यजन तो क्या, अधिकांश मनीषीजन भी उस भावबोध से अपरिचित ही रहे हैं। पंजाब में खालिस्तान के निर्माण को लक्ष्य में रखकर एक बड़ा वर्ग देश में उग्रवाद, आतंकवाद को पनपने दे रहा था। तब देश की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से राजनीतिक निर्णय लिया था और सन् १९८४ में अमृतसर, पंजाब के स्वर्ण मंदिर परिसर में 'आपरेशन ब्लू स्टार' (१ से ८ जून, १९८४) के माध्यम से आतंकवादी गतिविधियों को नियंत्रित करने के लिए सेना को एक्शन लेने हेतु स्वतंत्रता दी थी। देश के जाबांज सैनिकों ने अपने प्राणों की परवाह किये बिना ही उस योजना को चरितार्थ करने ऐतिहासिक व धार्मिक महत्त्व के भवनों को यथासंभव क्षति न पहुँचाते हुए उग्रवादी गतिविधि को संचालित करने वालों को नियंत्रित कर लिया था और बहुत अधिक मात्रा में गोला-बारूद आदि जप्त करके उन राष्ट्रविरोधी क्रियाकलापों को कण्ट्रोल में कर लिया था। पर कुछ धर्मान्ध लोगों ने षड्यंत्र रचकर प्रधानमंत्री

श्रीमती इंदिरा गाँधी को गोलियों से भूनकर उनकी हत्या कर दी थी। तब देश के नव निर्वाचित प्रधानमंत्री के रूप में श्री राजीव गाँधी का चयन हुआ। उन्होंने अपने कुशल नेतृत्व में पंजाब के तात्कालिक आतंकवाद को समाप्त करने हेतु विशिष्ट कार्ययोजना बनवाई और उसे सार्थक व सफल बनाने हेतु एक कुशल राजनेता को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया था। उस दौरान ही 'मूकमाटी' महाकाव्य का आचार्यश्री जी आलेखन कर रहे थे, अतएव सम-सामयिक घटनाक्रम उनके दृष्टिपटल पर था, जो प्रकारांतर से 'मूकमाटी' में भी पढ़ा/पाया जा सकता है।

आतंकवाद के उत्पन्न होने के कारण, उसके विस्तार और उसकी समाप्ति हेतु सम्यक् आयास-प्रयास की चर्चा 'मूकमाटी' में (पृष्ठ ४१७ से ४७८ तक) पर्याप्त रूप में देखी जा सकती है। आतंकवादियों के द्वारा मंत्र शक्ति के माध्यम से प्रलयकारी वातावरण का निर्माण करना, उसका प्रकृति और जीवों पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव तथा इस विपरीत वातावरण में भी अहिंसक एवं सात्त्विक विचारधारा को जीवन में आत्मसात् करने वाले कुम्भ और सेठ परिवार का चित्रण बड़ी कुशलता से आचार्यवर्य ने अपनी लेखनी से 'मूकमाटी' में किया है। हिंसक विचारधारा को अपनी अहिंसक विचारधारा से परिवर्तित कर देने से काव्य में नया मोड़ तब आता है, जब आहूत प्रलयकालीन बादलों के छँट जाने से निर्मित प्रभातकालीन सुरम्य वातावरण जैसा प्रकृति वर्णन आचार्यश्री ने यूँ किया–

"इस भीषण प्रलयकालीन स्थिति में भी
परिवार का परिरक्षण
अविकल चलता रहा,
गुणग्राही गज-गण से।"
"बादल दल छँट गये हैं
काजल-पल कट गये हैं
वरना, लाली क्यों फूटी है
सुदूर...प्राची में!" (मूकमाटी, पृष्ठ ४४०)

'मूकमाटी' महाकाव्य की ये पंक्तियाँ सामान्य अर्थबोध दे रही हैं कि अभी आतंकवाद के कारण काले-काले सघन मेघों से सम्पूर्ण आकाश आच्छादित था। इसी कारण दिन में भी रात जैसी कालिमा प्रतीत हो रही थी, किन्तु वह भीषण प्रलयकालीन वातावरण दूर हो चुका है और इस कारण वे संकट के क्षण अब

समाप्त हो चुके हैं, इसीलिए प्राची/पूर्व दिशा में प्रभातकालीन बेला के समान आनंदकारी वातावरण निर्मित हुआ है।

काव्य के मिस उपरिलिखित पंक्तियों से तत्कालीन राजनैतिक परिदृश्य को जानने/समझने पर श्लेष के माध्यम से उनमें छुपी हुई अर्थशक्ति को जाना जा सकता है। उस दौरान हुए राजनैतिक निर्णयों के परिप्रेक्ष्य में शिरोमणि अकाली दल की ओर से श्री प्रकाश सिंह बादल के स्थान पर पंजाब प्रान्त के तत्कालीन मुख्यमंत्री पद पर नवीन मुख्यमंत्री के रूप में श्री सुरजीत सिंह बरनाला (२९.०९.१९८५ से ११.०६.१९८७) का चयन हुआ था। श्री बरनाला के द्वारा आतंकवाद को नियंत्रित करके भारतीय संविधान के अंतर्गत देश की एकता और अखंडता को मुख्यता प्रदान की गई थी। इस कारण उनसे एक आशा की किरण फूटी हुई देश ने प्रतीत की थी, जो काव्य में श्लेष के माध्यम से उपरलिखित चिह्नित शब्दावलियों के माध्यम से पढ़ा/समझा जा सकता है।

(२) भारत की स्वतंत्रता के समय से ही देश के मस्तक स्वरूप कश्मीर की समस्या बनी हुई है। इसे पड़ोसी देश, जो कभी देश का ही एक अंश/अंग था, अब पृथक् देश पाकिस्तान के रूप में आतंकवाद को प्रश्रय देता रहता है। पाकिस्तान के चाहे राजनेता हों या देश पर हुकूमत चलाने वाले सैनिक शासक, दोनों ही अपनी संकुचित मनोवृत्तियों के कारण भारत के प्रति प्रायः मित्रता के स्थान पर शत्रुता का भाव रखते हैं और इसी शत्रु भावना की प्रतिपूर्ति हेतु देश की सीमा पर जहाँ गोलाबारी करके शांति को भंग करते/करवाते हैं, वहीं कश्मीर में अमन-चैन को नष्ट करने रूप घृणित मनोवृत्ति रखकर आतंकवादी गतिविधि को बढ़ावा देते रहते हैं। पाकिस्तान में आतंकवादियों को प्रशिक्षित कर गोला-बारूद, शस्त्र आदि मुहैया करवाकर, उन्हें बार्डर क्रास करवाकर, भारत की सीमा में प्रवेश करवाकर, फिर देश में जगह-जगह बम विस्फोट, कश्मीर में अशांति और उग्रवाद का वातावरण निर्मित करवाते हैं।

इतना ही नहीं, अपनी दूषित राजनैतिक मनोभावना से पाकिस्तान ने भारत के प्रति जबरन युद्ध का वातावरण पैदा किया और अगस्त-सितम्बर, सन् १९६५ व दिसम्बर, सन् १९७१ में युद्ध भी लड़ा। भले ही इसमें उसकी हार हुई और भारत की विजय, परन्तु तात्कालिक परिस्थितियों में दोनों ही राष्ट्रों में तनाव, अशांति व उन्माद का प्रसार हुआ और जन-धन की विपुल हानि भी हुई।

'मूकमाटी' महाकाव्य के माध्यम से आचार्य श्री विद्यासागरजी ने माटी के

लोंदे के रौंदन प्रक्रिया का खूबसूरत चित्रण किया है, जिसमें निम्न पंक्तियाँ काव्य सौंदर्य के बीच प्रासंगिक एवं उद्धरणीय भी बन पड़ी हैं –

"प्रकृति माँ की आँखों में
रोती हुई करुणा
बिंदु–बिंदु करके
दृग–बिंदु के रूप में
करुणा कह रही है
"परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में
बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने–मिटने को क्यों तुले हो
इतने सयाने हो!
जुटे हो प्रलय कराने
विष से धुले हो तुम!
इस घटना से बुरी तरह
माँ घायल हो चुकी है
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ!
सदय बनो!
अदय पर दया करो
अभय बनो!
सभय पर किया करो
अभय की अमृत–मय वृष्टि
सदा–सदा सदाशय दृष्टि
रे जिया, समष्टि जिया करो!
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ!"

(मूकमाटी, पृ० १४८–१४९)

उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में प्रकृति रूपी माँ की आन्तरिक पीड़ा आँखों से करुणा रूप में निकलकर अपने कण–कण रूपी पुत्रों/संतानों को समझाइश दे रही है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में आचार्यश्री ने श्लेष के रूप में एक नया एवं चमत्कारिक

प्रयोग संगुफित किया है। इस महाकाव्य की पंक्तियों को लिखे जाते समय भारत की सीमाओं पर निर्मित तनाव, कश्मीर के आतंकवाद को प्रश्रय देने वाले पाकिस्तान को लक्ष्य में रखकर आपने उसे प्रबोधन भी दिया है। पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति, जो सेना प्रमुख भी थे, को दृष्टि में रखकर मानो प्रकृति माँ रूपी भारत माता/अखंड धरती के माध्यम से अपने अंतःकरण की उदात्त भावना को उक्त पंक्तियों के माध्यम से आपने रखा है।

धरती माँ की असीम वेदना को स्वर देते हुए संत कवि ने अपनी हार्दिक भावना को शब्दायित करने का उपक्रम किया है। भारत वर्ष १५ अगस्त, १९४७ से पहले अखंड रूप से अवस्थित था। तात्कालिक राजनैतिक कारणों/परिस्थितियों की वजह से फिर भारत वर्ष से विखंडित होकर पाकिस्तान बना और फिर मानों अखंड भारत माँ की दोनों भुजाएँ/बाजुएँ कट कर उससे पृथक् हो गईं एवं (पूर्वी) पाकिस्तान व पश्चिमी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) का निर्माण हुआ। समय-समय पर वे दोनों बाजू अपने मूल शरीर भारत को ही परेशान करने से नहीं चूकते।

पाकिस्तान के तत्कालीन सेनाध्यक्ष एवं राष्ट्रपति जनरल मोहम्मद जिया उल हक (१९७८-१९८८) को दिशाबोध लेते हुए संतवाणी के रूप में इन पंक्तियों को श्लेषात्मक रूप में पढ़ने पर बहुत कुछ स्पष्ट संकेत मिलता है। भारत और पाकिस्तान संज्ञक कण-कण रूपी अपने दोनों पुत्रों को समझाइश देते हुए मानो प्रकृति/भारत रूपी अखण्ड माँ कह रही है कि तुम लोगों में परस्पर अनेक बार लड़ाई/युद्ध हुआ, वह गलत हुआ है। काव्य पंक्तियों के उपरिलिखित चिह्नित शब्द को ध्यान से पढ़ने पर विदित होता है कि रे जिया! (जनरल मोहम्मद जिया उल हक) समष्टि जिया करो, यह श्लेषार्थ अपने नवीन एवं अनूठे प्रयोग के कारण संत की अंतर्वेदना का अनुपम प्रयोग बन गया है।

मुनि अभयसागर

मुझे आशा है यह काव्य पढ़कर नास्तिक व्यक्ति का भी हृदय परिवर्तन होगा और वह इस काव्य में धर्म-दर्शन तथा अध्यात्म देख पायेगा, यही इस काव्य की सफलता है।

जवाहरलाल दर्डा

पूर्व मंत्री, महाराष्ट्र शासन, बम्बई

अन्त:करण

शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखरजी के समान मुक्ति प्रदायी है, यह 'मूकमाटी' ग्रन्थ। जिस प्रकार विशेष पुण्यशाली भव्य जीव ही पावन सिद्ध-भूमि की ऊँची-ऊँची चोटियों पर पहुँच पाते हैं, उसी प्रकार मूकमाटी का पारायण उसमें स्थित टोंकों के समान परमानन्द में कारणभूत काव्य खण्डों के दर्शन-ज्ञान एवं अनुभव करने के लिए भी विशेष पुण्य एवं गुरु-कृपा की आवश्यकता होती है, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ है।

आचार्यश्री द्वारा आधुनिक विधा में रचा हुआ यह एक महाकाव्य ही मात्र नहीं है, अपितु समग्र जैन दर्शन, अध्यात्म और सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसमें चारों अनुयोग गागर में सागर के समान समाहित हैं। इस ग्रन्थराज में मुख्य रूप से कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी एवं पूज्यपाद स्वामी के परम अध्यात्म की सुगंधी भव्य जीवों की नासिका को तृप्त करती है। यह मूकमाटी माता के समान हितकारी है। मूकमाटी शब्द स्वयं ही कह रहा है-

मू यानी मूल तत्त्व मुक्ति की चाह रखने वाली
क यानी आत्मा को
मा यानी माता के समान
टी यानी टीप अर्थात् मोक्षमार्ग का लेखा-जोखा
ज्ञान का दस्तावेज देने वाली जो है
सो यह 'मूकमाटी' कृति
मिटती जिससे सारी विकृति
मिलती शाश्वत संस्कृति।

अपने गुरु की अद्भुत कृति 'मूकमाटी' पढ़ने की दीर्घकालीन भावना होने पर गुरुकृपा एवं आशीष से मुझ अल्पज्ञ को ग्रन्थ पढ़ने और पढ़ाने की बुद्धि मिली। सो अनेक बार स्वाध्याय के दौरान ग्रन्थ का पारायण किया गया।

अपरिमित श्रद्धा के केन्द्र परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी गुरुवर द्वारा रचित यह कृति अमृतपेय एवं कल्पवृक्ष के समान श्रावकों को लालायित करती है। ग्रन्थ की गम्भीरता और अगाधता को न पा सकने के कारण वे प्राय: अतृप्त ही रह जाते हैं। पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा (माघ शुक्ल पंचमी से एकादशी तक) ११ फरवरी से १७ फरवरी, २००८ के दौरान जहाँ अपूर्व मानव रथ का प्रवर्तन हुआ ऐसे हरदा जिला (मध्यप्रदेश) में एक ब्रह्मचारी भाई अभिषेक जैन गोटेगाँव,

जिला-नरसिंहपुर (मध्यप्रदेश) के प्रश्न एवं निवेदन पर मूकमाटी पर संक्षिप्त व्याख्या लिखने का मन बना, जो अमरावती (महाराष्ट्र) से प्रारम्भ होकर नेमगिरि अतिशय क्षेत्र जिन्तूर, जिला-परभणी (महाराष्ट्र) में पूर्ण हुआ। सो यह सब प्रभु की छत्र छाया एवं गुरु-कृपा का ही प्रसाद है।

हजारों-हजार पृष्ठ लिखने पर भी ग्रन्थ की सम्पूर्ण विषय वस्तु लिख पाना संभव नहीं। फिर भी एक संक्षिप्त प्रयास '**उपाश्रम की छाँव में**' के रूप में प्रस्तुत है। यह अनुवाद आचार्यश्री की मूलभूत विचार-धारा, भावों को कितना छू पाया कहा नहीं जा सकता। फिर भी गुरु-चरण सान्निध्य में रहकर, जो कुछ पाया उसी के अनुसार यह प्रयास किया गया है।

यह भावानुवाद मूकमाटी के चौथे संस्करण (प्रकाशन वर्ष-१९९८) को आधार बनाकर लिखा गया है। पाठान्तर एवं संशोधन मूकमाटी के १२ वें संस्करण (प्रकाशन वर्ष-२०१३) से किया गया है। यह लेखन कार्य महावीर जयंती २००८ अप्रैल माह से प्रारम्भ होकर सितम्बर माह २००८ में पूर्ण हुआ। अल्पज्ञतावश लेखन कार्य में हुई त्रुटियों की ओर दृष्टिपात करवाकर सुधी जन कृति को त्रुटि रहित बनाने में सहयोग प्रदान करेंगे। ऐसी शुभभावना के साथ ही पुनः गुरु करकमलों में यह कृति समर्पित करते हुए गुरु-चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति पूर्वक केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेद प्रमाण नमोऽस्तु अर्पित करता हूँ।

जिनकी परम वात्सल्य-छाया में रहकर शिवपद पर चलने की दृढ़ता बनी ऐसे ज्येष्ठ मुनि श्री समयसागरजी एवं योगसागरजी महाराज हैं। अग्रज मुनि श्री समतासागरजी महाराज ने मूकमाटी भावानुवाद का आद्योपान्त अवलोकन कर 'अनुभूति के द्वार से' अपनी भावाभिव्यक्ति की एवं उचित निर्देशन दिया, आप सभी के पावन चरणों में कोटिशः नमोऽस्तु निवेदित करता हूँ। प्रस्तुत कृति के लेखन एवं संशोधन में मुनि श्री प्रशान्तसागरजी एवं मुनि श्री अक्षयसागरजी महाराज ने सहयोग प्रदान किया। जिनशासन की महती प्रभावना में नींव की पत्थर की तरह अनवरत प्रयासरत सहज, सरल आत्मसाधक मुनि श्री अभयसागरजी महाराज ने कृति को निर्दोष एवं उपयोगी बनाने हेतु अनेक सुझाव दिए। यथासंभव संशोधन कर यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। आप सभी के लिए अन्तरंग से साधुवाद सहित नमोऽस्तु करता हूँ। कृति के प्रकाशन में अनपेक्ष-वृत्ति से श्रम करने वाले ब्र० भरत भैया के लिए शीघ्र ही रत्नत्रय का लाभ हो, ऐसा शुभ आशीर्वाद।

गुरु चरणानुगामी

मुनि निर्वेगसागर

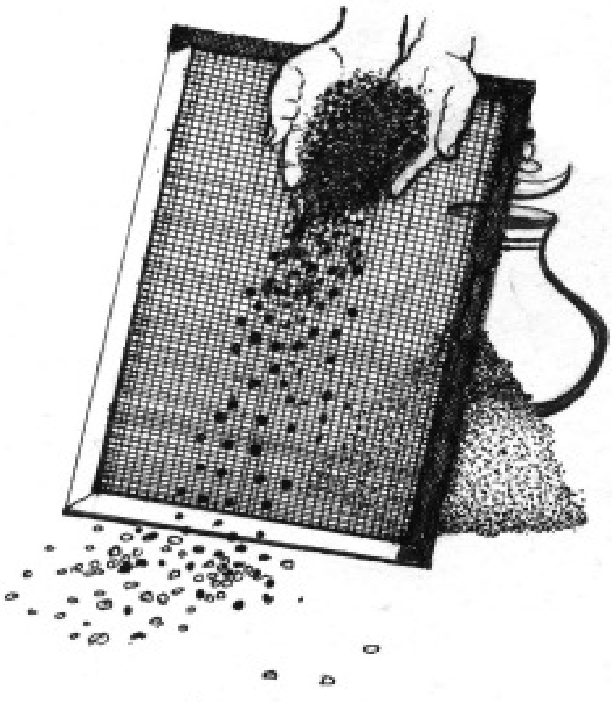

प्रथम खण्ड

संकर नहीं : वर्ण लाभ

बिखरे कण

१. माँ की गोद में : भानु	३
२. अन्तर्वेदना : माटी की	६
३. धृति धारिणी : माँ धरती	८
४. स्वरातीत सरगम : आस्था से	११
५. घाटियाँ ऐसी भी : साधना की	१२
६. अनुभूतियाँ : माटी की	१६
७. प्रभात की प्रतीक्षा में : माटी	१८
८. दुर्लभ दर्शनीय दृश्य	१९
९. मंगलाचरण : यात्रा का	२१
१०. भोर में हुआ विभोर : मानस	२२
११. अविकल्पी : कुशल शिल्पी	२४
१२. वमन अहं का : नमन से पहले	२४
१३. प्यारी माटी : प्राचीना परिपाटी	२७
१४. सात्त्विक : वास्तविक जीवन	२८
१५. सहयोगी साथी : शिल्पी का	२९
१६. भावना की बात	३०
१७. क्या करुणा ? क्या वासना ?	३१
१८. शरण : गुरु चरण की	३३
१९. परम दशा : ऋजुता की	३५
२०. गरम हुए : कंकर	३६
२१. मिलो दूध में : पानी सम	३६
२२. कमी : कंकरों की	३८
२३. परिणति : हिमखण्ड की	४०
२४. सफलता : विभाव की	४१
२५. चलो राह : संयम की	४२
२६. उलझी रस्सी : कसी गाँठ	४४
२७. उत्तेजित रसना	४६
२८. उपास्य देवता : अहिंसा	४७
२९. चिन्ता है : मछली को	४८
३०. मिला सहारा : अभय का	४९
३१. संकल्पिता की : एक सहेली	५१
३२. अंतिम समाधान	५२
३३. सत्कार : महामछली का	५४
३४. एक ही कामना : रहे काम-ना	५५
३५. माँ माटी के चरणों में	५६
३६. प्रयास करो : समझने का	५८
३७. जलती रही : जल से	६०
३८. सही लक्षण : सल्लेखना का	६१
३९. मासूमियत - समाधि की माँ	६१

सोपान १
माटी की वेदना : धरती की निर्देशना

मूकमाटी महाकाव्य को प्रारम्भ करते हुए कवि ने प्रथम ही प्रातःकालीन प्राकृतिक वातावरण के सौन्दर्य का वर्णन किया। सूर्योदय से पूर्व सन्धिकाल के महत्त्व को दर्शाते हुए बहती हुई सरिता का सन्देश दिया गया। सरिता तट की माटी ने अपनी अन्तर्वेदना माँ धरती से कही और पूछा कि मेरा जीवन उन्नत बनेगा कि नहीं ?

करुणा से भीगी माँ धरती ने माटी को सम्बोधन दिया–सत्ता–प्रतिसत्ता का रहस्य, संगति का महत्त्व, आस्था की बात, साधना की रीत, पथ की घाटियाँ, प्रतिकार–अतिचार का परिणाम, सही–सही पुरुषार्थ का स्वरूप और अन्त में संघर्षमय जीवन का उपसंहार हर्षमय।

पतित माटी से पावन घट बनने तक की प्रक्रिया को रूपक बनाकर पापात्मा से परमात्मा बनने तक की यात्रा का वर्णन करने वाले 'मूकमाटी' महाकाव्य को प्रारम्भ करते हुए प्रथम ही प्रातःकालीन प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया गया।

''सीमातीत-शून्य में
नीलिमा बिछाई,
और...इधर...नीचे
निरी नीरवता छाई,
निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है।'' (पृ०१)

१. माँ की गोद में : भानु

प्रातःकाल का समय है। अनन्त आकाश में नीली–नीली आभा फैली हुई है और इधर नीचे धरा में शब्द रहित शान्त वातावरण बना हुआ है। रात्रि व्यतीत होने को है। दिन उदित होने जा रहा है एवं भोर[१] को उजाला वृद्धि को प्राप्त हो रहा है।

सूर्य की निद्रा टूट तो गई है किन्तु अभी वह दिशारूपी माँ की वात्सल्य-मयी गोद में लेटा हुआ, मुख पर आँचल[२] ले करवटें बदल रहा है (हल्का–सा

१. भोर = प्रभात, रात के पहले एवं सूर्योदय के पहले का समय।
२. आँचल = साड़ी का वह छोर, जो छाती और पेट पर रहता है।

प्रकाश फैल चुका है किन्तु सूर्य दिख नहीं रहा है)। पूर्व दिशा के ओठों पर मन्द-मन्द मीठी-सी (हल्की सुन्दर-सी) मुस्कान प्रतीत हो रही है। इसके सिर पर कोई पल्ला (आवरण) नहीं है तथा चारों ओर सिंदूरी रंग की धूल उड़ती-सी लग रही है। हे भाई! सुखद कल्पना से युक्त, मन को प्रसन्न करने वाला यह आकाशीय दृश्य सभी को अच्छा सुहावना लग रहा है।

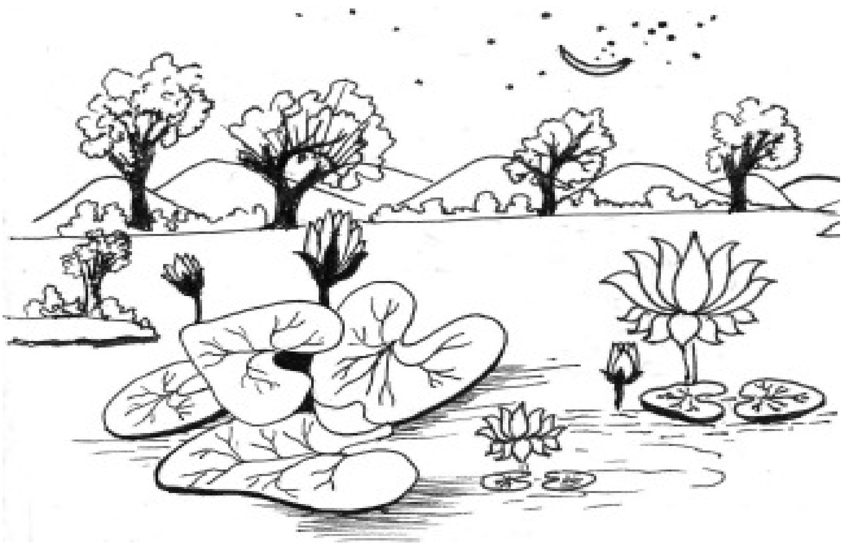

इधर सरोवर (तालाब) में रात्रि में विकसित होने वाली कुमुदिनी (निशा पुष्प) बन्द होने को है। ऐसा लगता है मानो लज्जा के कारण वह सूर्य की किरणों के स्पर्श से बचना चाहती है। अतः अपनी पराग और सराग (सुन्दर रूप) मुद्रा को पाँखुरियों की ओट देकर छुपा रही हो।

और दूसरी ओर कमलिनी, जो अधखुली है, वह भी डूबते चाँद की चाँदनी को भी पूरी तरह आँख खोलकर नहीं देख पा रही है। कारण, चाँदनी के प्रति ईर्ष्या भाव लगता है। चूँकि ईर्ष्या (दूसरों की बढ़ती न देख सकना) पर विजय प्राप्त करना सबके वश की बात नहीं है और वह भी स्त्री पर्याय में अनहोनी (जिनका होना संभव न हो) सी घटना लगती है।

गगनांगन में स्थित बल रहित बाला (बालिका)-सी सरल परिणामी ताराएँ भी अपने पतिदेव चन्द्रमा के पीछे-पीछे चलती हुई सुदूर दिशाओं के अन्त में छुपी जा रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं सूर्य उन्हें देख न ले, इसी भय से भाग रही हैं वे।

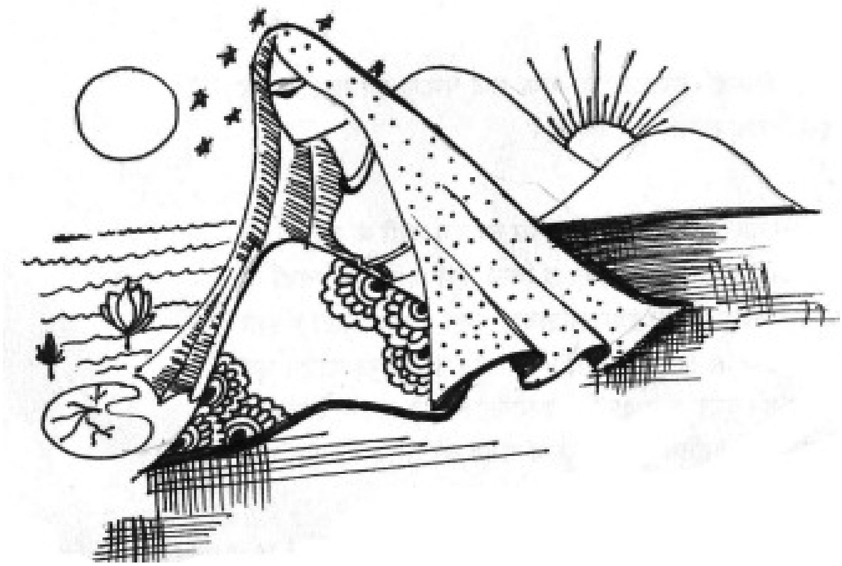

"मन्द-मन्द
सुगन्ध पवन
बह रहा है;
बहना ही जीवन है
बहता-बहता
कह रहा है" (पृ॰ २-३)

सुबह-सुबह मन्द-मन्द सुगंधित हवा बह रही है, मानो संदेश दे रही है कि बहना/परिवर्तन ही जीवन है। यहाँ कोई भी तो स्थिर नहीं है। जो आज नया है, कल पुराना हो जाता है, पुराना और भी पुराना हो जाता है।

बहता हुआ पवन कह रहा है—मेरे लिए और सबके लिए मंगलमयी/ कल्याणकारी है यह सन्धिकाल (दिन और रात के बीच का काल)। छोर-छोर तक चारों ओर सुगन्धि फैल रही है, अभी ना रात है और ना ही चन्द्रमा, ना दिन है ना ही सूर्य। अभी दिशाएँ भी अन्धी हैं अर्थात् कौन-सी दिशा पूर्व है और कौन-सी उत्तर कहा नहीं जा सकता। ध्यान- साधना के इस काल में निज आत्म तत्त्व की खोज की जा सकती है। ऐसे शुभ वक्त में अन्य किसी के मन में दुर्विचार (बुरे भाव) भी पैदा नहीं होते हैं।

और इधर सामने तीव्र वेग से बहती हुई नदी अन्य किसी बात पर ध्यान न देते हुए असीम सागर की ओर जा रही है। कारण समीचीन मार्ग (पथ) में चलता हुआ पथिक बाहरी आकर्षण मिलने अथवा संकट आने पर भी लक्ष्य से च्युत नहीं होता और ना ही तन से, ना ही मन से पीछे मुड़कर देखता है अपितु आगे ही बढ़ता चला जाता है।

२. अन्तर्वेदना : माटी की

स्वभाव से ही संकोच और लज्जा को धारण करने वाली, रूपवती सरिता तट की माटी अपने मन के भावों को माँ धरती के समक्ष व्यक्त करती है।

हे माँ! मैं स्वयं ही पूर्वोपार्जित (पूर्व जन्म में बाँधे हुए, उत्पन्न किए हुए कर्म) पापकर्म के उदय से निम्न दशा (नीची अवस्था) को प्राप्त पतिता हूँ और इस स्वार्थी, अहंकारी दुनिया ने मुझे और गिरा दिया है। दूसरों का बुरा करने में जिनकी बुद्धि लगी रहती है, ऐसे पापियों के पैरों द्वारा कुचली गई हूँ। मेरा जीवन सुख से रहित और दुख से सहित है, साथ ही साथ औरों के द्वारा अपमानित की गई, त्यक्ता यानी छोड़ी गई हूँ।

यह पतितात्मा कितनी पीड़ाओं को झेल रही है, सो व्यक्त नहीं कर सकती और करूँ भी तो किसके ? सामने, कौन सुनने वाला है यहाँ ? मेरे पास पैर भी नहीं हैं, ना ही मैं कुछ पुरुषार्थ कर सकती हूँ। आखिर भाग्य उल्टा जो रहा।

इतना जरूर है कि मेरे निमित्त से और कोई दुखी न हो, ऐसा विचार करती हुई प्रत्येक श्वास पर मिलने वाले दुख को पीती/सहन करती आ रही हूँ। अपने मुख पर आवरण ले, किन्तु आन्तरिक वेदना से घुटती जा रही। केवल दिखाने के लिए ही जी रही हूँ, बल्कि जीना नहीं चाहती हूँ।

अतः हे माँ! मुझे बस इतना बता दो कि यह पतित दशा कब नष्ट होगी ? यह शरीर मुझसे कब पृथक् होगा ?

"इसका जीवन यह
उन्नत होगा, या नहीं
अनगिन गुण पाकर
अवनत होगा, या नहीं
कुछ उपाय करो माँ!
खुद अपाय हरो माँ!
और सुनो,

विलम्ब मत करो
पद दो, पथ दो
पाथेय भी दो माँ!'' (पृ॰ ५)

मेरा यह जीवन अनन्त गुणों को पाकर, नम्रवृत्ति (विनयरूप परिणाम) को धारता हुआ उन्नत बनेगा कि नहीं ? हे माँ! तुम ही कुछ उपाय करो और आप स्वयं मेरे दुखों को दूर करो।

और सुनो माँ! मुझे तुम पर ही विश्वास है, अतः शीघ्रता से वो चरण दो, जो उन्नति के मार्ग में चल सकें। वो पथ यानी रास्ता भी बताओ जो उन्नति की ओर जाता हो। साथ ही साथ पाथेय यानी कुछ ऐसे भी सूत्र दो, जो पथ पर चलते समय मुझे शक्ति /सहारा प्रदान कर सकें।[१]

इतना कहकर माटी चुप हो जाती है। कुछ समय तक मौन का माहौल छा जाता है। माटी और माँ धरती एक दूसरे को अपलक (पलक झपकाये बिना, स्थिर दृष्टि से) देख रही हैं। माटी की नजरें धरा में और धरा की नजरें माटी में, एक-दूसरे के भीतर पहुँचते हुए अन्तरंग में जा समाती हैं।

१. शास्त्रों की शैली में कहा जाये तो पद यानी सम्यक् चारित्र (पाप का त्याग, आत्मस्वरूप में लीनता), पथ यानी सम्यग्दर्शन (वस्तु तत्त्व की यथार्थ/सच्ची श्रद्धा) और पाथेय यानी सम्यग्ज्ञान (पदार्थ विषयक सही-सही पूर्ण जानकारी)।

३. धृति धारिणी : माँ धरती

जिनकी आँखों में करुणामयी चेतनता का दर्शन हो रहा है, ऐसी धरती माँ की सरल आँखें हर्ष के आँसुओं से भीग चुकी हैं। उन आँखों से निरन्तर अश्रु प्रवाह बह रहा है। जिसका माथा संकल्प-विकल्पों[१] के तनाव से रहित, श्रेष्ठता को प्राप्त है ऐसी माँ धरती अपने मौन को तोड़ती हुई कुछ कहने को उद्यत हो रही है।

निमित्त-नैमित्तिक[२] सम्बन्धों के कारण अथवा माटी के निवेदन रूप पुरुषार्थ के कारण कहें, किन्तु सहज ही माँ धरती का माटी के प्रति विरह, अलग-अलगपने के भाव का अभाव हो अपनेपन का भाव उत्पन्न हो रहा है।

धैर्य को धारण करने वाली माँ धरती के सम्मुख माटी का आकर्षण है, अतः वह कुछ कहने के लिए तैयार होती है। लो! करुणा से भीगे भावों द्वारा सम्बोधन की शुरूआत–

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा!
प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनाएँ
उत्थान-पतन की,
खसखस का दाना-सा
बहुत छोटा होता है
बड़ का बीज वह!
समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो
समयोचित खाद, हवा, जल
उसे मिलें
अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में
विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है।
यही इसकी महत्ता है।

---

१. संकल्प-विकल्प = पर पदार्थों के प्रति मेरे-तेरेपन का भाव तथा मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ इत्यादि परिणाम।

२. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध = किसी कार्य की सम्पन्नता में सहयोगी कारण एवं उस कारण से उत्पन्न हुआ कार्य। जैसे–कुम्भकार रूप कारण के निमित्त से उत्पन्न घट रूप नैमित्तिक कार्य।

सत्ता शाश्वत[१] होती है
सत्ता भास्वत[२] होती है, बेटा!
रहस्य में पड़ी इस गन्ध का
अनुपान करना होगा
आस्था की नासा से सर्वप्रथम
समझी बात...!'' (पृ० ७-८)

बेटा! जीवन को उन्नत बनाने के लिए, सर्वप्रथम सत्ता और प्रतिसत्ता के इस रहस्य को समझना होगा, वह भी आस्था से, क्योंकि तत्त्व (वस्तु के यथार्थ स्वरूप) का ग्रहण न ही आँखों से और न ही कानों से अपितु आस्था से ही संभव है।

सत्ता (द्रव्य) शाश्वत होती है अर्थात् जो है वह कभी नष्ट नहीं होता। द्रव्यार्थिक नय (द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा कथन, वचन) से स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने पर द्रव्य (जो पहले थी, अभी है, आगे भी रहेगी, ऐसी त्रिकालवर्ती वस्तु) सदा नित्य तथा शुद्ध, सिद्धों[३] के समान स्वभाव वाला है, किन्तु प्रतिसत्ता (पर्याय) में विकास एवं ह्रास की संभावनाएँ होती हैं अर्थात् पर्याय (जो प्रतिसमय उत्पन्न हो और नष्ट हो) में परिवर्तन देखा जा सकता है। पर्यायें नाशवान् (नष्ट होने वाली) हैं। योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का संयोग मिलने पर शुद्ध

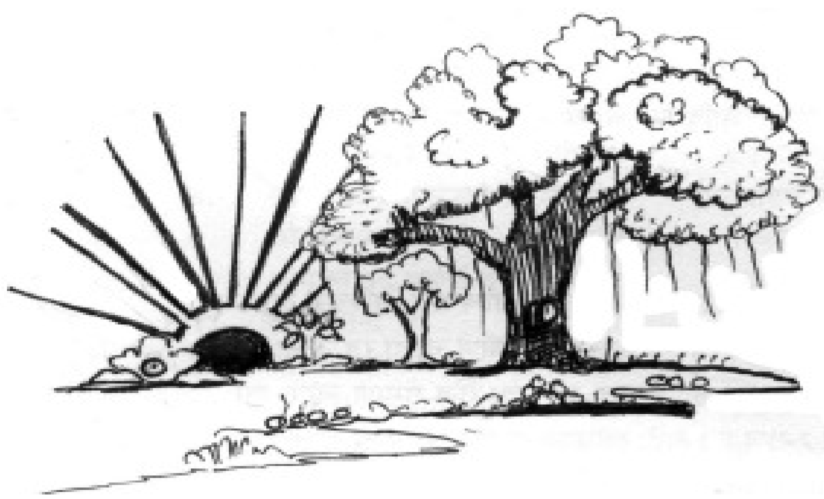

१. शाश्वत = जो कभी नष्ट न हो। २.भास्वत = प्रकाशमान। ३. सिद्ध = सभी बन्धन एवं विकारी भावों से रहित अवस्था।

पर्याय को प्राप्त किया जा सकता है। पुनः समझने का प्रयास करें सो जीव द्रव्य की नर, नारक आदि अशुद्ध पर्यायें हैं, जबकि सिद्ध दशा उसी जीव की शुद्ध पर्याय है।

खसखस के दाने से भी छोटा बरगद का बीज होता है। उचित भूमि में बोने पर, समयानुसार खाद-पानी देने पर वह बीज विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जीवन में विकास की योग्यता, उपादान शक्ति होने पर भी योग्य संयोगों की आवश्यकता को स्वीकारना, निमित्त कारण को भी जानना होगा।

सत्ता सदा से थी, है और रहेगी। वह सदा स्वभाव की अपेक्षा प्रकाशमान है। इस रहस्य को सर्वप्रथम आस्था से स्वीकार करना होगा, उस प्रकाशित सत्ता का उद्घाटन करना है तो अज्ञान के बाहरी आवरण को हटाना होगा।

और भी देखो यह कितना खुला स्पष्ट विषय है कि निमित्त का, संगति का जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ता है ? बादलों से गिरने वाली निर्मल जल की धारा धूल में मिल दल-दल में बदलती, नीम की जड़ में जा कटुता में ढलती, सागर में मिलकर खारी हो लवणाकर कहलाती, सर्प के मुख में जा हलाहल विष का रूप धारण करती है और वही जल की बूँद यदि स्वाति नक्षत्र का काल हो, सागर में तैरती सीप के मुख में जा मोती के रूप में परिवर्तित हो, झिलमिल-झिलमिल करती वही जलीय सत्ता समझी बेटा!

अनादिकाल से जीवन यूँ ही परिवर्तित होता आ रहा है। जैसी संगति मिलती है वैसी ही बुद्धि परिवर्तित होती है। जैसी बुद्धि होती है उसी के अनुसार आगे गति, दिशा मिलती जाती है।

४. स्वरातीत सरगम : आस्था से

इसलिए बेटा! मैंने जो कहा उसे आस्था से समझकर स्वीकार कर लेना। क्योंकि–

''...जीवन का
आस्था[१] से वास्ता[२] होने पर
रास्ता स्वयं, शास्ता[३] हो कर
सम्बोधित करता साधक को
साथी बन, साथ देता है।'' (पृ० ९)

जीवन में जब समीचीन श्रद्धा जागृत होती है तब वही श्रद्धा हमारे लिए दिशा निर्देशक, उपदेशक बनकर सदा साथ देती है। **आस्था के तारों पर ही साधना की अंगुलियाँ चलती हैं-साधक की,** फिर सफल जीवन में लौकिक स्वरों से अतीत/रहित एक अलग ही अपूर्व आत्मानंद की गूँज उठती है और जीवन परम आनन्द का अनुभव करता है, समझी बात बेटा!

तेरे जीवन में निश्चित ही उज्ज्वल भविष्य का, पवित्र सत्ता का कोई बिम्ब/रूप झलका है। तभी तूने अपने आपको छोटा माना है, अपने से अन्य प्रभु को श्रेष्ठ और बड़ा माना है, यह भी अभूतपूर्व घटना है।

असत्य को असत्य के रूप में जानना-पहचानना ही सत्य की खोज करना है बेटा! खाई में गिरे हुए पतित जीवन का अनुभव करना ही, उच्च शिखरों की उत्कृष्टता को प्राप्त करना है।

किन्तु बेटा, जिसे हमने श्रद्धा से स्वीकार किया, उस विषय को जीवन में/आचरण में उतारना, अनुभव में लाना सरल नहीं है। आस्था अनुभूति (Feeling) में ढले इसके लिए स्वयं को उत्साह के साथ, हर्ष पूर्वक (प्रसन्नता के साथ) साधना के साँचे में ढालना होगा अर्थात् तप, संयम, समता को अंगीकार करना होगा। क्योंकि पर्वत की तलहटी से भी शिखर का दर्शन तो हो सकता है किन्तु

''चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन

---

१. आस्था = श्रद्धा, २. वास्ता = सम्बन्ध, ३.शास्ता = उपदेशक, शासक

सम्भव नहीं है!" (पृ॰ १०)

शिखर को छूना चाहते हो तो, पुरुषार्थ पूर्वक ऊपर चढ़कर जाना होगा।

हाँ हाँ, यह बात मैं भी स्वीकारती हूँ कि बिना समीचीन श्रद्धा के सन्मार्ग का मिलना संभव नहीं। बिना जड़ के उपरिल भाग (तना, फल आदि) का होना, जैसे संभव नहीं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक् चारित्र का होना भी संभव नहीं। किन्तु क्या कभी जड़ में फल-फूल लगे हैं ? फल-फूल तो पेड़ के ऊपरी भाग में ही लगते हैं।

५. घाटियाँ ऐसी भी : साधना की

किन्तु बेटा सन्मार्ग पर चलना, जीवन में चारित्र को अंगीकार करना खेल मत समझना। भव-भव में जब पुरुषार्थ किया जाता है, चारित्र ग्रहण करने की भावना भायी जाती है तब कहीं जाकर यह मुक्ति का पथ मिलता है।

और यह भी समझ लेना होगा कि समझदार, दमदार (मजबूत, ताकतवर) व्यक्ति भी क्यों न हो, काई लगे पाषाण पर यदि पैर रखता है तो उसका पैर भी फिसलता ही है। फिर साधना के प्राथमिक चरण में, दृढ़ आस्थावान पुरुष भी क्यों न हो ? फिसलन की, पदच्युत होने की पूरी-पूरी सम्भावना बनी रहती है। कारण, इस आत्मा पर अनादिकालीन राग-द्वेष-मोहरूप विकृत (बुरे) परिणामों का संस्कार जो रहा।

प्राथमिक दशा ही नहीं, निरन्तर अभ्यास के बाद भी स्खलन (फिसलना, हटना) संभव है। जैसे प्रतिदिन रोटी बनाने वाले पाक शास्त्री की भी पहली रोटी लगभग कडी और जली-सी बनती है।

इसीलिए मेरी बात ध्यान से सुनो–

''आयास से डरना नहीं
आलस्य करना नहीं!'' (पृ० ११)

पुरुषार्थ, मेहनत से कभी भयभीत नहीं होना और ना ही प्रमाद (अच्छे कार्यों में उत्साह नहीं होना, आलस्य करना) करना। साधना पथ पर चलते-चलते कभी ऐसी चढ़ाई भी आ सकती है, जिसमें श्रेष्ठ समता-साधक भी विषमता (साम्य परिणामों से विपरीत अवस्था) को स्वीकार कर लेता है। पथिक सत्पथ से भटक जाता है, साधक दुख की अनुभूति करने लग जाता है, साधना पथ को छोड़ने का मन बना लेता है। फिर ऐसी दशा में समीचीन चारित्र रूपी चिड़िया उड़ जायेगी एवं क्रोध की बुढ़िया अपना जोर दिखाने लगेगी। असंयमित जीवन में तब अनर्थ ही अनर्थ शेष बचेगा। इसीलिए बेटा! सुनो–

''प्रतिकार की पारणा
छोड़नी होगी, बेटा!
अतिचार की धारणा
तोड़नी होगी, बेटा!'' (पृ० १२)

आस्था की आराधनास्वरूप साधना को स्वीकार करने के पहले ही बदले की भावना सदा के लिए मन से निकालनी होगी, पर कोई कितना भी कष्ट दे प्रतिकार नहीं, समता से स्वीकारना होगा। अतिचार यानी ग्रहण किए गये संकल्प में सदोषता का विचार भी मन में नहीं लाना होगा। अन्यथा कालान्तर में ये ही कारण साधना पथ को नष्ट करने में, संयमी जीवन को भ्रष्ट करने में निमित्त बन सकते हैं।

एक बात और कहनी है यदि साधना पथ पर चलते हुए अपनी बुद्धि और गति में विकास चाहती हो, तो इतना ध्यान रखना किसी भी सत्कार्य, त्याग-संयम को ग्रहण करने के लिए ज्यादा अनुकूलता की प्रतीक्षा नहीं करना। भाव बनते ही तद्रूप परिणत कर लेना, क्योंकि राग से लिप्त यह जीवन सदा अनुकूलता की ही चाह रखता है। किन्तु अनुकूलता की प्रतीक्षा करना सही-सही पुरुषार्थ नहीं है, इससे साधना की गति में मंदता आ सकती है/आती है। इसी प्रकार साधना करते समय यदि प्रतिकूलताएँ आएँ तो उसे स्वीकार करना, तत्त्व चिन्तन के माध्यम से समता धारण करना, क्योंकि प्रतिकूलता का प्रतिकार करना भी एक प्रकार से द्वेष भावों को ही जन्म देना/आमंत्रित करना है और प्रतिकार करने पर बुद्धि भी क्रोधादि कषायरूप विकृत परिणामों से मलिन हो जाती है।

साधना करते-करते कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि हम जितनी साधना

करना चाहते थे, नहीं कर पा रहे हैं। पर्याप्त प्रगति नहीं मिल पा रही है। तब साधना की चाह कम होने लगती है, धैर्य छूटने लगता है, साहस कमजोर पड़ने लगता है, मन ग्लानि से भर जाता है, किन्तु ध्यान रखना, यह सब श्रद्धालु पुरुष, जो पापों (जो दुख देते हैं, पतन की ओर ले जाते हैं, ऐसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह।) का सर्वथा त्याग करने वाला यमी हो, पाँच इन्द्रियों को वश में करने वाला दमी हो और निरन्तर संवेग और वैराग्य का सहारा ले मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करने वाला हो, उसके लिए ये अभिशाप नहीं किन्तु वरदान ही सिद्ध होते हैं। वह साधक और अधिक दुगुणे उत्साह के साथ पुरुषार्थ करने में जुट जाता है।

दही खट्टा हो अथवा मीठा, सही तरीके से मन्थन किया जाये तो उससे नवनीत का लाभ अवश्य ही होता है। इसी प्रकार अच्छी बुरी सभी परिस्थितियों में साधना का आनन्द लिया जा सकता है, यदि समीचीन पुरुषार्थ किया जाये तो ही। परिणाम यह निकला–

''संघर्षमय जीवन का
उपसंहार वह
नियमरूप से
हर्षमय होता है, धन्य!'' (पृ० १४)

जीवन अथवा साधना-पथ चाहे जितना भी संकटों में उलझा हो, किन्तु उसका समापन नियम रूप से प्रसन्नता, आनन्द को देने वाला होता है, क्योंकि दुख के बाद नियम से सुख आता है। इसीलिए बेटा! तुझे बार-बार याद दिला रही हूँ कि जीवन में सदा साधु-साध्वियों की आज्ञा पालन करना, उनकी बात टालना नहीं। ''पूत का लक्षण पालने में'' ये जो सूक्ति कही जाती है, उसका सही अर्थ अपने बड़े, गुरुजनों की आज्ञा पालने में ही पुत्र का सही लक्षण है, ना कि पालने अर्थात् झूले में। इतना कहकर माँ धरती मौन हो जाती है।

डॉ० भवानीप्रसाद मिश्र की सपाट बयानी, अज्ञेय का शब्द विन्यास, निराला की छान्दसिक छटा, पन्त का प्रकृति व्यवहार, महादेवी की मसृण गीतात्मकता, नागार्जुन का लोकस्पन्दन, केदारनाथ अग्रवाल की बतकही वृत्ति, मुक्तिबोध की फैंटेसी संरचना और धूमिल की तुक संगति आधुनिक काव्य में एक साथ देखनी हो तो वह 'मूकमाटी' में देखी जा सकती है।

प्रो० प्रेमशंकर रघुवंशी

सोपान २

चिंतन मनन में डूबी माटी : प्रभात का इंतजार

माटी ने सुना, धरती माँ का सम्बोधन और व्यक्त किया जो अनुभूत हुआ– मार्मिक कथन, कार्मिक व्यथन, धार्मिक मथन और चार्मिक वतन की बातें। माँ ने दिया धन्यवाद और निश्चिन्त होकर जीवन विकास की यात्रा हेतु दिए, कुछ सूत्र–कुम्भकार के प्रति समर्पण, उसकी शिल्प कला पर मात्र चितवन तथा अपनी शक्तियों को जानना।

माटी और धरती के बीच चली चर्चा–चिन्तन से दिन का समय व्यतीत हुआ। प्रभात के इंतजार में माटी को निद्रा नहीं आयी। प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई, अवसर का स्वागत माटी द्वारा, दुर्लभ दर्शनीय दृश्य दिखा सरिता तट का, माटी के चरणों में समर्पित फूल–मालाएँ, तट के करों में कलश, करुणा की उमड़न, ओस के कण, जोश के क्षण, रोष के मनों तथा दोष के कणों की स्थिति।

६. अनुभूतियाँ : माटी की

बहुत देर तक मौन पूर्वक माँ धरती की देशना (उपदेश) को सुनने के बाद अब माटी उपदेशामृत से भीगे भावों को व्यक्त करती है। आपकी अमृतमयी वाणी को सुन यह जीवन सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हो प्रभावित हुआ। अतीत (बीता हुआ काल) का दुख कुछ कम हुआ, सुख की झलक–सी मिली, कुछ नई अनुभूति हुई माँ।

अतीत में कभी सुनने को नहीं मिला, ऐसा आपका यह सम्बोधन बाहरी उपयोग (विचारधारा) और बाहरी जगत् से बहुत दूर अन्तरात्मा को छूता-सा लगा। हृदय को छूने वाला यह कथन है माँ!

पौद्गलिक कर्म और चेतन आत्मा के मिलने, मन-वचन-काय रूप विकृत योग एवं क्रोधादि कषाय रूप कलुषता के संयोग से शरीर के भीतर ही भीतर तीसरी वस्तु यानी सुख-दुख में कारणभूत शुभाशुभ कर्मों की रचना होती है, वह किसी दूरदर्शक यन्त्र (Telescope) अथवा सूक्ष्मदर्शी यन्त्र (Microscope) से पकड़ में नहीं आ पाती, अपितु सम्यग्दृष्टि यानी आस्थावान जीव की दूर दृष्टि में ही कार्मिक रचना पकड़ में आ सकती है। यह कर्म सम्बन्धी व्यथा है माँ!

कर्मों का आत्मा से जुड़ना और फिर स्व अर्थात् उपादान कारण, पर अर्थात् निमित्त कारण के वश से पृथक् होना–ये दोनों कार्य आत्मा की ममता अर्थात् मेरेपन का भाव और समता अर्थात् सुख-दुख, जीवन-मरण, लाभ-हानि इत्यादि प्रत्येक दशा में हर्ष-विषाद से रहित साम्य परिणति पर ही आधारित है। आपने सुनाया, मैंने सुना। अब धार्मिक चिन्तन का विषय है माँ!

आज कौन ऐसा व्यक्ति है जिसे आत्मा की सृजनात्मक शक्ति (मैं भी परमात्मा बन सकता हूँ) का आभास हो। चेतन पहले था, अभी है और आगे भी रहेगा-इस त्रैकालिक अस्तित्व का ज्ञान किसे है ? आत्म तत्त्व की चर्चा भी कौन करता है रुचि से, कौन सुनता है मन लगाकर ? इस आत्म तत्त्व की उपासना, आत्मतत्त्व की उपलब्धि हेतु पुरुषार्थ करने के लिए किसके पास समय है ? **भौतिकता में लीन, जड़ पदार्थों में सुख खोजने वाला, आत्म तत्त्व की श्रद्धा से रहित यह जीवन केवल चमड़े का बना हुआ आधारभूत शरीर मात्र है माँ!**

माटी के मुख से ग्रहण किये गये भावों को धरती माँ ने सुना और सहज ही बोल उठी वाह! धन्यवाद बेटा! मेरा उद्देश्य तुम्हें समझ में आ गया, तुम्हारे अन्तरंग को छू गया, अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। तुम्हारा जीवन अवश्य ही उन्नत बनेगा। कल प्रभात की बेला (वक्त) से तुम्हें अपनी जीवन-विकास-यात्रा का शुभारम्भ करना है। अब तुम्हें क्या करना होगा, सो बताती हूँ -

''प्रभात में कुम्भकार आयेगा
पतित से पावन बनने,
समर्पण-भाव-समेत
उसके सुखद चरणों में
प्रणिपात करना है तुम्हें,

अपनी यात्रा का
सूत्र-पात करना है तुम्हें!'' (पृ० १६)

कल सुबह कुम्भकार आयेगा, तुम्हारे पतित जीवन को उन्नति के शिखर तक पहुँचाने के लिए। श्रद्धा-समर्पण भावों से सहित उसके सुखदायी पावन चरणों में नमस्कार कर अपनी यात्रा का शुभारम्भ करना है तुम्हें। क्योंकि उसी के सान्निध्य में तुम्हारा जीवन स्वर्ण के समान बहुमूल्य बन प्रकाशित होगा। तुम्हें कुछ मेहनत नहीं करनी है। तुम्हें तो मात्र उसके उपाश्रम में रहकर शिल्पी की शिल्पकला को निश्चल होकर, मन लगाकर देखना होगा। पुरुषार्थ तो स्वयं शिल्पी करेगा।

तुम्हें जानना होगा कि तुम्हारे भीतर वह कौन-कौन-सी शक्तियाँ थीं/हैं, जो निज कारण से ही मृत-जैसी पड़ी थीं/हैं। अब उन शक्तियों की क्रम-क्रम से लहरों के समान होने वाले प्रकटीकरण को दिन-रात जानना होगा, समझना होगा बस!

७. प्रभात की प्रतीक्षा में : माटी

जीवन विकास की भावना से ओत-प्रोत माटी ने अपनी व्यथा धरती के सम्मुख कही। धरती माँ ने कुछ संकेत दिये, जिसे माटी ने ध्यान पूर्वक सुना, समझा और चिन्तन किया। चर्चा-परिचर्चा हुई और दिन का समय व्यतीत हुआ। चारों ओर अन्धकार छा गया। रात्रि का आगमन हुआ। धरती माँ की नींद लग गई। किन्तु माटी के लिए रात्रि लम्बी-सी लग रही है, क्योंकि माटी की आँखों में निद्रा का नामोनिशान नहीं है। वह जाग रही है। बार-बार करवटें ले रही है, प्रभात की प्रतीक्षा में।

आत्मोत्थान की भावना का फल और उपयोग की यह बात है कि नींद के दूर भग जाने पर भी दुख की नहीं, किन्तु सुख की अनुभूति हो रही है। माटी को रात भी प्रभात-सी लग रही है। सच ही है–

''दुःख की वेदना में
जब न्यूनता आती है
दुःख भी सुख-सा लगता है।
और यह
भावना का फल है–
उपयोग की बात...!'' (पृ० १८)

जब दुख की वेदना में कमी आती है तो हल्का हुआ दुख भी सुख जैसा लगता है। अन्तरंग परिणति (भीतरी परिणाम) की बात है।

रात्रि व्यतीत हुई और वह समय आ ही गया, जिस पर माटी टकटकी लगाकर देख रही थी–प्रभातकाल। माटी ने प्रातःकालीन अवसर का स्वागत किया और बोल उठी–मैंने अपने जीवन में कई प्रभात देखे, पर आज जैसा प्रभात अतीत में कभी नहीं दिखा। ऐसा लग रहा है, मानो आज का प्रभात मेरे जीवन की काली रात्रि की पीठ पर हल्की लाल स्याही से लिख रहा है कि आज यह तुम्हारी अन्तिम रात है, प्रथम प्रभात। यह तुम्हारा अन्तिम शरीर है और आगे की विशालता का प्रथम दर्शन।

और प्रसन्नता के साथ प्रभात उपहार के रूप में नवीन पत्तियों के हरे रंग की आभा घुली हरी साड़ी रात को भेंट करता है, जिसे पहनकर रात्रि जा रही है तथा मंद मुस्कान के साथ प्रभात को सम्मानित कर रही है, जैसे एक बहन भाई की भेंट स्वीकार करती हुई मुस्कराती है।

८. दुर्लभ दर्शनीय दृश्य

इधर सरिता में बहती हुई लहरें ऐसी लग रही हैं, मानो अपनी उज्ज्वलता से चाँदी की चमक को भी तिरस्कृत कर रही हों। अनेक फूलों की अनगिन मालाएँ तैरते–तैरते सरिता तट पर इकट्ठी हुईं ऐसी प्रतीत हो रही हैं, मानो आज के इस अवसर पर सरिता ने ही इन्हें माटी के विकासशील पावन चरणों में समर्पित किया

हो।

सरिता तट पर एकत्रित झाग ऐसा लग रहा है, मानो जिसमें से बाहर दही छलक (उछल) रहा हो ऐसे मंगलोत्पादक, प्रसन्न मुद्रा वाले कलशों को अपने हाथों में ले सरिता तट खड़े हैं। यह दुर्लभ दर्शनीय दृश्य है।

ओस बिन्दुओं के बहाने, प्रसन्नता के साथ उमड़ती हुई नदी के समान, धरती माँ के हृदय में करुणा उमड़ रही है और धरती के अंग-अंग अपूर्व आनन्दित होते हुए स्वाभाविक नृत्य कर रहे हैं।

इस पावन अवसर पर धरती पर बिखरे ओस के कणों में अत्यधिक उत्साह, अत्यधिक प्रसन्नता उत्पन्न हो रही है। जोशीले क्षणों में तेज प्रकाश और निरन्तर विकास, संतोष दिखाई पड़ रहा है। वहीं रोष भाव के मन में उदासी छा गई है, क्रोध, वैर आदि भाव सब बेहोश से, मृतक सम लग रहे हैं तथा दोष के कण तड़पते हुए कष्ट का अनुभव करते हुए समाप्त हो रहे हैं। अतः गुणों का खजाना यहाँ दिखाई पड़ रहा है।

'मूकमाटी' ग्रन्थ में तो मात्र आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों को स्थान दिया गया है। सांसारिक महाकाव्यों में बुद्धि व्यायाम की अपेक्षा रहती है, 'मूकमाटी' को समझने के लिए आत्मसाधित अलौकिक अनुभव अनिवार्य है; सांसारिक महाकाव्य भव-पोषक होते हैं, 'मूकमाटी' भवनाशिनी है; सांसारिक महाकाव्य प्रवृत्तिपरक होते हैं, 'मूकमाटी' है निवृत्ति नियामक; एक का उद्देश्य संसार है, 'मूकमाटी' का मोक्ष; एक में क्षणिक सुखों की अनन्त प्रेरणा है, 'मूकमाटी' में आत्मा प्राप्ति के सैद्धान्तिक उपाय।

डॉ॰ फैयाज अली खाँ

❑ ❑ ❑

कवि ने अत्यन्त कौशल के साथ अध्यात्म तत्त्व और कवित्व का सुन्दर समन्वय किया है। दर्शनशास्त्र तथा काव्यशास्त्र दोनों में निष्णात कवि की अभिव्यंजना शैली प्रौढ़ एवं अर्थगर्भित है। भाषा पुष्ट और अलंकृत है।

डॉ. नगेन्द्र

सोपान ३

शिल्पी चरण माटी की ओर : उपाश्रम में माटी

यात्रा की शुरूआत होनी है। शिल्पी का माटी को लाने अपने उपाश्रम से निकलना, माटी का स्पंदन, संप्रेषण का स्वरूप, प्राथमिक दशा में अनुभूति, मंगल घटना का संकेत, शिल्पी का सरिता तट के निकट घाटी में आना, कुशल शिल्पी की शिल्प कला, कुम्भकार नाम की सार्थकता।

माटी खोदने के पहले ओंकार को नमन, अहंकार का वमन, मुड़न–जुड़न की क्रिया। खुदती माटी को देख शंका–प्रतिशंका में उलझा जीवन। बोरी में भरी माटी की शालीनता नवीन युग को तौलती–सी। माटी के प्रति शिल्पी की जिज्ञासा, माटी द्वारा समाधान, पश्चात् माटी को पीठ पर लाद गदहे द्वारा उपाश्रम की ओर ले जाने का उपक्रम।

बीच में माटी की अनुकम्पा, दया का सम्यक् परिचय। दया और वासना में अन्तर। गदहे की प्रार्थना प्रभु से, अनहोनी घटना, परस्पर उपकार की भावना पूर्ण हुई और माटी का उपाश्रम में प्रवेश। उपाश्रम के परिसर की विशेषता।

९. मंगलाचरण : यात्रा का

माटी की विकास यात्रा का आज मंगलाचरण है। मार्ग के एक ओर पथ के प्रारम्भ पर पथिक यानी कुम्भकार का पहला कदम पड़ता है तभी दूसरी ओर छोर पर पड़ी माटी के तन–मन में कुछ हलचल–सी मचती है। स्पन्दन–सा अनुभूत होता है। कुम्भकार की अहिंसक पगतली से मानो संप्रेषण प्रेषित हुआ हो कि मैं तुम्हें लेने आ रहा हूँ। इधर निराशता में डूबी, किन्तु पथिक की प्रतीक्षा में भवों–भवों से सुप्त (सोई हुई) सफलता रूपी स्त्री सविनय खड़ी हो गई मानो कुम्भकार का स्वागत कर रही हो।

"विचारों के ऐक्य से
आचारों के साम्य से
सम्प्रेषण में
निखार आता है,
वरना
विकार आता है!" (पृ० २२)

संप्रेषक और जिसके प्रति संप्रेषण किया जा रहा है उसके विचारों की एकता और आचरण की समानता होने पर ही संप्रेषण सफल होता है, अन्यथा नहीं। यहाँ माटी के मन में अपने उत्थान का भाव है और शिल्पी के मन में माटी को घट बनाने का भाव। यही विचारों की एकता है तथा दोनों का आचरण सात्त्विक, अहिंसक है। दोनों सरल परिणामी हैं। यह आचरण की साम्यता है तभी तो बिजली के समान संप्रेषण माटी तक पहुँच गया है।

नदी जैसे दोनों तटों के बन्धन में रहकर निरन्तर अपने लक्ष्य सागर की ओर बहती है, उसी प्रकार आत्मा के परिणाम/ उपयोग का बिना किसी भटकन के सीधे लक्ष्य की ओर बढ़ना/जाना ही सही-सही संप्रेषण है।

हाँ! संप्रेषण करते समय इतना जरूर ध्यान रखना चाहिए कि जिसके प्रति संप्रेषण किया जा रहा है ऐसे व्यक्ति के प्रति भूलकर भी अधिकार का भाव, स्वामीपन नहीं आना चाहिए। मैं व्यक्ति के लिए सहयोग करूँ, केवल इतना ही भाव आना चाहिए। यही संप्रेषण का सदुपयोग है। ऐसे भावों के साथ ही संप्रेषण सफल होता है। अन्यथा आधिकारिक भावों के साथ किया संप्रेषण दुरुपयोगी होता हुआ असफल होता है।

संप्रेषण वह खाद है, जिसके द्वारा सद्भावों का लघु पौधा भी पालित-पोषित हो वृद्धि को प्राप्त होता है तथा संप्रेषण वह स्वाद भी है जिसके सेवन से, उपयोग से तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान विकसित हो, पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होता है, लेकिन यह बात जरूर है कि प्रारम्भिक दशा में संप्रेषण का साधन बोझ जैसा, सारहीन लगता है। करने वाले के मन में कुछ-कुछ तनाव की अनुभूति भी होती है, क्योंकि उपयोग को एकाग्र करना सरल नहीं)। परन्तु कुछ अभ्यास और समय के बाद की स्थिति प्राथमिक दशा से उल्टी होती है। जैसे कुशल लेखक भी जब नई निब वाली लेखनी लेकर लिखता है तो उसे प्रारम्भ में खुरदरापन अनुभव में आता है, लिखने में कष्ट का अनुभव होता है। किन्तु लिखते-लिखते जब निब की घिसाई हो जाती है, तब पूर्व की अपेक्षा लेखन में सफाई आती जाती है। फिर विचारों के पीछे-पीछे लिखने वाली लेखनी, विचारों के साथ-साथ ही लिखने वाली सहचरी हो जाती है और अन्त-अन्त में तो लेखनी जल में तैरती-सी संवेदित होती (लगती) है। यह सहज प्रक्रिया ही है, ऐसा समझना चाहिए।

१०. भोर में हुआ विभोर : मानस

माटी को मांगलिक कार्य (कुम्भकार का आना, माटी को उठाकर अपने उपाश्रम में ले जाना) का संकेत मिला–सामने से बड़ी-बड़ी खुली आँखों वाला

एक हिरण, जो कि सोया हुआ था जागृत हुआ, बड़ी फुर्ति के साथ विवेक पूर्वक खेत से खेत लाँघता हुआ पथ के उस पार बहुत दूर जा विलीन हो जाता है। इस दृश्य को देख माटी को एक सूक्ति याद आयी–

''बायें हिरण दायें जाय, लंका जीत राम घर आय।''

अर्थात् सफलता निश्चित है।

और वह भोली माटी, जो टकटकी लगाकर घाटी की ओर निहार रही थी, उसे बहुत दूर घाटी में कोई व्यक्ति दिखा। विचारती है वह। कौन है वह मुझसे परिचित अथवा अपरिचित...? किन्तु वे श्रमिक चरण मेरी ओर ही आ रहे हैं, देखकर माटी का मन प्रसन्नता से भर गया। सुबह-सुबह ही उसका मन आनन्दित हो उठा।

धीरे-धीरे वे चरण पास और अधिक पास ही आ गये। जैसे–जैसे शिल्पी चरण पास आते जा रहे हैं, फैलाव घट रहा है, बाहरी दृश्य सिमट-सिमट कर घना (संकुचित) होता जा रहा है। इसीलिए विशाल आकाशीय दृश्य भी लगभग अस्तित्व हीन-सा हो रहा है। ठीक ही है, निकट स्थित इष्ट (जो प्रयोजवान हो।) पर जब दृष्टि टिक जाती है तो अन्य सभी वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं।

११. अविकल्पी : कुशल शिल्पी

लो धन्य! अब तो पूरा का पूरा एक चेहरा सामने प्रकट हुआ है। यह चेहरा आत्मीय भावों से तथा अदमनीय (जिसको दबाया न जा सके) उत्साह से भरा हुआ है। यह एक कुशल शिल्पी है, जिसका माथा अनुभवों की वृद्धता को लिए, विस्तृत भाग्य का भण्डार है। अज्ञानता से घिरा हुआ नहीं, और ना ही इस माथे पर तनाव झलकता है।

"अविकल्पी है वह
दृढ़-संकल्पी मानव
अर्थहीन जल्पन
अत्यल्प भी जिसे
रुचता नहीं कभी!" (पृ० २७)

दृढ़ संकल्प से बँधा हुआ यह मानव समस्त विकल्पों से रहित है। व्यर्थ बोलना उसे थोड़ा-सा भी अच्छा नहीं लगता।

यह शिल्पी अपनी शिल्पकला से कण-कण में बिखरी माटी को अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर रूप प्रदान करता है। अपने शिल्प की वजह से वह सदा चोरी के दोष से मुक्त रहता है, इसलिए तो सरकार उससे कर नहीं माँगती।

यह शिल्प धन का अपव्यय तो दूर, धन का व्यय भी नहीं करता अपितु निर्धन शिल्पी को धनवान बना देता है। युग के प्रारम्भ से आज तक इसने अपनी परम्परा को कलंकित नहीं किया है। बिना दाग है यह शिल्पकला और कुशल है यह शिल्पी।

तभी तो युग के आदि में इसका नाम कुम्भकार रखा। 'कु' यानी धरती और 'भ' यानी भाग्य, जो धरती का भाग्य विधाता हो वही 'कुम्भकार' कहलाता है। निश्चय[१] से प्रत्येक पदार्थ अपना कर्ता स्वयं ही होता है। फिर भी व्यवहार[२] से उपचारवशात् निमित्त को स्वीकारते हुए शिल्पी का नाम 'कुम्भकार' हुआ सो ठीक ही है।

१२. वमन अहं का : नमन से पहले

सरिता तट पर कुम्भकार आ चुका है और अब माटी को उठाकर अपने उपाश्रम तक ले जाना है अतः धरा से माटी को उठाने के पूर्व शिल्पी का उपक्रम

१. निश्चय = वह दृष्टि जो उपादान यानी अंतरंग कारण को स्वीकारती है।

२. व्यवहार = वह दृष्टि जो निमित्त यानी बहिरंग कारण को स्वीकारती है।

(प्रारम्भ की तैयारी) होता है। माटी को कुदाली से खोदना है। इस कार्य को प्रारम्भ करने से पहले शिल्पी ने पञ्च परमेष्ठी का वाचक, बीजाक्षर (बीज मंत्र का पहला अक्षर) मंत्र स्वरूप ओंकार (ॐ)[१] को नमन किया तथा नमन क्रिया के पूर्व ही अहंकार, अभिमान को छोड़ दिया। नमन के साथ ही स्वयं के आत्म परिणामों की निर्मलता बनी रहे, अतः–

"कर्त्तृत्व-बुद्धि से
मुड़ गया है वह
और
कर्तव्य-बुद्धि से
जुड़ गया है वह।" (पृ० २८-२९)

स्वयं के कर्तापन का त्याग कर, कर्त्तव्य भावों को स्वीकार करता है वह शिल्पी। सज्जन पुरुषों, आत्म हितार्थी भव्य आर्यों के लिए यह मुड़न-जुड़न की क्रिया आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य ही है। जब तक कार्य सम्पन्न न हो जाये। क्योंकि संसार में दुख का मूल कारण कर्तापन (मैं अन्य का अच्छा-बुरा कर सकता हूँ/करता हूँ यह परिणाम) ही बनता है। इसी कारण व्यक्ति पापों को बाँधता हुआ दुखी होता है। इसीलिए कर्तापन का त्याग कर कर्त्तव्य (करने योग्य था सो किया) बुद्धि से कार्य करें एवं हर्ष-विषाद से बचें।

१. अरिहंत, सिद्ध–अशरीरी, आचार्य, उपाध्याय, साधु–मुनि। सभी के प्रथम अक्षर के संयोग से अ+अ+आ+उ+म=ओम् (ॐ)।

शिल्पी माटी को खोदना प्रारम्भ करता है कि यह जीवन जो बिना रुके, बिना थके आगे बढ़ता ही जा रहा है, इस दृश्य को देख रहा है। क्रूर कुदाली से माटी खोदी जा रही है, स्वयं ही शंका-प्रतिशंका करता है कि यह सामने कौन-सा कर्त्तव्य किया जा रहा है—समझ नहीं आ रहा कौन किसका निर्देशक है, किस उद्देश्य से यह किया जा रहा है। माटी के माथे पर मार पड़ रही है, माटी की मृदुता में कुदाली की कठोरता लीन हुई जा रही है। क्या माटी की दया ने ही कुदाली की अदया बुलाई है ? क्या अदया (क्रूरता) और दया के बीच घनी मित्रता है ? यदि नहीं, तो माटी के मुख से रोने की आवाज और आँखों से आँसू क्यों नहीं आ रहे ? इस क्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप मुख पर थोड़ा-सा भी क्रोध नहीं। कहीं यह राजसता की भाँति कुछ रहस्य तो नहीं कि भय या लोभादि के कारण दुख व्यक्त ना किया जा रहा हो। लगता है कुछ विशेष परिस्थितियों और लोगों को छोड़कर बाहरी क्रियाओं से भीतर की परिणति, भावों का सही-सही अंदाज नहीं लगाया जा सकता, फिर ऐसी स्थिति में गलत निर्णय देना भी उचित नहीं है।

जब कोई भव्यात्मा सच्चे सुख के साधन रूप मोक्षमार्ग पर कदम बढ़ाता है, तब उसे केशलोंच करना, एक बार भोजन करना, पैदल चलना, गर्मी-सर्दी आदि के कष्टों को सहन करना पड़ता है, समीचीन आस्था और वैराग्य होने पर वह समता पूर्वक सब कुछ सहता चला जाता है। इधर सामान्य व्यक्ति (मार्ग से अपरिचित) यह सब देखकर आश्चर्यचकित होता

हुआ विचार करता है कि यह कैसा सुख प्राप्ति का मार्ग है ? यहाँ तो कष्ट ही कष्ट दिख रहे हैं।

१३. प्यारी माटी : प्राचीना परिपाटी

इधर माटी खोदने की क्रिया पूर्ण हुई और शिल्पी उसे दोनों छोरों से बन्द, किन्तु बीच में एक तरफ से खुली (खुरजी) बोरी में अपने दोनों हाथों से खुदी माटी भर रहा है। पूरी भरी हुई बोरी में से ऊपर के ओर की भोली माटी ऐसी लग रही है, मानो सुन्दर साड़ी और वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, लज्जा (शर्म, मर्यादा) का अनुभव करने वाली, लघु उदर (पेट) वाली, नव विवाहिता स्त्री घूँघट में से बाहर की ओर ही झाँक रही हो।

''सतियों को भी
यतियों को भी प्यारी है
यही प्राचीना परिपाटी।
इसके सामने
बन्धन-विरहित-शीला
नूतन-नवीना
इस युग की जीवन-लीला
कीमत कम पाती है।'' (पृ० ३१)

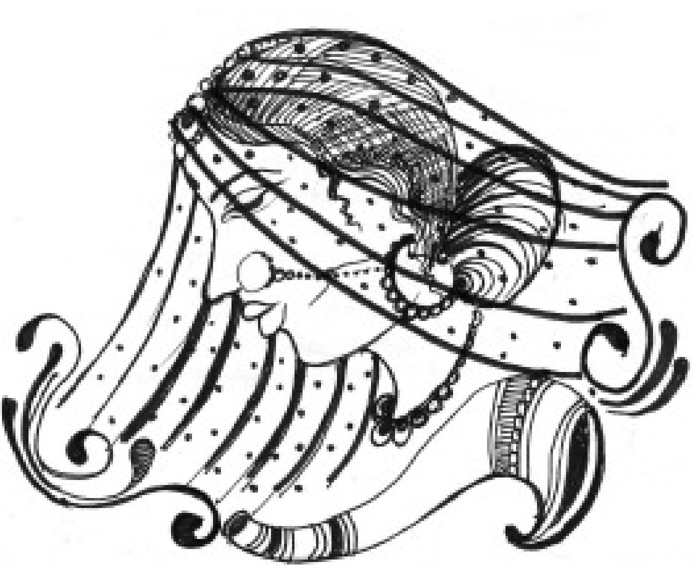

यह घूँघट और आवरण की परम्परा ऋषि-मुनियों और साध्वियों को भी प्रिय है, क्योंकि इस मर्यादा के कारण ही जीवन सात्त्विक और उन्नत बनता हुआ सम्मान पाता है। किन्तु वर्तमान युग में लौकिक मर्यादाओं एवं लज्जा को छोड़ आधुनिकता और फैशन में डूबी नवीन जीवन लीला, उस प्राचीन परम्परा के सामने कुछ भी मूल्य नहीं पाती है।

सात्त्विक माटी के गालों में छेद-से दिख रहे थे, जिसे देखकर शिल्पी विचारता है कि क्या कारण हो सकता है इन छेदों का ? और स्वयं ही माटी से पूछता है-हे! सुन्दर आचरण वाली माटी! तुम्हारे गालों में छेद क्यों है ? कारण जानना चाहता हूँ। यदि कोई बाधा ना हो तो बताने का प्रयास करोगी।

१४. सात्त्विक : वास्तविक जीवन

शिल्पी की शंका सुनकर माटी अपने अतीत जीवन की ओर लौट जाती है, उत्तर के रूप में कुछ नहीं कह पाती, केवल लंबी श्वास लेकर छोड़ देती है। इस क्रिया से शिल्पी का संदेह कुछ समाप्त-सा हुआ, माटी की सात्त्विकता पर विश्वास हुआ किन्तु फिर भी सही-सही कारण ज्ञात न होने से जिज्ञासा बनी रही, जिसे माटी ने समझ लिया और अव्यक्त भावों को प्रकट करने हेतु माटी शब्दों का सहारा ले, कुछ कहती है शिल्पी से-

''अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;
कोठी की नहीं/कुटिया की बात है।'' (पृ० ३२)

अमीरों की हवेलियों में नहीं किन्तु गरीबों की झोपड़ियों में वर्षाकाल में टपकती बूँदों द्वारा छेद पड़ जाते हैं। फिर तो मेरे इस जीवन में सदा रोना ही रोना

हुआ है। इन दीन-हीन आँखों से निरन्तर अश्रु-धारा बहती रही है, ऐसी दशा में इन गालों का सछिद्र होना स्वाभाविक ही है और फिर प्यार और पीड़ा के कारण हुए घावों में अन्तर भी तो होता है ना! राग और वैराग्य के भाव एक जैसे होते हैं क्या शिल्पी जी ?

माटी की जीवन गाथा, माटी के मुख से सुन शिल्पी बोल उठा-'सब कुछ सहना, कुछ ना कहना वास्तविक जीवन यही है धन्य! और यह भी एक अकाट्य नियम है-

''अति के बिना
इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं
और
इति के बिना
अथ का दर्शन असम्भव!'' (पृ० ३३)

इसका अर्थ यह हुआ कि जब दुख अति हो जाये तो समझना दुख समाप्त होने को है और दुख का समापन ही सुख का मंगलाचरण है।'

१५. सहयोगी साथी : शिल्पी का

कुछ देर तक शिल्पी ने माटी को सांत्वना दी, फिर उसने अपने साथी को आमंत्रित किया, वह साथी है-गदहा यानी गधा, जो कि शिल्पी का सहयोग करने के बदले में कुछ वेतन (धन) नहीं लेता, किन्तु शरीर चलाने के लिए कुछ खाने-पीने को सामग्री अवश्य लेता है। जिसके गले में रस्सी नहीं है और न ही पैरों में बन्धन, घाटी में घूम रहा था। बंधन उसे रुचता नहीं, बँधता है तो मात्र स्वामी की आज्ञा से, इंतजार करता है स्वामी की आज्ञा का। शिल्पी ने माटी से भरी बोरी उसकी पीठ पर लाद दी और संकेत किया चलो उपाश्रम की ओर। गधा चल पड़ा है उपाश्रम की ओर अपनी पुष्ट पीठ पर माटी को लेकर।

गदहे की पीठ पर बैठकर अपदा (पैर रहित) माटी कुम्भकार के उपाश्रम की ओर जा रही है कि बीच रास्ते में माटी की दृष्टि पड़ती है गदहे की पीठ पर और उसका हृदय अनुकम्पा से भयभीत हो हिल उठा, कारण रूखी बोरी की रगड़ से गदहे की पीठ छिल रही थी, जिससे गदहे को पीड़ा का अनुभव हो रहा था।

अनुकम्पा यानी दूसरों के दुख को देखकर हृदय कँप जाना, दुखी होना, इस अनुभूति के लिए मात्र क्षेत्रीय निकटता की ही नहीं, किन्तु भावों की निकटता भी अनिवार्य है। तभी तो यहाँ माटी के मन में करुणा भाव, अपनापन उत्पन्न हो रहा है। यहाँ मृत नहीं किन्तु चेतना की जागृत परम्परा दिख रही है।

गदहे की पीड़ा दूर हो इस भावना का यह परिणाम निकला कि तन की दूरी को दूर करती, बोरी में से छन-छन कर माटी करुणा रस से भीगी, गदहे की पीठ पर मलहम बनकर लग रही है जिससे उस स्थान (पीठ और बोरी की रगड़ वाला) का रूखापन भी मुलायम पड़ गया और गदहे को पीड़ा से राहत मिली, किन्तु इतने पर भी माटी उदास है दूसरों का सहारा ले यात्रा करने को मना कर रही है।

१६. भावना की बात

माटी की इस उदासी का कारण यह है कि वह जान रही है कि इस छिलन और जलन में निमित्त कारण तो मैं ही हूँ, पश्चाताप की आग में झुलस रही है। तभी माटी के भीतर (पलने वाली, वृद्धि को प्राप्त हुई) अनुकम्पा रोने लगी, उसकी आँखों से निकलने वाले आँसू और देह के पसीने ने बाहर आ पूरी बोरी को गीला कर दिया, जिससे पूरी बोरी मुलायम हो गई।

इधर दूसरी ओर गदहे का अन्तःकरण भी दया से भीगा हुआ बाहर आ, भावना भाता हुआ प्रभु से प्रार्थना करता है कि मेरा गदहा नाम सार्थक हो प्रभो! और मैं सबके रोगों को नष्ट करने वाला बनूँ। इसके सिवा मेरी और कोई इच्छा नहीं है। इधर अनहोनी घटना घटती है माटी को अनुभव हुआ कि उसके छिद्र सहित गाल, घावहीन हो धुल गये। यह सब भावना का फल है।

गदहे और माटी की अनुकम्पा यहाँ एक जैसी लग रही है कम-ज्यादा नहीं, एक साथ उत्पन्न हुई दो बहनों-सी, छोटी-बड़ी नहीं। ''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' यह सूत्र यहाँ सार्थक हुआ। सब कुछ यहाँ जीवन्त है जीवन! चिरंजीवन[१]!! संजीवन[२]!!!

इतना होने के बाद भी माटी की अनुकम्पा अपनी लघुता व्यक्त करती हुई श्वास को शमन कर, अपने भार को हल्का बनाती हुई प्रतीक्षारत उपाश्रम की ओर ही देख रही है। ऐसा लगता है मानो किसी राजा की रानी चाँदी की पालकी में बैठी यात्रा कर रही है, किन्तु ऊबी-सी, लज्जा को धारण करती रनवास की ओर देख रही है।

इन्हीं प्रसंगों के बीच दया भावों पर भी प्रकाश डाला गया। अनुकम्पा और दया के विषय में यह कहना उचित होगा कि जिसकी आँखें करुणामयी हृदय को

---

१. चिरंजीवन = बहुत समय तक जीवित रहने वाला।

२. संजीवन = जीवन शक्ति उत्पन्न करने या देने वाला।

धारण करने वाली हैं। उन आँखों में कोई चेतन हो या अचेतन, दयालु हो अथवा क्रूर, सभी के प्रति दिन-रात, प्रतिसमय दया का भाव पैदा होता ही है।

''दया का होना ही
जीव-विज्ञान का
सम्यक् परिचय है।'' (पृ० ३७)

मन में प्राणि-मात्र के प्रति दया के परिणाम होना ही जीव सम्बन्धी सही जानकारी का परिचय, उपयोग है, किन्तु पञ्चेन्द्रिय के विषय-भोगों में लिप्त रहने वाला स्वार्थी, सदा विषय-कषायों, भोगों की पूर्ति में ही लगा रहता है उसके हृदय में पर के प्रति दया कहाँ ?

१७. क्या करुणा ? क्या वासना ?

दूसरों पर दया करना, अपने स्वरूप–आत्मध्यान को छोड़ पर के उपकार में लगना, मोह-अज्ञानता का फल है। प्रायः अध्यात्म से दूर जैसा लगता है, ऐसी एकान्त धारणा नहीं बनानी चाहिए। ऐसी धारणा बनाने से अध्यात्म ज्ञान का दुरुपयोग तथा अपमान ही माना जायेगा, क्योंकि जब दूसरों पर दया करते हैं तो अपनी भी याद आती है, गौण मुख्यता भले ही हो। स्व के साथ पर का और पर के साथ स्व का ज्ञान होता ही है। जैसे चन्द्रमा को देखते हैं तो नीला आकाश दिखता है और यह भी सत्य है–

''पर की दया करने से
स्व की याद आती है
और
स्व की याद ही
स्व-दया है
विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या...द द...या...।'' (पृ० ३८)

साथ ही साथ इतना भी जरूर याद रखना होगा कि स्वयं अपने जीवन की सुरक्षा करने में, पञ्चेन्द्रिय के विषयों की पूर्ति में लगे रहना वासना है, वासना का कारण मोह है। **वासना भयंकर अंगार के समान है जो जीवन को पूरी तरह जलाती है, नष्ट कर देती है।** दूसरों पर उपकार करना, उनका दुख दूर करना, करुणा भाव होना दया है। दया जब विकसित होती जाती है तो मोक्ष देने वाली बनती है, दया शुभ को करने वाली, मानव जीवन का शृंगार है।

कुछ लोग आंशिक (थोड़ी-बहुत) दया-करुणा को मोह का अंश (हिस्सा-टुकड़ा) कहते हैं, किन्तु ऐसा नहीं, दया करना मोह का आंशिक ध्वंस (नष्ट होना) है अर्थात् जब मोह थोड़ा कम होता है तभी दया-करुणा के भाव मन में पैदा होते हैं, अन्यथा क्रूरता बनी रहती है।

वासना, जड़ स्वभावी शरीर के आसपास ही भटकती रहती है, किन्तु दया, संवेदनशील चेतना का परिणाम, सुख रूपी अमृत का आवास तथा अनन्त है। करुणावान के जीवन में ही समता का विकास होता है।

इतना सब जानने के बाद भी कौन समझदार पुरुष होगा, जो कहेगा कि करुणा, वासना का ही रूप है, करुणा का सम्बन्ध वासना से है। मद और अज्ञान में अन्धा हुआ, विषयों का दास बना, इन्द्रियों का नौकर और मन का गुलाम होगा जो वही कह सकता है और कोई नहीं। इस बात को हम भी मानते हैं-

''प्रति पदार्थ
अपने प्रति
कारक ही होता है,
परन्तु
पर के प्रति
उपकारक भी हो सकता है।'' (पृ० ३९-४०)

प्रत्येक पदार्थ अपने कार्य, अपने परिणामों का ही मुख्य रूप से करने वाला

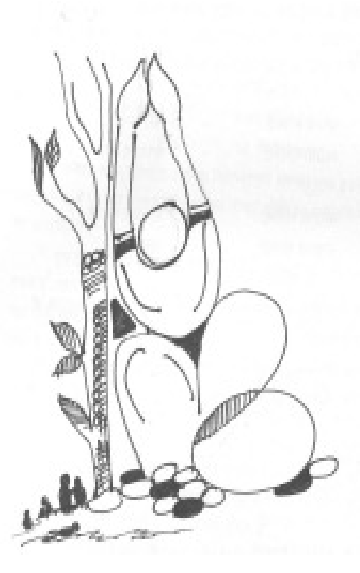

होता है। परन्तु वह दूसरों का उपकार करने वाला भी तो हो सकता है। अपने प्रति करण यानी साधन जो बना है वह दूसरों के लिए उपकरण यानी सहयोगी साधन भी तो बन सकता है।

१८. शरण : गुरु चरण की

सरिता तट की पतित माटी उपाश्रम में पहुँच गई है। यहाँ उसे मिला पूर्ण धार्मिक वातावरण, माटी को प्रथम बार ही हुआ उपाश्रम का दर्शन। यहाँ पर रात-दिन जोरदार मेहनत की जाती है, यहाँ मात्र उपदेश ही नहीं किन्तु चारित्र का भी पालन कराया जाता है। अतः योग-शाला भी है और प्रयोगशाला भी, बहुत अच्छी। इस शाला में स्वयं शिल्पी क्षण-प्रतिक्षण उपस्थित रहकर शिक्षण और प्रशिक्षण (सैद्धान्तिक और प्रायोगिक ज्ञान) देता है। जिसका असर मात्र ऊपर ही ऊपर नहीं अपितु सीधा भीतरी जीवन पर पड़ता है।

यहाँ मात्र किसी तरह जीवन बिताना नहीं, किन्तु उज्ज्वल भविष्य हेतु कुछ नया कार्य-निर्माण करना सिखाया जाता है, इतिहास इस बात का साक्षी है।

यहाँ पर आकर नीचे मुख करके रहने वाला पतित जीवन भी, ऊर्ध्वमुखी हो उन्नति को प्राप्त करता है। संसार में हारा हुआ बेसहारा जीवन भी दूसरों को सहारा देने वाला बन जाता है। यह वह पवित्र क्षेत्र है जिसके दर्शन से दर्शनार्थी भी दिशाबोध पा जाते हैं। यहाँ पर आने से सदियों से उलझी समस्याएँ भी क्षण मात्र में सुलझ जाती हैं। संस्कार पाने के इच्छुक, यहाँ पर बिना याचना के ही सरल, आनन्ददायी भारतीय संस्कृति के संकेत, संस्कार पा जाते हैं। **असि**—अस्त्र, शस्त्र को धारण करने वाले क्षत्रिय; **मषि**—लेखन करने वाले लिपिक आदि, **कृषि**—खेती कार्य द्वारा आजीविका चलाने वाले कृषक और **ऋषि**—त्यागी, तपस्वी, ऋद्धिधारी (पुरुष आदि को भी कुछ ऐसे सूत्र यहाँ मिलते हैं, जिससे वे निस्वार्थी साधक भी ऋषि प्रणीत आर्ष परम्परा यानी समीचीन निर्दोष मोक्षमार्ग प्राप्त कर लेते हैं।)

विशेष—उपाश्रम प्रतीक है गुरु-चरण-सान्निध्य का। भव्य जीव गुरु का सान्निध्य पाकर अपने पतित दुखी जीवन को, गुरु-निर्देशन में साधना करता हुआ उन्नत सुखी बना लेता है। क्षण भर की गुरु-संगति से पुरुरवा भील के जीव ने सौधर्म स्वर्ग के वैभव को प्राप्त किया और परम्परा से तीर्थंकर महावीर बना। दर-दर की ठोकर खाने वाला, बेसहारा मृगसेन धीवर का जीव सोमदत्त राजा बन दूसरों को सहारा देने वाला बना। दर्शनार्थी पायप्पा आचार्य श्री शान्तिसागरजी के दर्शन मात्र से प्रभावित हो, मोक्षमार्ग के पथिक बन आचार्य पायसागरजी के रूप में पूज्य बने।

भव-भव की मिथ्या धारणा, अज्ञान भी गुरु सान्निध्य में दूर हो जाता है, चक्रवर्ती वज्रनाभि ने गुरु मुख से संसार, शरीर, भोगों के यथार्थ स्वरूप को जान पञ्च महाव्रत अंगीकार किए। पशु-पक्षी आदि प्राणी मूक होकर भी गुरु कृपा पा, संयम और सल्लेखना जैसे व्रतों को धारण करते हैं। हाथी, शेर, सर्प, बैल, सूकर आदि के उदाहरण आगम में मिलते हैं। गृहस्थों और साधुओं दोनों को गुरु-सान्निध्य से समीचीन मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। आदर्श गृहस्थ सेठ सुदर्शन, विजय सेठ-विजया सेठानी आदि का जीवन-दर्शन पुराण ग्रन्थों में प्रसिद्ध है।

मूकमाटी के चार खण्ड

प्रभाकर माचवे : आचार्यश्री यह बताइए कि इसमें जो चार खण्ड आपने रखे हैं, इसकी भावना आपके मन में कहाँ से आई ?

आचार्य श्री : मैंने पहले चार खण्ड नहीं बनाए। पहले तो धाराप्रवाह आद्योपांत ही लिख गया। बाद में महसूस हुआ कि यह पाठकों के लिए असुविधाजनक हो सकता है, फलतः कोई काट-छाँट तो नहीं की, किन्तु प्रसंगों को लेकर भिन्न-भिन्न शीर्षक अवश्य रचे। अब इनको (शीर्षकों को) निकाल भी देते हैं तो भी इसकी निरन्तरता भंग नहीं होती, धार नहीं टूटती। वह अविरुद्ध बनी रहती है। साथ ही यदि भिन्न-भिन्न शीर्षक रख भी देते हैं तो पाठक थोड़ा विश्राम जैसे अनुभव कर लेता है।

'मूकमाटी' केवल एक श्रेष्ठतम साहित्यिक कृति ही नहीं है अपितु उपनिषदों की श्रृंखला में यह एक और नया उपनिषद् है 'मृत्तिकोपनिषद्'।

आनन्द बल्लभ शर्मा 'सरोज'

सोपान ४
कंकरों की कमी : मिला माटी से मंत्र

शिल्पी द्वारा माटी को छाना जाता है नीचे गिरी मृदु माटी का स्पर्श कर प्रसन्न होता शिल्पी, किन्तु माटी से पृथक् हुए कंकरों द्वारा क्रोध का प्रदर्शन। पृथक् करने का कारण–संकर दोष का वारण सुन, वर्ण–संकर की चर्चा और शिल्पी द्वारा वर्ण का सही–सही अर्थ चाल– चरण ढंग बताना। पश्चात् कंकरों की कमी, माटी में घुलना नहीं, फूलना नहीं, पर के दुख–दर्द देख पिघलना नहीं।

हिमखण्ड के प्रतीक द्वारा मान की बात माटी की शालीनता द्वारा। माटी की देशना–जल स्वभाव और हिम विभाव के रूप में। कंकरों को भूल ज्ञात हुई और माँ माटी से मन्त्र की माँग–जिससे यह हीरा बने और खरा बने कंचन–सा, माटी की मुस्कान द्वारा माँग की पूर्णता।

१९. परम दशा : ऋजुता की

गदहे की पीठ पर लदी माटी को उपाश्रम के प्रांगण में उतारा गया। माटी को छानने के लिए बारीक तार वाली चालनी लाई गई। शिल्पी स्वयं माटी को छान रहा है। अपनी दया से भीगी करुणामयी आँखों से चालनी के नीचे गिरी माटी को भाव सहित देखता है, फिर छनी माटी को अपने हाथ में उठाकर, रुचिपूर्वक अंगुलियों से छूकर देखता है। कंकरों–काँटों से रहित, घाव शून्य माटी को देख तन–मन से प्रसन्न होता है, तभी उसके मुख से बिना प्रयास ही वचन निकल पड़ते हैं कि ''सरलता की यह उत्कृष्ट स्थिति है और नम्रता, मृदुता की उत्कृष्ट प्रसिद्धि है यह'' धन्य !

शिल्पी ने माटी का शोधन किया, माटी को उसका यथार्थ रूप बताया। इधर चालनी में ऊपर बचे कंकरों में क्रोध–भाव का आना हुआ, फिर भी नपी–तुली संयत भाषा में कंकर शिल्पी से पूछते हैं कि दीर्घकाल से माँ माटी के साथ हम रह रहे थे। आज आपने माँ माटी से हमें अलग कर दिया, इसमें कोई विशेष कारण है या बिना कारण ही, हम जानना चाहते हैं।

इतना सुन शिल्पी कठोरता से रहित, मृदु शब्दों में कंकरों से कहता है कि ''पहला कारण तो यह है कि मैं कुम्भ रूप शिल्प का निर्माण करना चाहता हूँ और शिल्प के लिए मुझे मुलायम, हल्की (कम भार) जाति वाली माटी की ही आवश्यकता होती है तभी शिल्प अच्छा बनता है, किन्तु भारी (वजनदार) जाति

वाले कठोर कंकरों से वह शीघ्र ही बिखरता है और दूसरा कारण यह है कि संकर दोष को दूर करना था, इसलिए कंकरों के समूह को अलग करना पड़ा जो अत्यन्त आवश्यक था।'' (संकर का आशय आगे स्पष्ट किया जा रहा है।)

२०. गरम हुए : कंकर

शिल्पी मुख से पृथक्करण के कारणों को सुन कंकर कुछ और अधिक गरम हो गये। उनके होंठ फड़फड़ाने लगे तथा वचनों में भी पहले की अपेक्षा अधिक गरमाहट आ गई और वे कहते हैं शिल्पी से, ''अरे शिल्पी जी! शरीर की बात हो या जाति की, वह माटी और हमारी एक ही है, भिन्नता तो हमें कहीं दिखती नहीं, आपको दिखती है क्या ? कहीं आपकी आँखों का आपरेशन तो नहीं हुआ और रही रंग की बात तो अब क्या कहें! वह भी हम दोनों का समान है, जो प्रत्यक्ष दिख रहा है कृष्णजी के समान श्याम वर्ण, थोड़ा-सा भी फीका नहीं है।

सुन तो रहे हो/ कान तो ठीक हैं न तुम्हारे, बहरे तो नहीं हैं। फिर रंग-दोष की चर्चा कहाँ रही। अब चुपचाप आपको समान वर्ण वाले भीतर विराजित परमात्मा की पूजा करना चाहिए और पुनः हमें माटी में मिला देना चाहिए'' इतना कहकर कंकर चुप हो जाते हैं।

२१. मिलो दूध में : पानी-सम

कंकरों की कठोर वाणी सुनकर भी शिल्पी के मन में थोड़ा-सा भी तनाव (Tension) पैदा नहीं हुआ, वह पृथ्वी के समान क्षमावान ही बना रहा। फिर सहज रूप से समता के साथ कुछ कहता है शिल्पी-संकर दोष के विषय में वर्ण से आशय ना ही शरीर के रंग से है और ना ही शरीर से, किन्तु चाल-चलन तरीके से

है यानी–

''जिसे अपनाया है
उसे
जिसने अपनाया है
उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म–
...रूप-स्वरूप को
परिवर्तित करना होगा
वरना
वर्ण-संकर-दोष को
...वरना होगा!'' (पृ० ४७-४८)

अर्थात् जिसे स्वीकार किया जा रहा है उसको स्वयं का जीवन, जो उसे स्वीकार कर रहा है उसके अनुसार ढालना, अपने गुण-धर्म स्वभाव को परिवर्तित करना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो नियम रूप से उसे संकर दोष को स्वीकारना ही होगा और यह अनिवार्य ही है।

इस कथन से वर्ण लाभ का निषेध हुआ हो, ऐसा नहीं, चाहो तो उदाहरण के माध्यम से इस विषय को समझ सकते हो। दूध और पानी दोनों की जाति भिन्न-भिन्न है, दोनों का स्पर्श, स्वाद, रंग भी भिन्न-भिन्न ही है, किन्तु दूध में विधि (तरीके) अनुसार, योग्य मात्रा में पानी मिलाते ही पानी दूध रूप में परिवर्तित हो जाता है, यह सभी को ज्ञात है और सुनो रंग की अपेक्षा देखा जाये तो आक के दूध का रंग और गाय के दूध का रंग दोनों दूधिया सफेद हैं। दोनों ऊपर से स्वच्छ हैं किन्तु उन्हें आपस में मिलाने पर दूध फट जाता है, दुख का कारण बन जाता है। अतः **पानी का दूध बनना ही वर्णलाभ है, जो कि वरदान है और दूध का फट जाना ही वर्ण संकर है, जो कि अभिशाप है।** इन सब बातों का यही परिणाम निकला अब ज्यादा कथन से विराम हो।

विशेष—प्राणी मात्र का उद्धारक यह जिनशासन अनादिकाल से इस धरा पर विद्यमान है। इसकी शरण को प्राप्त हुए चाण्डाल, धीवर, भील जैसे निम्न जाति के मनुष्यों तथा श्वान, सूकर आदि तिर्यञ्चों ने भी अपने जीवन को श्रेष्ठ/ उन्नत बनाया। सत्धर्म को जीवन में अंगीकार कर वे स्वर्गों के देवों द्वारा भी पूज्यता को प्राप्त हुए। श्रावकाचार, पुराण/ग्रन्थ आदि इसके प्रमाण हैं। किन्तु वर्तमान परिवेश में कतिपय लोगों की धारणानुसार धर्म से ज्यादा महत्त्व जाति को दिया जा रहा है। जिनधर्म भले छूट जाये किन्तु जाति नहीं छूटना चाहिए। हमें ऐसा लगता है कि संभवतः उन्हीं परिस्थितियों को देखते हुए आचार्यश्री ने यह चिन्तन दिया होगा। आचार्यश्री एक साधक मात्र ही नहीं अपितु विशेष जिनशासक प्रभावक, समाज उद्धारक सन्त भी हैं। जिनकी कृपा एवं उदार दृष्टिकोण के फलस्वरूप सैकड़ों दिगम्बर श्रमण, आर्यिका, उत्कृष्ट श्रावक और श्राविकाएँ आचार्य कुन्दकुन्द की निर्दोष परम्परा का पालन करते हुए भारत भूमि पर भ्रमण कर रहे हैं।

आचार्यश्री का मानना है कि व्यक्ति में अहिंसादि व्रतों के संस्कार से श्रेष्ठता आ सकती है। धर्म भव-भव का साथी है जबकि जातियाँ तात्कालिक परिस्थितियों वश निर्मित, यदि किसी कन्या का विवाह, जैनधर्म पालित परिवार को छोड़कर, अन्य धर्मावलंबी से किया जाता है, मात्र इस कारण से कि उसके योग्य धन-धान्यादि से सम्पन्न वर उनकी जाति में नहीं है तो यह उचित नहीं है। जाति भिन्न भी हो किन्तु यदि सनातन जिनधर्म को नहीं छोड़ा जाये तो वर्ण लाभ ही माना जायेगा, संकर दोष नहीं।

२२. कमी : कंकरों की

आगे शिल्पी कंकरों को समझाता हुआ और भी कुछ कहता है—अरे कंकरो!

थोड़ा विचार तो करो, वर्षों से माटी के साथ रहते आ रहे हों, पर उसमें एकमेक नहीं हुए तुम! अपने अस्तित्व को पृथक् ही बनाए हुए हों। माटी को छुआ पर माटी में घुल ना सके तुम और इतना ही नहीं चलती चक्की में डालकर पीसने पर भी तुमने अपने कठोर स्वभाव को नहीं छोड़ा, भले ही रेत के समान चूर्ण बन गये पर माटी नहीं बने तुम। तुम पर यदि जल डाला जाये, भीग तो जाते हो पर माटी के समान मृदु बन फूलते नहीं, तुममें कभी माटी जैसी नमी नहीं आ पाती, क्या यह तुम्हारी कमी नहीं है बोलो!

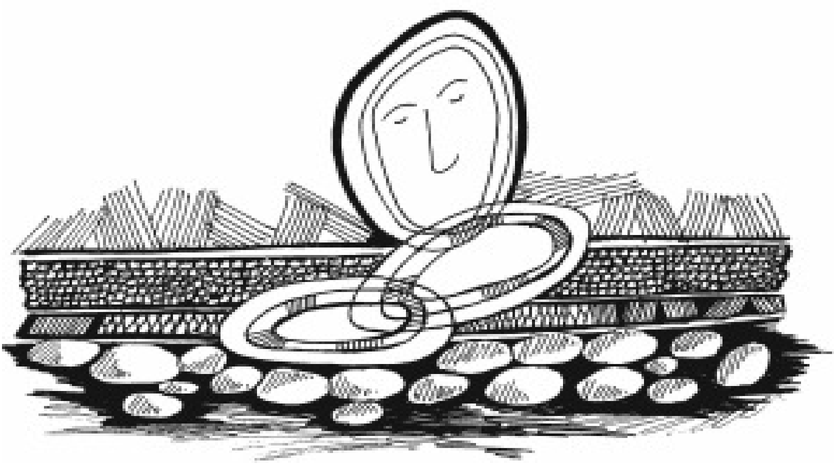

और फिर तुम्हारे भीतर जल धारण करने की क्षमता कहाँ है ? युगों–युगों से तालाब–नदियों के जल में रह रहे हो, पर स्वयं जल को सहारा देने वाले नहीं बन सके तुम! मैं तुम्हें हृदय–शून्य तो नहीं कहूँगा, किन्तु तुम्हारा हृदय पत्थर का अवश्य है, तभी तो दूसरों के दुख–दर्द को देखकर भी हृदय पिघलता नहीं तुम्हारा। फिर भी ऋषि मुनियों–सन्तों से यही उपदेश मिला है हमें कि–

''पापी से नहीं
पर! पाप से,
पंकज से नहीं
पर! पंक से
घृणा करो।
अयि आर्य!
नर से

नारायण बनो
समयोचित कर कार्य।'' (पृ० ५०-५१)

पापी से नहीं पाप से घृणा करो, क्योंकि पाप के संयोग से ही व्यक्ति पापी बनता है, पाप छूट जाये तो व्यक्ति पुनः अच्छा बन सकता है। इसी प्रकार कमल से नहीं कीचड़ से घृणा करो। मनुष्य से भगवान् बनने का पुरुषार्थ करो। हे आर्य! नर भव मिला है आत्मकल्याण करना ही अब उचित है।

शिल्पी की उपर्युक्त बातें कंकरों को कड़वी दवाई-सी लगीं। वे कंकर दीनता भरी नजरों से माटी की ओर देख रहे हैं तथा माटी भी स्वतन्त्रता भरी आँखों से मुड़कर कंकरों की ओर देख रही है। माटी की शालीनता कुछ उपदेश देती लग रही है।

हे कंकरो! यदि तुम अपने जीवन को अच्छा बनाना चाहते हो, तो तुम्हें महासत्ता माँ (सर्व व्यापक अथवा केवलज्ञान की अपेक्षा सर्व व्यापी परमात्मा) की खोज करनी होगी, परमात्मा के स्वरूप को जानना होगा। अपनी इच्छाओं को सम्यक्/अच्छी बनाना होगा तथा अपनी संकीर्ण विचारधारा का वमन करना होगा अर्थात् मैं और मेरापन को भीतर से निकाल, बाहर फेंकना होगा। अर्थ यह हुआ कि **हल्केपन का त्याग ही बड़प्पन को पाना है और शुभ, उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करना है।**

२३. परिणति : हिमखण्ड की

देखो एक छोटी-सी नाव जिसमें छेद ना हो अपार समुद्र को पार कर जाती है। वह नाव ना ही जल और ना ही जल की गहराई से डरती है, किन्तु कभी-कभी वह भी घबरा जाती है। घबराहट का कारण, जल का वह अंश जो बर्फ के रूप में बदला, जल की गहराई को छोड़कर जल की सतह में तैर रहा है आधा डूबा हुआ हिमखण्ड, जो कि मानो मानकषाय को नापने का साधन बना हो।

हिमखण्ड जल की सरलता को रोकने वाला, विषपने को उगलने वाला, जल के पतलेपन को सुखाने वाला और सघनता-ठोसपने का पालन-पोषण करने वाला है। स्वयं तैरना नहीं जानता, ना ही तैरना चाहता है, किन्तु उसकी परिणति तो देखो, जो सबको पार लगाने वाली ऐसी नौका और नाविक (खिवैया) को ही डुबाना चाहता है वह। सदा तन (अकड़) कर जल के ऊपर रहना चाहता है, जल में घुल मिलकर नहीं, सारे संसार को नीचे पहुँचाकर, स्वयं उनके ऊपर रहना चाहता है। हे मानी प्राणी! दूसरी ओर जल को तो देख और अब अपनी परिणति

को सुधार, सरल बन। हे मान कषाय से रहित, सर्वज्ञ प्रभो! यह मान कब समाप्त होगा पता नहीं ?

माटी की उपदेश धारा अभी समाप्त नहीं हुई, किन्तु सामान्य अर्थ से हटकर विशेष की ओर, प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर बहती हुई बोलती है माटी, तुम्हें स्वभाव-विभाव को जानना होगा। बीज का बोना हुआ, जल की वर्षा और बीजों का अंकुरण, फिर कुछ ही दिनों में अंकुरित बीज फसल बनकर लहलहाते हैं। फिर बर्फ नहीं किन्तु बर्फीली हवा भी कुछ ही समय में पकी फसल को जला देती है, आग-सी। जिसे 'पाला पड़ गया' कहा जाता है फसल का जीवन समाप्त, दाना नष्ट।

स्वभाव में रहा जल प्राण प्रदाता बनता है, जबकि विभाव रूप में परिणत जल प्राण हरने वाला बन गया। यही स्वभाव-विभाव में अन्तर है। जिन्होंने जीवन की यथार्थता को जान लिया, ऐसे सन्तों की वाणी है यह।

२४. सफलता : विभाव की

इससे यही समझ आता है कि बर्फ को बाहर से छूने पर भले ही ठण्डा लगता है, किन्तु बर्फ में भीतर से ठण्डापन नहीं ज्वलनशीलता ही उत्पन्न होती है। अन्यथा जिसे बहुत जोरों की प्यास लगी हो, गला सूख रहा हो, आँखों में जलन हो रही हो, ऐसा व्यक्ति पीड़ा से जल्दी-जल्दी छुटकारा पाने जल पीने की बजाय बर्फ की डली खा लेता है, परिणाम स्वरूप उसकी प्यास बुझना तो दूर उल्टी कसकर प्यास और बढ़ जाती है, नाक बहने लगती है क्यों ? यही परिणति तो विभाव दशा की सफलता और स्वभाव दशा की असफलता है।

इतना होने पर भी सागरीय जल-सत्ता जो माँ के समान है, बर्फ की शिला को डुबोती नहीं इसमें क्या रहस्य है ? लगता है अपनी संतान के प्रति माँ की ममता का परिणाम है यह। चुपचाप सब कुछ कष्ट सहन करती हुई भी अपने वंश-अंश (संतान) के प्रति भूलकर भी ऐसा कदम नहीं उठा सकती।

माटी की बात सुनकर कंकरों की ओर से व्यंग्यात्मक तरंग आयी कि हम मानते हैं कि अपने आपको सबसे अलग दिखाने की भावना का उत्पन्न होना मान कषाय का ही प्रतिफल है, किन्तु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि **मान का अत्यन्त कम होना, सूक्ष्म होना मान का समाप्त होना-सा लगता है किन्तु वह सूक्ष्म मान भी भावी बहुमान के लिए बीज वपन के समान हो सकता है।**

कंकरों की ओर से निकली तरंग संग की संगति से दूर (परिग्रह अथवा अन्य संयोगी भावों से रहित अकेली ही) माटी के शरीर को ही नहीं सीधे जाकर उसके मन को छूती है। इधर तुरन्त ही कंकरों को लगा कि हमने गलत विचार किया और वे कह पड़े कि नहीं–नहीं हमारा अनुचित साहस हुआ, हमारी भूल के लिए क्षमा करें माँ, यह प्रसंग आपके विषय में घटित नहीं होता कहता हुआ कंकरों का दल रो पड़ा और माटी से प्रार्थना करता है–हे माँ माटी! हमें एक मन्त्र दो जिससे यह जीवन हीरे के समान बहुमूल्य और कंचन यानी स्वर्ण जैसा विशुद्ध बन सके।

२५. चलो राह : संयम की

कंकरों की प्रार्थना सुनकर माटी की मुस्कान कुछ कहती है–

''संयम की राह चलो
राही बनना ही तो
हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है–
रा...ही ही...रा'' (पृ॰ ५६-५७)

पाँच पाप को त्यागकर संयम पथ पर चलो, संयमी का जीवन हीरे के समान बहुमूल्य बन जाता है।

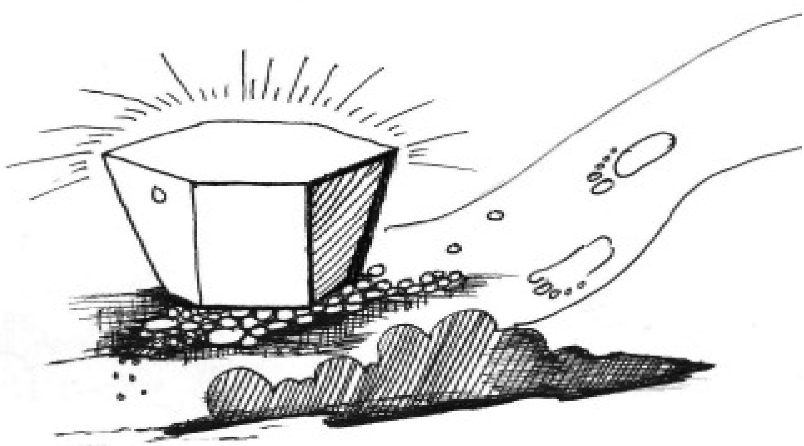

रत्नत्रय अंगीकार कर, शिवपथ पर गमन करने वाला राही ही तो हीरा बनता है तथा तन और मन को त्याग तपस्या की अग्नि में तपा-तपाकर, जला-जलाकर, राख करना होगा। बहुत पुरुषार्थ करना होगा तब कहीं यह चेतन आत्मा विशुद्ध बनेगा।

"खरा शब्द भी स्वयं
विलोम-रूप से कह रहा है—
राख बने बिना
खरा-दर्शन कहाँ ?
रा...ख ख...रा।" (पृ० ५७)

क्योंकि स्वयं खरा शब्द पलटकर कह रहा है तन-मन को राख बनाए बिना खरा यानी विशुद्ध चेतना का दर्शन संभव नहीं।

इतना कहकर समुद्र के समान उदार माटी की मूरत हाथ उठाकर आशीष प्रदान करती है कि तुम्हारा भी जीवन सफल बने शुभाशीष।

माटी के जीवन को विकसित करने हेतु शिल्पी विचार कर रहा है कि मृदु माटी को अनुपात से उचित मात्रा में जल मिलाकर फुलाना है, जल में माटी को घुलाना है और क्रम-क्रम से दुख के क्षण, पुरानी बातों को माटी भूल जाये और उसके कण-कण में, प्रतिपल में नयापन आ जाये बस! ऐसा पुरुषार्थ मुझे करना है, आज माटी को फुलाना है, बस!

सोपान ५
कसी गाँठ रस्सी की : खोलने का पुरुषार्थ

माटी को फुलाने हेतु कूप से जल निकालना है, सो शिल्पी उलझी रस्सी को सुलझाता है, सुलझते-सुलझते रस्सी में एक कसी गाँठ आ पड़ती है। जिसे खोलने का प्रयास-अंगूठे और अँगुलियों की असफलता, दाँतों की प्रार्थना, रस्सी दाँतों तक, संघर्षित शूल-चूल-मसूड़ों की दशा देख रसना द्वारा रस्सी को सरोष उद्बोधन, भयभीत भविष्य को जान, गाँठ का ढीली पड़ना, दाँतों में गरमाई आना और रस्सी का खुलना। रस्सी की जिज्ञासा-गाँठ से क्या बाधा ? सो रसना द्वारा समाधान-ग्रन्थी हिंसा का कारण है इसीलिए तथा जीव रक्षण हेतु गाँठ खोलना अनिवार्य था।

२६. उलझी रस्सी : कसी गाँठ

माटी को फुलाने हेतु पानी की आवश्यकता है। उपाश्रम के प्रांगण में ही स्वच्छ, मधुर जल से भरा कूप है। हाथ में बाल्टी ले कूप के तट पर पहुँचता है शिल्पी। जीवाणी कूप में सुरक्षित पहुँचाने हेतु बाल्टी में एक कड़ा लगा है, भंवरदार (ऽ) आकार की कड़ी रस्सी में बँधी है। रस्सी को उलझी देख शिल्पी बाल्टी को नीचे रख देता है और रस्सी को सुलझाने लगता है। रस्सी शीघ्रता से सुलझ भी जाती है, किन्तु सुलझाते-सुलझाते रस्सी के बीचों-बीच एक अत्यन्त कसी गाँठ आ पड़ती है। शिल्पी सोचता है इस गाँठ को खोलना तो बहुत जरूरी है, अतः पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है।

हाथ के दोनों अंगूठों और तर्जनियों में पूरी शक्ति लगाकर केन्द्रित करता है। भीतर का श्वास भीतर और बाहर का बाहर ही रह जाता है और यहाँ बिना सोचे ही कुम्भक प्राणायाम जैसी दशा बन गई। इस समय शिल्पी के दोनों होंठ एक दूसरे को चबाते हुए से लग रहे हैं, दोनों भुजाओं की नसों का समूह खिंचा हुआ है, त्वचा में उभार-सा आया है, इतने पुरुषार्थ पर भी गाँठ खुल नहीं रही है। अंगूठे की ताकत कम हुई, दोनों तर्जनी लगभग चेतना रहित, बेहोश-सी हो गई हैं। नाखून भी लाल-लाल खूनदार हो गये हैं, पर गाँठ नहीं खुल पा रही है।

इसी बीच दाँतों का समूह शिल्पी से कहता है कि हे स्वामिन! हमें सेवा देकर उपकृत करो और इस समय यह उचित एवं आवश्यक भी है। हमने यही नीति सुनी है–

''बात का प्रभाव जब
बल-हीन होता है
हाथ का प्रयोग तब
कार्य करता है।
और
हाथ का प्रयोग जब
बल-हीन होता है
हथियार का प्रयोग तब
आर्य करता है।'' (पृ० ६०)

''जब बातों से काम न निकले तब हाथों का प्रयोग करना चाहिए और जब हाथों का बल भी कम पड़ जाये तब सज्जन पुरुषों को अस्त्र-शस्त्र का भी प्रयोग करना चाहिए,'' इसीलिए अब बिना किसी संकोच के आप हमें रस्सी दे दीजिए।

दाँतों की बात को उचित मान शिल्पी, रस्सी को दाँतों तक पहुँचा देता है। तभी शूल का दाँत सब दाँतों से कहता है कि, मेरे भाइयो गाँठ के सन्धि स्थान की खोज तुम नहीं कर सकते। अतः दाहिनी ओर के नीचे वाला शूल का दाँत सन्धि स्थान को खोजने हेतु चारों ओर से गाँठ को देखता है फिर शीघ्र ही सन्धि की गहराई में उतर जाता है, उसी ओर के ऊपरी शूल के दाँत का सहयोग ले। दोनों

शूलों के अग्रभाग एक दूसरे से मिल गये जिससे उनकी मजबूत जड़ों को और ताकत मिल जाती है।

इतना सब होने पर भी गाँठ का खुलना तो दूर वह हिल भी नहीं रही है, अपितु शूल की जड़ें ही लगभग हिलने लगीं। दाँतों के अग्रभाग की नोकें टूटने वाली हैं, ऐसा लग रहा है। इस संघर्ष में मुलायम मसूड़े तो बेचारे छिल-छुल गये, लहुलुहान से हो गये उनमें से मांस ही बाहर झाँकने लगा है।

२७. उत्तेजित रसना

शिल्पी के मुख में बैठी-बैठी रसना (जीभ) भी सब घटना को देख रही है, अतः कुपित हो उत्तेजना भरे स्वर में बोल उठी रस्सी से कि ओ री रस्सी ! तेरी और मेरी एक ही नाम राशि है, परन्तु क्या बात है आज तू रस-सी नहीं किन्तु कोरी नीरस-सी लग रही है। अभी तक तो दादी-दीदी के समान सबका भला करने वाली सीधी-सादी-सी मानी जाती थी किन्तु अब तू सरल नहीं रही, कसी गाँठ पाल रखी, घनी हठीली बनी है। मेरी बात मान हठ को छोड़ गाँठ को ढीली कर दे, वरना कुछ ही समय बाद जब तेरा यह अविभाज्य जीवन दो भागों में विभाजित होगा तब तुझे पश्चाताप ही करना पड़ेगा।

और इस निन्द्य कार्य के प्रति छी-छी, थू-थू करती रसना गाँठ के सन्धि स्थल पर लार टपका देती है परिणाम यह निकला कि रस्सी अपने भयावह भविष्य को देख हिल उठी और कुछ ही क्षणों में गीली गाँठ, नरम हो ढीली पड़ गई। फिर क्या पूछना! दाँतों में उत्तेजना आयी और ऊपर, नीचे व सामने के सभी दाँत मिलकर गाँठ खोल देते हैं।

रस्सी की गाँठ खुलने पर रस्सी जिज्ञासा का भाव ले पूछती है रसना से कि आपके स्वामी को मुझ गाँठ से क्या बाधा थी ? जो खोलने हेतु इतना पुरुषार्थ किया गया, डराया-धमकाया गया। सो रसना कहती है रस्सी से कि सुन री रस्सी! क्या तुझे पता नहीं कि मेरे स्वामी शिल्पी जी पाप से दूर रहने वाले, इन्द्रियों को वश में रखने वाले संयमी हैं। वे सदा हिंसा से डरते हैं, अहिंसा ही उनका जीवन है, उनका कहना है कि संयम के अभाव में आदमी, आदमी नहीं है यानी–

''वही आदमी है
जो यथा-योग्य
सही आ...दमी है।'' (पृ० ६४)

जो शक्ति के अनुसार आ-सब ओर से, दमी-इन्द्रियों का दमन करने वाला, उन्हें वश में रखने वाला हो, वही सही आदमी है।

२८. उपास्य देवता : अहिंसा

अहिंसा (किसी भी जीव को कष्ट नहीं पहुँचाना) ही हमारी पूजा के योग्य परमात्मा है। जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है वहाँ निश्चित ही हिंसा सम्बन्धी पाप लगता है। अर्थ यह हुआ कि गाँठ (परिग्रह) ही, हिंसा रूपी पाप को जन्म देने वाली है।

''निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है,
पल-पल पनपती,
... बल पाती है।'' (पृ० ६४)

जहाँ पर परिग्रह का पूर्णतः त्याग होता है ऐसी निर्ग्रन्थ, दिगम्बर स्थिति में ही सही-सही अहिंसा का पालन होता है और निर्ग्रन्थता की शरण में ही अहिंसा प्रतिक्षण विकसित हो, सम्मान पाती है।

हम ऐसे ही निर्ग्रन्थ पन्थ के पथिक हैं। हमारे यहाँ सदा इसी पन्थ की बातें, इसी की पूजा और इसी की प्रशंसा चलती रहती है। हम सदा प्रभु से यही भावना भाते हैं कि यह जीवन आगे भी इसी प्रकार चलता रहे बस! और कोई लौकिक चाह (संसार सम्बन्धी चाह) नहीं है।

तुमने जो कठिन-कठोर गाँठ बाँध रखी थी, यदि उसे खोला नहीं जाता तो पानी से भरी बाल्टी को जब ऊपर खींचा जाता तब गाँठ गिर्री में आ फँसती, जिससे बाल्टी का संतुलन बिगड़ जाता एवं बाल्टी का पानी उछलकर नीचे कूप में जा गिरता और गिरते हुए पानी की चोट से कूप में रहने वाले छोटे-बड़े अनेक जलचर जीव अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होते। उनकी हिंसा से उत्पन्न दोष के स्वामी, मेरे स्वामी शिल्पी जी कैसे बन सकते थे ? इसीलिए गाँठ का खोलना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था, समझी बात ओ री रस्सी! पगली कहीं की, मेरी सहेली।

मूकमाटी बहुत अद्भुत काव्य है। इस तरह के अमूर्त विषय पर किसी ने कार्य किया हो, ऐसा ध्यान में नहीं आता। मेरे मत से यह बहुत आधुनिक है, क्योंकि ये विज्ञान के लिए भी प्रेरित करता है। इसलिए मैं इसको 'फ्यूचर पोयट्री' एवं अच्छा दिशादर्शक मानता हूँ। अन्य कवियों के लिए भी यह प्रेरणादायक ग्रन्थ है।

डॉ० प्रभाकर माचवे

सोपान ६

संकल्पिता मछली का प्रयास : ऊपर भूपर आने का

पानी लाने हेतु शिल्पी हाथ में बाल्टी ले कूप पर जाता है। कूप में ऊपर आने को मचलती मछली पर उसकी परछाई पड़ती है, जिसे देख दृढ़ संकल्पित होती है वह, तभी उसकी विजय प्रारम्भ।

बाल्टी का कूप के जल में प्रवेश, संकल्पिता मछली द्वारा अपनी सहेली के साथ चलने की बात, सहेली द्वारा समझाना–अपनी जाति, जगत् की बगुलाई, दया का वतन और कथन, झण्डा भी डण्डा और समय की बलिहारी। संकल्पिता मछली द्वारा सामयिक सूक्तियाँ छोड़ते हुए अकेले ही बाल्टी में प्रवेश पाना, शेष मछलियों का आश्चर्यचकित होना फिर सत्कार्य का अनुमोदन, महामछली की सत्कारमयी भावभीनी विदाई।

मछली की कामना घट में काम ना रहे। ऊपर आ उपाश्रम की धूप का वन्दन, रूप, स्वरूप। पानी छानते वक्त बाल्टी से उछलकर मछली का माटी के पावन चरणों में जा पड़ना और अश्रु बहा निज वेदना की अभिव्यक्ति।

प्रकट स्थिति पर लेखनी पूछती है युग से मानवता, दानवता और दानवत्ता की बात। माँ माटी द्वारा कलियुग–सतयुग का सही–सही परिचय। बात सुन माटी की गोद में बोध, शोध और सल्लेखना की माँग रखती है मछली। इस पर मुस्कराती माटी सल्लेखना का सही स्वरूप बता अन्तिम उपदेश के रूप में देती है, मछली को सम्बोधन–छली नहीं, चली नहीं बनना, मासूम मछली बने रहना। यही समाधि को जन्म देने वाली है। माटी द्वारा शिल्पी को संकेत–जलीय जन्तु और मछली को शिल्पी सुरक्षित वापस कूप में पहुँचा देता है।

२९. चिन्ता है : मछली को

उलझी रस्सी सुलझ गई है, गाँठ भी खुल गई है। अब कूप से जल निकालने हेतु कुँए के पाट (तट) पर खड़े हो, बाल्टी हाथ में ले शिल्पी कूप की ओर थोड़ा झुकता है कि शीतल–शान्त एवं विकसित बुद्धि वाले शिल्पी के शरीर की परछाई गहरे कुँए के स्वच्छ जल में तैरती हुई मछली के ऊपर पड़ती है। मछली का मुख ऊपर हुआ और उसके मन में ऊपर धरा पर जाने का विचार उत्पन्न हुआ किन्तु ऊपर शिल्पी के पास तक मैं, मेरी काया कैसे उठ सकती है, क्योंकि काया जड़ क्रिया–शून्य, पौद्गलिक (चेतना शून्य परमाणुओं, स्कन्धों से

निर्मित) है। उसे चेतन जीव का सहारा अपेक्षित है। यही चिन्ता मछली को सता रही है।

काया (शरीर) से ही सारा संसार बसा है, काया छूट जाये तो परमात्म दशा (सिद्ध अवस्था) प्राप्त हो जाये। संसार के झूठे आकर्षण में ही लीन, उसी से प्रभावित मेरी बुद्धि हो गई है।

''मति सन्मति हो सकती है
माया उपेक्षित हो...तो...।''(पृ० ६७)

बुद्धि सद्‌बुद्धि हो सकती है यदि संसार से वैराग्य (आसक्ति का अभाव) हो तो। इधर अन्धकूप में पड़े-पड़े क्रोध, मान आदि कुत्सित (निन्दित, बुरे) भावों के अनुभव से, कूप-मण्डूक-सी संकुचित विचारधारा हो गई है मेरी। गति, मति और दशा सब कुछ तो बिगड़ी है फिर मुझे निज रूप-स्वरूप का ज्ञान कैसे हो ? ऊपर से भेजी प्रकाश / सम्यग्ज्ञान की एक किरण भी तो मुझ तक नहीं आती और मछली के मुख से दीनता घुली ध्वनि निकल पड़ी कि कोई इसे इस अंधकूप से निकालो और परमात्म स्वरूप में मिला दो।

मेरे इस रुदन को कोई सुनता भी नहीं। अरे कानवालो! सब बहरे हो गये हो क्या ? जब कोई प्रति आवाज नहीं आयी, सहारे का संकेत भी नहीं मिला, तो मेरा यह रोना जंगल में रोने के समान ही निष्फल रहा, यूँ विचार कर पुनः विकल्पों में डूबती जाती है मछली। विकल्पों में उलझते हुए भी उसके मन में एक आशा की किरण जगी और लगा कि निस्सार विकल्पों में उलझने से कुछ लाभ होने वाला नहीं। अब तो दृढ़ता के साथ कुछ पुरुषार्थ करना ही होगा, पुरुषार्थ करते हुए भले ही कटुता की अनुभूति हो। इस प्रकार चिरकाल से कार्य करने की क्षमता, दृढ़ संकल्प के रूप में परिवर्तित होती है। मछली सोचती है अब कुछ भी हो, कैसा भी साधन मिले, ऊपर धरती पर जाना है अवश्य।

३०. मिला सहारा : अभय का

दृढ़ संकल्प हुआ, क्षणभंगुर-नाशवान प्राणों की चाह दूर चली गई, प्रभु प्राप्ति की प्यास मछली के अन्तःकरण में जागृत हुई। फिर इस वैराग्य दशा में जड़भूत जल का प्यार कैसे टिकता ? वह भी पल भर में दूर हुआ। अभय (भय का अभाव, निडरता) का सहारा मिला और मछली के मन का भय दूर हुआ। यहीं से प्रारम्भ हुई मछली की विजय-यात्रा।

अब कूप से जल खींचने का कार्य आगे बढ़ता है। जिसके अंग-अंग

जीवदया के संस्कारों से संस्कारित थे तथा जिन्हें संयम की शिक्षा प्राप्त थी, ऐसे शिल्पी ने बाल्टी को रस्सी से बाँध दिया और अब वह सावधानी पूर्वक धीमी गति से बाल्टी को कुँए में उतार रहा है। धीमी गति से उतारने का कारण यह है कि कूप में रहने वाले मेंढक, मछली इत्यादि जीवों की हिंसा ना हो पावे तथा स्वयं को इस लोक और परलोक में, आज और भविष्य में कभी भी कर्मों (सुख-दुख में कारणभूत पुद्‌गल स्कन्धों का पिण्ड) का बंध ना हो सके और ना ही कर्मों का फल भोगना पड़े।

इधर कूप में पड़ी दृढ़संकल्पिता मछली ने ज्यों ही ऊपर से नीचे उतरती बाल्टी को देखा, उसे ऐसा लगा मानो मेरी भावना अब पूर्ण होने वाली है, मेरा संकल्प फलीभूत होने वाला है। ऊपर उठने की इच्छा से भरी मछली की शान्त आँखें ऊपर की ओर देखने लगीं। उसे लगा जैसे कोई देव-विमान स्वर्ग से उतरता हुआ आ रहा है, उस पर लिखा हुआ था "**धम्मो दया-विसुद्धो**" तथा "**धम्मं सरणं गच्छामि**" धर्म दया से पवित्र होता है ऐसे दयामयी धर्म की शरण को मैं प्राप्त करता हूँ।

ज्यों-ज्यों बाल्टी कुँए में उतरती गई, त्यों-त्यों कूप में रहने वाले बहुत कुछ जलचर जीव भय के कारण कूप की गहराई में चले गये, किन्तु रसना इन्द्रिय के वशीभूत हुई कुछ मछलियाँ, कुछ खाने की सामग्री मिलेगी हमें, इस आशा से

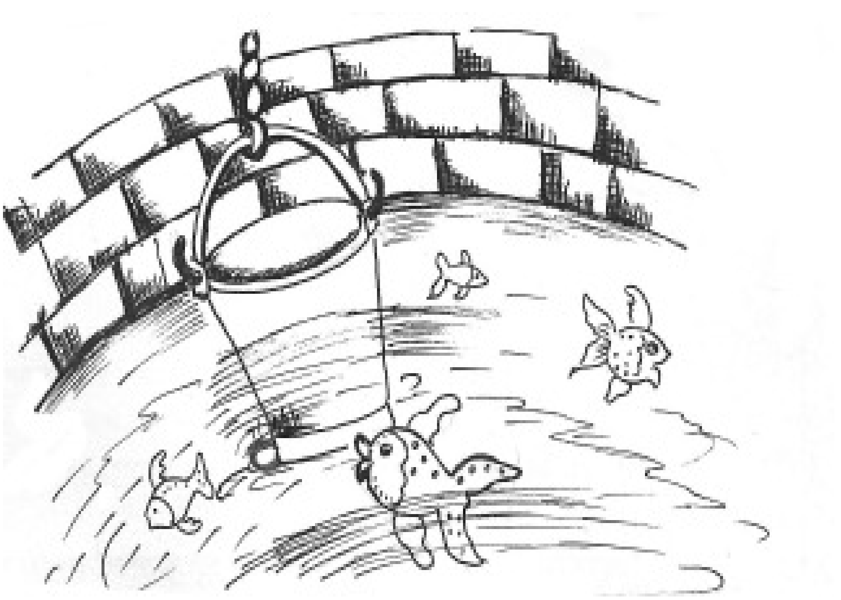

चलना–हिलना छोड़ उतरती हुई बाल्टी को अपलक देख रही हैं। जल में उतरी खाली बाल्टी को देखकर उसे कोई नया जाल–सा समझ भयभीत हो दूर भाग, नीचे की ओर चली जाती हैं सभी मछलियाँ रसनाधीना (जीभ के वश में रहने वाली), रसलोलुपा(खट्टा–मीठा आदि रसों की इच्छा/चाह रखने वाली)।

३१. संकल्पिता की : एक सहेली

मात्र खड़ी है वह संकल्पिता (जिसने ऊपर धरती पर जाने का संकल्प किया है) मछली साथ में है उसकी एक सहेली। वह अपनी सहेली से कहती है–

''चल री चल...!
इसी की शरण लें हम।
''धम्मो दया-विसुद्धो''
यही एक मात्र है
अशरणों की शरण!
महा-आयतन है यह
यहीं हमारा जतन है।'' (पृ० ७१)

चल–चल हम इस विमान की शरण लें, यह ही एक मात्र अशरणों के लिए शरण है महा–आयतन, बोध–गृह। यहीं पर हमारा भविष्य सुरक्षित रह सकता है। वरना आज नहीं तो कल निश्चित ही हमें भी मृत्यु के मुख में प्रवेश करना होगा और तू यह नहीं जानती क्या ? यहाँ बड़ी मछली, छोटी–छोटी मछलियों को साबुत, सीधे ही निगल जाती है। साधर्मी और समान जाति वालों में ही ज्यादा वैर–भाव देखा जाता है। कुत्ता–कुत्ते को देखते ही नाखूनों से जमीन खोदता हुआ भोंकता है बुरी–तरह।

यह सुनकर सहेली मछली कहती है अरे सखी! किसी दृष्टिकोण से, कुछ हद तक तुम्हारी बात सही है परन्तु इतना भी तो सोचो, यदि हमारे भक्षण से अपनी ही जाति पुष्ट, संपुष्ट हो तो वह हमारे लिए ठीक ही है। क्योंकि अन्त समय में अपनी ही जाति के लोग काम आते हैं और तो सब दर्शक बने देखते रहते हैं। फिर जिसे तुम शरण मान रही हो, उस विजाति व्यक्तित्व का कैसे विश्वास किया जाये? क्योंकि आज तो सामने–सामने ही, प्रतिपल विश्वास टूटता देखा जा रहा है। बाहर जैसा लिखा हो वैसा ही असली माल मिल जाये तो फिर कहना ही क्या ? यहाँ तो बगुला जैसे मायाचार का खेल चल रहा है। मुँह में राम–नाम का जाप होता है और बाजू में चाकू छुपा कर दूसरों का घात करने की बात मन में चलती रहती है।

जीवन में सही-सही दया का भाव होना और दया की बात करना दोनों पृथक्-पृथक् हैं। **दया होने में जीवन है और दया की बात करने में केवल दया का नाटक है।** अब तो अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों और कृपाणों (तलवारों) पर भी दया धर्म का मूल है लिखा मिलता है, किन्तु–

"कृपाण कृपालु नहीं हैं
वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण
हम में कृपा न!" (पृ० ७३)

देखो कृपाण शब्द स्वयं कह रहा है–हममें दया नहीं है, हम कृपालु नहीं है। आगे कहाँ तक सुनाऊँ तुम्हें-निजी स्वार्थ के लिए, समय पड़ने पर धर्म का झण्डा भी लड़ने का डण्डा बन जाता है, परोपकार करने वाला धर्म शास्त्र भी लड़ाई का शस्त्र बन जाता है। सदा प्रभु भक्ति में लीन रहने वाली सुरीली बाँसुरी भी बाँस बन प्रभु भक्तों को पीट सकती है। क्या कहें! समय ही ऐसा चल रहा है, कलियुग है।

विशेष–उपर्युक्त प्रसंग में कवि ने वर्तमान परिस्थितियों में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, व्यक्ति की बिगड़ती हुई मनोदशा का हृदय स्पर्शी वर्णन किया है। धर्म की आड़ में, स्वार्थसिद्धि करने वाले व्यक्तियों को भी यहाँ चपेट में लिया गया है।

३२. अंतिम समाधान

संकल्पिता मछली ने सखी की बात सुनी और वह पुनः कहती है कि हे सखी! इतना सब सोचने-विचारने का यह समय नहीं है, अपना भाग्य भी तो कुछ होता है ना ? यदि तुझे नहीं आना तो मत आ, किन्तु निष्प्रयोजन उपदेश देकर मेरे समय को बर्बाद मत कर और वह संकल्पिता मछली, सहेली को वहीं छोड़, स्वयं अकेले ही बाल्टी की ओर चल पड़ती है। चलते-चलते समय के अनुकूल कुछ युक्तिपूर्ण बातें कहती है–

"प्रत्येक व्यवधान का
सावधान हो कर
सामना करना
नूतन अवधान को पाना है
या यूँ कहें इसे–
अन्तिम समाधान को पाना है।" (पृ० ७४)

जीवन में आने वाली प्रत्येक बाधा का जागृत रहकर मुकाबला करने से ही कुछ नया खोजा जा सकता है, नया निर्माण किया जा सकता है। अथवा यूँ कहें कि समस्याओं का अन्तिम समाधान पाया जा सकता है। जो व्यक्ति बाधाओं से डर कर, आगे बढ़ने का मन ही नहीं बनाता। वह कभी अपने जीवन को उन्नत/अच्छा नहीं बना सकता। संसार में अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग रहते हैं, गुण हैं तो दोष भी। अतः **गुणों के साथ दोषों का ज्ञान होना भी अनिवार्य है,** किन्तु दोषों से द्वेष रखना उन्हें सदा बुरा-बुरा ही कहते रहना, अपने दोषों को बढ़ाना और गुणों को नष्ट करना है।

काँटों से द्वेष भाव रखकर फूलों की सुगन्धी से ही दूर रहना अज्ञानता/मूर्खता ही मानी जायेगी, किन्तु-

''काँटों से अपना बचाव कर
सुरभि-सौरभ का सेवन करना
विज्ञता की निशानी है
सो...
विरलों में ही मिलती है !'' (पृ० ७४)

काँटों से अपनी सुरक्षा करते हुए फूलों की सुगन्ध का पान करना होशियारी का लक्षण है, सो कुछ गिने-चुने लोगों में ही पाया जाता है, सबमें नहीं।

३३. सत्कार : महा मछली का

इधर कुँए में ऊपर से नीचे उतरी बाल्टी पूरी तरह पानी में डूब जाती है। बाल्टी में पानी लबालब भर चुका है, दोनों एक दूसरे में पूरी तरह डूब गये हैं। संकल्पिता मछली '**धम्मं सरणं पव्वज्जामि**' मंत्र को हृदय में धारण करती हुई बाल्टी में प्रवेश कर जाती है। उसकी आस्था और अधिक मजबूत होती जा रही है, साथ ही साथ आत्मा भी निर्मलता को प्राप्त हो रही है। धैर्य की चरम-सीमा और बुद्धि की इस श्रद्धा को देख सभी मछलियाँ आश्चर्यचकित हो गईं। कुछ पलों के लिए उनका भय छू मन्तर/दूर हो गया, भय को भूल-सी गई मछलियाँ।

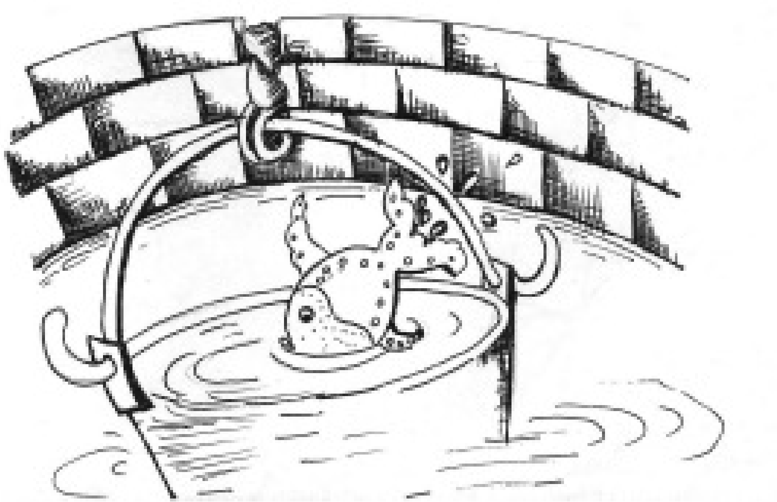

दृढ़तापूर्वक एक ने सत्कार्य करने का मन बनाया और सभी ने उसके इस कार्य की मन ही मन सराहना की। एक ने भाव बनाया, शेष सब प्रभावित हुईं। एक को सन्मार्ग मिला, शेष सभी मछलियाँ दिशा पा गईं। संकल्पिता मछली को दया धर्म का सहारा मिला, मन में एक नई किरण प्रस्फुटित हुई और सभी मछलियाँ उस उजली ज्योति से प्रकाशित हुईं, मानों तत्काल बाहर और भीतर से नहाई हों।

इस अवसर पर मछली का पूरा परिवार उपस्थित हो चुका है। सभी मछलियों की मुख-मुद्रा प्रसन्न लग रही है। तैरती हुई मछलियों से उठने वाली

तरंगें और तरंगों से घिरी मछलियाँ ऐसी लग रही हैं, मानो प्रत्येक मछली के हाथ में एक-एक फूलमाला है। संकल्पिता महा-मछली का सम्मान किया जा रहा है। सभी मिलकर नारे लगाती हुई कह रहीं हैं–

''मोक्ष की यात्रा
...सफल हो
मोह की मात्रा
...विफल हो
धर्म की विजय हो
कर्म का विलय हो
जय हो, जय हो,
जय-जय-जय हो!'' (पृ० ७६)

तुम्हारी यह मुक्ति की यात्रा सार्थक हो, मोह का समूह नष्ट हो, समीचीन धर्म की विजय और कर्मों का नाश हो, सदा जय-जयकार हो।

३४. एक ही कामना : रहे काम-ना

अब वह समय निकट आ ही गया जब मछली को ऊपर की ओर यात्रा प्रारम्भ करनी है। बाल्टी विमान के समान ऊपर उठने को है कि मछली के मुख से निकल पड़ती है मंगल-भावना। हे भगवान्! मेरी एक ही कामना है कि अनन्तकालीन भविष्य में कभी भी मेरे मन में काम यानी विषय-वासना का आवास ना हो। मेरी इस शुभ यात्रा का एक ही लक्ष्य है कि सदा समता रूप परिणाम ही मेरा भोजन हो। मेरे मन की भावनाओं में समीचीन उत्साह बना रहे। कभी भी दानव समान क्रूर वृत्ति का मानव मन पर असर ना हो। आकाश में, धरातल में और पाताल में अर्थात् तीनों लोक में सदा चेतन धर्म और दया धर्म की प्रभावना होती रहे बस!

जल से भरी हुई बाल्टी कूप से ऊर्ध्वगमन वाली होती है, पतन पाताल से उत्थान उत्ताल की ओर। संकल्पिता मछली बाल्टी में से ऊपर की ओर देख रही है। ना जल का और ना ही बल का अभाव है, किन्तु तैर नहीं रही मछली वह। लगता है बुद्धि की चंचलता से दूर शान्त मतिवाली मछली वह तैरना भूल-सी गई है। सच है–

''स्वभाव का दर्शन हुआ, कि
क्रिया का अभाव हुआ-सा
लगता है अब...!'' (पृ० ७८)

ज्यों-ज्यों वस्तु स्वरूप[1] का ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों तन-मन की चंचलता/सक्रियता कम होती जाती है। यहाँ भी ऐसा ही लग रहा है। बुद्धि की श्रेष्ठता को प्राप्त हुई-सी लग रही है मछली वह।

बिना किसी बाधा के बाल्टी ऊपर आ चुकी है। मछली के लिए कूप का बन्धन दूर हो चुका है। मछली ने किया सुख को झराती (बिखेरती) प्रांगण में फैली सुनहरी धूप का दर्शन-वंदन, रूपवती धूप की आभा को निरखती मछली सुख से भर जाती है। धूप से मिश्रित धूल का समूह ही मछली के मुख का सिंदूर-सा बना और मछली की आँखें सीधे उपाश्रम की ओर देखती हैं। ऐसा लग रहा है कि सूर्य ने अपनी पत्नी किरणों को दिन-भर उपाश्रम की सेवा करने ही भेजा हो।

वह धूप आश्रम के अंग-अंग और आँगन का मानो आत्मीय आलिंगन ही कर रही हो। वह धूप स्थूल है अर्थात् आँखों से तो दिखती है, पर पकड़ में नहीं आती। अत्यन्त सुन्दर, रूपवती है मात्र सूर्य ही उसे पकड़ सकता है। सिद्ध प्रभु के समान सूक्ष्म स्पर्श से भी रहित है वह। लगता है यह उपाश्रम की छाँव का ही परिणाम है। इस वातावरण को देखते ही मछली का दुख नष्ट हुआ और वह अपनी पुरानी बातों को भूल-सी गई।

विशेष—मछली प्रतीक है उस भव्यात्मा का जिसके मन में संसार, शरीर, भोगों के प्रति उदासीनता आ चुकी है और वह मोक्षमार्ग की ओर अपने कदम बढ़ाना चाहता है। मोही परिवार जन अनेक प्रकार से समझाते हुए उसे संसार मार्ग में ही रोक रखना चाहते हैं। परन्तु दृढ़ संकल्पी वह भव्यात्मा संसार के सत्य को जानता हुआ गुरु सान्निध्य में पहुँच ही जाता है।

३५. माँ माटी के चरणों में

यहाँ उपाश्रम के प्रांगण में एक दृश्य दिखाई दे रहा है। एक बहुत बड़ा बर्तन है, जिसके मुख पर साफ-सुथरा दोहरा किया हुआ खादी का कपड़ा (छन्ना) बँधा हुआ है। शिल्पी बाल्टी लेकर उसी ओर बढ़ रहा है। पात्र के पास पहुँचकर धार बाँधकर बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे वह जल छान रहा है, जल छन रहा है। इतने में शिल्पी की दृष्टि थोड़ी-सी अन्यत्र चली जाती है कि उछलने को मचल रही मछली, शीघ्र ही बाल्टी में से उछलकर माटी के पवित्र चरणों में जा गिरती है। और फिर माँ माटी को पाकर फूट-फूट कर रोने लगती है।

---

१. वस्तु स्वरूप = जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही जानना। जैसे आत्मा शाश्वत है, शरीर नश्वर। संसार दुख रूप ही है, सच्चा सुख मुक्ति/मोक्ष मिलने पर ही है, इत्यादि।

उसकी आँखें संवेदना से भर जाती हैं और पुनः वेदना की स्मृति होने लगती है। वे आँखें अपूर्वता की प्यासी, प्रभु की दासी के समान श्रेष्ठ बनी है। जिन आँखों से गिरती हुई उज्ज्वल आँसुओं की बूँदें माटी के चरणों को प्रक्षालित कर रहीं हैं, उन बूँदों की निर्मलता ने क्षीरसागर की पवित्रता का भी हरण किया है अर्थात् अत्यन्त निर्मल है तथा दुख के समुद्र का खारापन इनमें से पूर्णतः झर रहा है।

मछली की इस दशा को देख यह लेखनी इस युग से पूछती है कि इस समय मानव के भीतर से मानवता पूर्णतः मर चुकी है क्या ? यहाँ सबके मन में दानवता (क्रूरता) उत्पन्न हुई है। लगता है मानवता से दान देने का परिणाम (परोपकार का भाव) कहीं दूर चला गया है और फिर **जहाँ दानवता हो वहाँ दानवत्ता रह भी कैसे सकती है** ?

आज "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" यानी सारी धरती एक परिवार है। इस विचारधारा का दर्शन, स्वाद, अनुभव इन आँखों को सहज नहीं रहा। यदि कहीं सुलभ है तो भारत देश में नहीं, किन्तु महाभारत पुराण (ग्रन्थ) में ही यह सूक्ति मिल सकती है क्योंकि भारत में तो पग-पग पर स्वार्थ ही स्वार्थ देखा जा रहा है।

"**वसुधैव कुटुम्बकम्**" इसका आधुनिकीकरण अवश्य हुआ है आज वसु

यानी धन ही सबका परिवार और सिर का मुकुट, आदरणीय बन गया है इस जीवन में। लेखनी की बात सुनकर मछली, माँ माटी से कहती है–कुछ तुम भी कहो और इस विषय को स्पष्ट करो माँ! मछली की प्रार्थना सुन, सार रूप में कुछ कहती है माटी–

''सुनो बेटा!
यही
कलियुग की सही पहचान है
जिसे
'खरा' भी अखरा है सदा
और
सतयुग तू उसे मान
बुरा भी
'बूरा'-सा लगा है सदा।'' (पृ० ८२-८३)

सुनो बेटा! कलियुग और सतयुग का सम्बन्ध मात्र काल से नहीं, किन्तु व्यक्ति की विचारधारा से भी हुआ करता है। जिस व्यक्ति को खरा यानी अच्छा भी अखरने यानी बुरा लगने लगे, कष्टदायी प्रतीत होने लगे तो समझना उसके भीतर ही कलियुग है और जिसे बुरा अर्थात् गुरुओं की डाँट-फटकार, कष्ट से घिरा जीवन भी 'बूरा[१]' अर्थात् अच्छा, हितकारी लगने लगे तो समझो सतयुग उसी के भीतर रहता है।

३६. प्रयास करो : समझने का

पुनः मछली, माटी से कहती है विषय गंभीर होता जा रहा है, कुछ सरल करो माँ। सो माँ कहती है समझने का प्रयास करो बेटा! सतयुग हो या कलियुग, वह बाहरी परिस्थितियों पर आधारित नहीं है अपितु भीतरी परिणामों पर आधारित है। **सत् यानी शाश्वत सत्य की खोज में लगी दृष्टि, विचारधारा ही सतयुग है और नाशवान पञ्चेन्द्रियों के विषय में पूर्णतः डूबी, सच को झूठा मानने वाली विचारधारा ही कलियुग है,** समझी बात बेटा!

और सुनो कलियुग का कलि, काल यानी मृत्यु के समान है, अदया का निवास स्थान बना अतिक्रूर होता है। और सतयुग का सत् कोमल कली, लता के

१. बूरा = शक्कर को साफ करने के लिए उसे तपाकर चासनी बनाकर फिर ठण्डा करके चूर्ण रूप बनी चीनी।

समान, अत्यन्त दयालु, मृदुता से भरा होता है। कलि की आँखों में सदा भ्रम-भटकाव ही रहता है जबकि सत् की आँखों में शान्त मानसिकता का दर्शन होता है। एक की दृष्टि सबको तोड़ती है तो एक की दृष्टि सबको जोड़ती है। एक की दुनिया चंचल/शीघ्र नष्ट होने वाली है तो एक की सृष्टि स्थिर, सामर्थ्यवान है। एक का जीवन मृतक-सा, कान्ति-तेज हीन शव-सा लगता है तो एक का जीवन अमृत-सा, तेज युक्त भगवान्-सा होता है। अतः शव यानी कलियुग में आग लगाना होगा, उसे नष्ट करना होगा तथा शिव यानी सतयुग में प्रीति जगाना होगा, समझी बात बेटा!

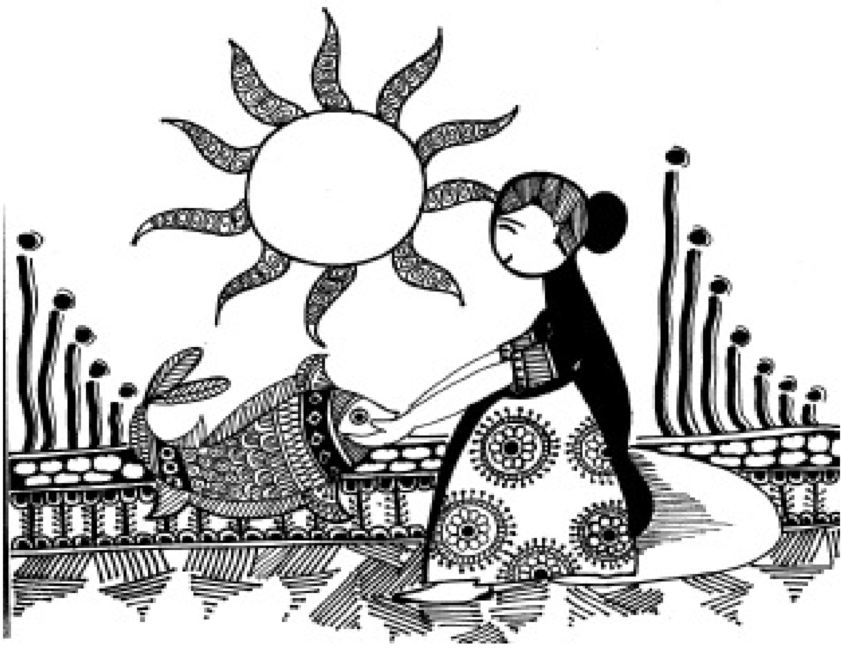

माँ की बात सुनकर मछली कहती है—नासमझ थी, सो अब समझ आयी, उलझी थी, सो अब सुलझ गई हूँ माँ। अब पीने के लिए जल की आवश्यकता नहीं है और ना ही जीने के लिए शक्ति की, बस टूटा-फूटा, फटा हुआ यह जीवन किसी तरह शाश्वत सत्य, परमात्मा से जुड़ जाये और बुद्धि निरन्तर परमात्मा में लगी रहे बस! यह जीवन बेजोड़ अर्थात् बिना जोड़ का अखण्ड, अद्वितीय बन जाये। अब इसे सुई व धागे अर्थात् बाहरी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है अपने जीवन को सीने यानी जोड़ने के लिए।

३७. जलती रही : जल से

जल में मैंने जन्म लिया किन्तु जल में भी जलन की अनुभूति होती रही मुझे सदा, जल और जलचर जन्तुओं से। जड़ यानी पुद्‌गलरूप पर पदार्थों में वह आत्मशान्ति कहाँ है माँ, जो कुछ पलों में मैंने आपके इन चरणों में पाई। मलयाचल का चन्दन, चित्त को हरने वाले चाँद की चमकती चाँदनी की शीतलता भी आज उछल कर कहीं दूर चली गई। मेरी स्पर्शन इन्द्रिय ने जो अनुभव किया था, वह भी आज फीकी लग रही है। तेरी शीतल वाणी ने मेरे भीतर प्रसन्नता की वर्षा की है। वास्तव में माँ तुम ही शीत-लता यानी अमृत की बेल की तरह हो साक्षात् कल्याण पथ, सुख के मार्ग को देने वाली हो माँ!

तुम्हारी पवित्र गोद में ही इसे और अधिक ज्ञान की प्राप्ति होगी माँ, फिर इसी गोद में खोज होगी निज की, अनन्त गुणों का समूह जो है ऐसे आत्म तत्त्व की। और सुनो माँ!

''व्याधि से इतनी भीति नहीं इसे
जितनी आधि से है
और
आधि से इतनी भीति नहीं इसे
जितनी उपाधि से।
इसे उपधि की आवश्यकता है
उपाधि की नहीं, माँ!
इसे समधी—समाधि मिले, बस!'' (पृ० ८६)

मुझे शारीरिक वेदना से उतना भय नहीं है, जितना की आधि यानी मानसिक वेदना (अज्ञानता) से और आधि से भी इतना अधिक भय नहीं है जितना की उपाधि यानी परिग्रह-मूर्च्छा भाव से। हे माँ! मुझे उपधि यानी मोक्षमार्ग में आवश्यक साधन सामग्री की आवश्यकता है, परिग्रह, मान-सम्मान सूचक शब्दों (उपाधि) की नहीं। अतः साम्य बुद्धि मिले, वह भी थोड़ी-सी, प्रमाद युक्त नहीं अपितु पूर्ण समता का विकास हो सके। यहाँ उपधि का अर्थ उपकारक, उपकरण है और उपाधि का अर्थ परिग्रह, अपकारक है ना!

मछली कहती है—माँ! संसार के दुखों से मुक्ति पा सकूँ, इसलिए मुझे अब सल्लेखना दो, सम्यग्ज्ञान अथवा रत्नत्रय के सूत्ररूप में कुछ उपदेश भी दो। मुझे ऐसी शक्ति दो कि अपनी समाधि को अच्छी तरह देख सकूँ अर्थात् जागृत दशा में प्राणों का त्याग कर सकूँ।

३८. सही लक्षण : सल्लेखना का

समाधि और सल्लेखना की बात सुनकर मुस्कराती हुई माटी कहती है—सल्लेखना का अर्थ शरीर और क्रोधादि कषायों को कृश, कम करना होता है बेटा! **शरीर को सुखाने से कषायें भी कम होने लगती हैं, कम होना ही चाहिए।** शरीर सूख जाये, किन्तु कषाय कम ना हो तो सल्लेखना संभव नहीं। और सुनो बेटा! मात्र शरीर को ही नष्ट नहीं करना अपितु नष्ट होते शरीर में म्लान मुखी (दुखी) नहीं होना तथा इस भव में मिले वैभव, सुख में अथवा भविष्य में मिलने वाले वैभवादि को याद कर मुदित-मुखी, प्रसन्न भी नहीं होना ही सल्लेखना का सही-सही लक्षण है। अन्यथा सल्लेखना बिगड़ जाती है। आत्मा का वास्तविक धन, सच्चा सुख नहीं मिल पाता है, बेटा! अतः सुनो—

''वातानुकूलता हो या न हो
बातानुकूलता हो या न हो
सुख या दुःख के लाभ में भी
भला छुपा हुआ रहता है,
देखने से दिखता है समता की आँखों से,
लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम-रूप से कह रहा है—
ला...भ भ...ला'' (पृ० ८७)

बाहरी वातावरण अपने मन के अनुकूल हो अथवा ना हो तथा संसार के प्रत्येक व्यक्ति की बातें अपने मन के अनुकूल हों अथवा ना हों, सुख मिले अथवा दुख, दोनों के लाभ में सदा भला छुपा रहता है, किन्तु वह समता की आँखों से ही देखने में आ सकता है। देखो लाभ शब्द स्वयं ही पलटकर कह रहा है—ला...भ भ...ला। अतः जो मिले, जैसा मिले, जब मिले उसे समता यानी सम भावों से स्वीकारना, हर्ष-विषाद, प्रतिकार नहीं करना, उसी में जीवन का भला है और है आत्मा का विकास।

३९. मासूमियत - समाधि की माँ

अन्त-अन्त में यही बात तुमसे कहनी है बेटा! कि अपने जीवन में छली-कपटी मछलियों-सी छली (मायावी) नहीं बनना। कभी भी पञ्चेन्द्रियों के विषयों की लहरों में भूलकर भी नहीं बहना, संयम रखना और सुनो बेटा! सदा मासूम बालकवत् सहज और सरल बने रहना। **सरल परिणाम ही समाधि को जन्म देते**

हैं और माटी संकेत करती है शिल्पी को कि इस भव्यात्मा को शीघ्र ही सुरक्षा के साथ कूप में पहुँचा दो, क्योंकि जल ही इसका जीवन है। बिना जल के इसके प्राण टिक न सकेंगे। इसकी यदि मृत्यु हो गई तो दोष के भागीदार आपको बनना पड़ेगा, जिसका फल असहनीय दुख होगा।

शिल्पी ने जल छान लिया। छन्ने के ऊपर बचे जलीय जन्तु तथा मछली को, बाल्टी में शुद्ध जल डालकर (बिलछानी करते हुए) वह सावधानी के साथ कुँए में सुरक्षित पहुँचा देता है। कुँए में एक बार फिर "**दया विसुद्धो धम्मो**" ध्वनि गूँजती है जो कि ध्वनि से ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में परिवर्तित हो कुँए की दीवारों से टकराती-टकराती ऊपर आती है और उपाश्रम के प्रांगण में लीन हो जाती है।

❑ ❑ ❑

भारत के जातीय साहित्य की अन्तश्चेतना से 'मूकमाटी' ओतप्रोत है। इसमें वैदिक भूमिप्रेम की व्यापकता, लघुता की गरिमा के ख्यापक आर्ष महाकाव्यों की समदर्शिता, निर्गुणपन्थी सन्तों की वाणियों में गूँजती दलितों एवं अपात्रों की अस्मिता, स्वातन्त्र्य समर में तपने वाले जनों की मनस्विता, तथाकथित प्रगतिवाद की यथार्थवादिता तथा सनातन अध्यात्म-साधना की प्रतीकात्मकता एक साथ सम्पुटित है।

प्रो० (डॉ०) प्रमोदकुमार सिंह

यह महाकाव्य हिन्दी के काव्य साहित्य की अपूर्व उपलब्धि है, भारतीय साहित्य वाङ्मय के लिए अभिनव और अद्वितीय सारस्वत उपायन है तथा खड़ी बोली के हिन्दी के महाकाव्य की रचना-परम्परा की समृद्धि में सर्वथा नवीन निक्षेप है।

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

भारतीय मनीषियों की रचना परम्परा में 'मूकमाटी' अधुनातन समस्याओं को चिह्नित करती मनुष्य गाथा है। इस महाकाव्य में लघुता को नमन और उसके लघुत्व में विराटता का दर्शन है। इसलिए नई भंगिमा और नई शैली में प्रस्तुत इस महाकाव्य को मानवता का महाकाव्य और संस्कृति का विश्वकाव्य कहा जा सकता है।

डॉ० लक्ष्मीकान्त पाण्डेय

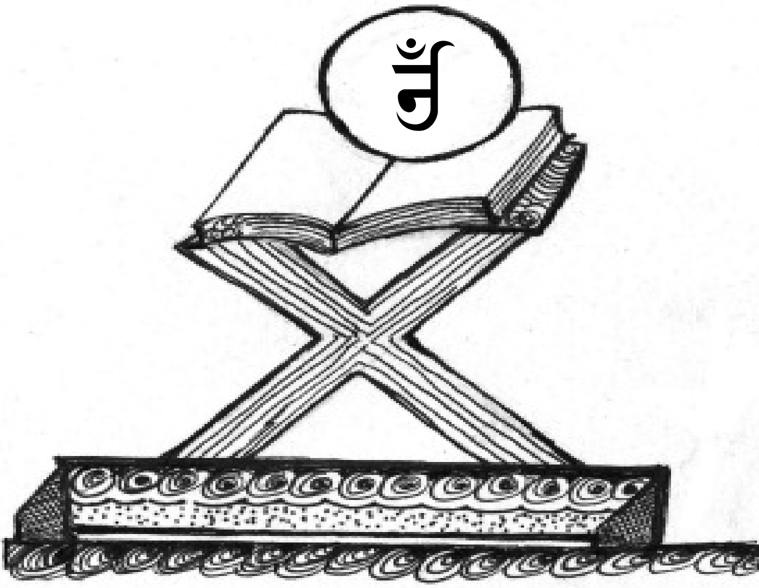

द्वितीय खण्ड

शब्द सो बोध नहीं
बोध सो शोध नहीं

बिखरे कण

१. नई चेतना : नया ज्ञान ६५
२. बात : शीतकाल की ६६
३. सम्बल : कम्बल का ६७
४. काय से अकाय की ओर ६९
५. मन : मान से घिरा ७१
६. शूल : सदा न शूल ७२
७. आयुध : महादेव-कामदेव का ७३
८. पवित्र संपर्क : प्रभु का ७४
९. क्षमावाणी : शिल्पी की ७५
१०. रक्षण फूल का : भक्षण फल का ७६
११. एक अच्छा मन्त्र ७७
१२. मोह बला क्या ? मोक्ष कला ७८
१३. स्रष्टा : शाश्वत साहित्य का ८०
१४. आनन्द साहित्य रस का ८२
१५. कर कायर : पर पाँव ना ८३
१६. राह : रसातल की ८४
१७. बड़ा : मौन से कौन ८५
१८. महिमा : अज्ञान की ८६
१९. पापी कौन : प्रकृति या पुरुष ? ८८
२०. नियन्त्रण किसका : किस पर ८९
२१. रहस्य : चेतन सत्ता का ९०
२२. प्याला : वीर रस का ९२
२३. मनु की नीति : मानवों को ९३
२४. कीमत : हास्य रस की ९५
२५. पित्त भड़का : रौद्र का ९६
२६. भयभीत मति : शिल्पी की ९७
२७. विस्मित हुआ - विस्मय ९८
२८. सही शृंगार : चेतन का ९९
२९. अतुलनीय परमार्थ १००
३०. सारे स्वर : रहे नश्वर १०१
३१. मेरा साथी : संगीत १०२
३२. बहती नाक - शृंगार की १०३
३३. ऋण चुकाओ : प्रकृति माँ का १०४
३४. माँग प्रभु से : मिटने की १०५
३५. बिलखती लेखनी १०६
३६. सीमा : करुणा की १०८
३७. दशा : करुणा और शान्त रस की ११०
३८. सच्चा मित्र : एकान्त का १११
३९. काल चक्र : काल ना ११३
४०. कारण : चक्कर का ११४
४१. क्रय - विक्रय से परे : काल ११६
४२. प्रहार : खोट पर ११७
४३. जीवन का लक्ष्य : नौ ११८
४४. बनें : छह के आगे तीन ११९
४५. मूल्य : स्वतन्त्रता का ११९
४६. विधि : साधना की १२१
४७. भेंट हो 'भी' से, न कि 'ही' से १२२
४८. करो : सही-सही पुरुषार्थ १२४
४९. संकेत : सुभगता का १२४
५०. स्वीकारो : कटु सत्य को १२५
५१. तपता मन : तप बिना १२७
५२. प्रचण्ड रूप : प्रभाकर का १२८
५३. प्रतिफल : तपन का १२९
५४. उल्टी पल्टी : रसना १३१
५५. बोलती अस्थियाँ १३२
५६. भवानुगामी पाप १३३
५७. बहुलता : बादल की १३४

सोपान ७
शिल्पी मुख से : काय रता ही कायरता

छने जल को शिल्पी, छनी माटी में मिलाता है, जल को नया जीवन मिला और शीतकाल के मौसम की बात-हिमपात के साथ शीतलहर चल रही है। शिल्पी की रात सूती चादर में कटती देख माटी का निवेदन शिल्पी से–तन पर कम्बल तो ले लें। शिल्पी का जवाब–कम बलवाले ही कम्बल लेते हैं। पुरुष और प्रकृति की बात। काय, काय-रता और कायरता के विलीन की चर्चा।

१. नई चेतना : नया ज्ञान

कुंकुम के समान मुलायम माटी में शिल्पी ने छना हुआ स्वच्छ जल मिलाया। जल मिलाते ही माटी के कण-कण में नई चेतना, नया परिवर्तन हुआ। कण-कण में बिखरी माटी एक रूप हो गई, प्रसन्नता से फूलने लगी। इधर जल के जीवन में भी नया अनुभव हुआ। बहाव रूप जल का स्वभाव था, सो इस समय ठहराव का अनुभव हो रहा है।

''माटी के प्राणों में जा
पानी ने वहाँ
नव-प्राण पाये हैं,
ज्ञानी के पदों में जा
अज्ञानी ने जहाँ
नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली
अचिर को चिरता मिली
नव-नूतन परिवर्तन...!'' (पृ० ८९)

यथा अज्ञानी भी ज्ञानी के चरणों की शरण में जा नया ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार स्थिर स्वभाव वाली माटी की संगति प्राप्त कर बहाव स्वभाव वाला जल भी स्थिर स्वभाव वाला बना, क्षणभंगुर जीवन शाश्वतता से जुड़ा, जल ने नए प्राण पाये।

ज्ञानी वह नहीं जो बहुत शास्त्रों का ज्ञाता हो, ज्ञानी वह है जो आत्मस्थ हो, विषयों के बहाव में न बहता हो, इन्द्रियविजयी, शान्त परिणामी हो।

विशेष—सम्यग्ज्ञानी योगियों की शरण को प्राप्त कर अंजन चोर भी निरंजन (सिद्ध) बना, अपढ़ शिवभूति मुनि महाराज अनन्तज्ञानी बने।

शरीर के भीतर विराजित चेतन की इस क्रियाशीलता का, अनन्तकालीन नर्तन का दर्शन कौन-सी आँखों को संभव है, किसकी और कहाँ है वे आँखें ? यह सब रहस्य जानना है।

२. बात : शीतकाल की

ठंड की ऋतु (मौसम) है वह भी अपने प्राकृतिक (स्वभाविक) रूप में नहीं है। पेड़-पौधों की प्रत्येक डाल पर, पत्तों पर बर्फ गिर रही है और गिरते बर्फ के साथ-साथ जोरदार हवा भी चल रही है। ऐसी परिस्थिति में सुन्दर कोमल-कोमल काया वाली लता-लतिकाएँ शीत लहर के स्पर्श से पीली-पीली पड़ने लगी हैं एवं जल-सी गई हैं।

ऐसे मौसम में सबके शरीर प्रायः कपकपी का अनुभव कर रहे हैं किन्तु ऐसा कौन पुरुष है वह, जिसका हृदय अनुकम्पा, प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव ले काँप रहा हो, कहाँ रह रहा है वह ? उस परम दयालु, परम पुरुष की कृपा, श्रेष्ठ दया की वर्षा इस धरा पर कब होती है, कहा नहीं जा सकता ?

इधर ठंड के कारण सभी के दाँत किट-किटा रहे हैं, मानो नाच रहे हैं, अभ्यासी नर्तक के समान। पता नहीं किसने, कब इनको नृत्य-कला की दीक्षा-शिक्षा और प्रशिक्षण दिया था। दिन भी छोटे हो गये हैं सूर्य की तेजस्विता भी डरती-सी यहाँ-वहाँ बिखर-सी गई है। उसका ताप शरीर को महसूस नहीं हो रहा है। लगता है मानो सूर्य ऊपर गगन में रहकर भी ठंड के सामने नतमस्तक हो चुका है अर्थात् हार मान चुका है।

पृथ्वी में सब ओर जहाँ कहीं भी देखो, ठंड का ही प्रभाव दिख रहा है। भौंरे के घने नीले रंग को भी पराजित करने वाली, शनि (काले रंग का प्रतीक) को पैदा करने वाली, भय, घमंड और पापों को जन्म देने वाली रात्रि दुगुणी लंबी हो गई है। यह शिशिर का मौसम सभी को कष्टदायी प्रतीत हो रहा है। पर इस समय भी एक विशेष बात यह है कि मात्र एक सूती चादर ओढ़े शिल्पी की रात सहज रूप से व्यतीत हो रही है, किसी प्रकार की आकुलता मन में नहीं है और ना ही ठंड को कोई विकल्प।

बाहर पड़ी हुई माटी लेटे हुए शिल्पी को देख रही है और व्यावहारिकता के वशीभूत हो शिल्पी से कुछ कहती है, वहीं से पड़े-पड़े। शरीर तो शरीर है पुद्गल से उत्पन्न पुद्गल की पर्याय, धर्म का साधन, उपकरण भी है। इसलिए कम से

कम तन पर एक गरम कम्बल तो ले ही लो ना! ताकि...इतना कहकर माटी चुप हो जाती है। माटी की बात सुनकर शिल्पी तुरन्त कुछ कहता है जिसे सुनती है माटी–

> **''कम बलवाले ही**
> **कम्बलवाले होते हैं**
> **और**
> **काम के दास होते हैं।**
> **हम बलवाले हैं**
> **राम के दास होते हैं**
> **और**
> **राम के पास सोते हैं।'' (पृ० ९२)**

३. सम्बल : कम्बल का

शिल्पी कहता है कि जिनका मनोबल कमजोर है, उन्हें ही कम्बल की जरूरत होती है। प्रभु की निकटता ही हमारे लिए सहारा, सम्बल है। हमें कम्बल की जरूरत नहीं। केवल एक सूती चादर से ही हमारा काम चल जाता है।

विशेष–प्रभु की दासता को छोड़ जिन्होंने इन्द्रियों की दासता स्वीकार की है, वे शरीर से बलशाली होते हुए भी बलहीन ही हैं। विश्व–विजेता सम्राट सिकंदर

को यह बात समझ मेआ गई थी कि मैं दुनिया को तो जीतने निकला हूँ, किन्तु मैंने अपने आपको नहीं जीता तो मेरा बल किस काम का और वह वापस अपने देश लौट गया था किन्तु कर्म की बलिहारी कि देश पहुँचने के पहले ही उसने देह छोड़ दी।

दूसरी बात यह है जिनकी प्रकृति उष्ण हो, भीतर कषायों का उद्वेग, संयम का अभाव हो जिनमें, वे ही ठण्ड से भयभीत एवं नम्रता से रहित होते हैं। मेरी प्रकृति और ऋतु की प्रकृति दोनों ही एक जैसी शीतल हैं, अतः अपनी जीवन-यात्रा यूँ ही सहज चलती जा रही है।

प्रकृति की गोद में प्राकृतिक रूप में रहना ही हमें अच्छा लगता है, इसी में हमारा कल्याण है और यह भी समझना होगा कि-

''पुरुष प्रकृति से
यदि दूर होगा
निश्चित ही वह
विकृति का पूर होगा।'' (पृ० ९३)

प्रकृति रूप (दिगम्बरत्व) को धारण कर, प्रकृति की गोद में रहने वाला श्रमण ही सच्चे सुख की अनुभूति करता हुआ आत्यन्तिक स्वास्थ्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है, कर सकता है। जो प्रकृति से दूर हो, अनेक प्रकार के बाहरी परिग्रह (सोना, चाँदी, मकान, खेत, पशु, धान्य, नौकर, बर्तन, कपड़ा, किराना आदि।) को अंगीकार करता है वह सदा विकारी भावों (शारीरिक-मानसिक दुख, कषायों की बहुलता) को प्राप्त होता रहता है।

विशेष—प्रकृति यानी वस्तु अर्थात् व्यक्ति का स्वाभाविक गुण, कुदरती, अकृत्रिम वातावरण। जैसे हवा, मिट्टी, पानी का अपने रूप में रहना और मनुष्य का उसमें रमना, रहना। जैसे जैसे मानव अकृत्रिम वातावरण को छोड़कर कृत्रिम वातावरण (ए० सी०) इत्यादि का सहारा लेता चला जायेगा। वैसा ही वह अनेक प्रकार की बीमारियों का घर बनता जायेगा। शहरों में बढ़ते अस्पताल और बीमारियाँ इस बात के प्रमाण हैं।

संतों की दीर्घायु का रहस्य, प्रकृति रूप को स्वीकारते हुए स्वस्थ जीवनयापन करना है। मौसम के अनुकूल अपना खान-पान रखना और चर्या बनानी चाहिए, प्राकृतिक जीवन ही स्वस्थ जीवन का आधार है।

४. काय से अकाय की ओर

इसलिए प्रकृति यानी स्वभाव (अपनेपन) में लीन होना ही मुक्ति है, मोक्ष है और निज स्वभाव (जानने-देखने रूप गुण) को छोड़, अन्य पर पदार्थों में राग-द्वेष करना ही मोह है, संसार का कारण।

सन्तों ने मात्र बाहरी पुरुषार्थ, उद्यमहीनता को ही कायरता नहीं माना अपितु शरीर के प्रति आसक्ति होना, मन के गुलाम हो, विषयों को भोगने में लिप्त रहना ही सही अर्थ में कायरता है। यदि काय और कायरता दोनों को दूर करना चाहते हो तो मन को एकाग्र कर सुनो!

"अकाय में रत हो जा!
काय और कायरता
ये दोनों
अन्त-काल की गोद में विलीन हों
आगामी अनन्त काल के लिए!" (पृ० ९४)

काया अर्थात् शरीर से रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूपी सिद्धप्रभु की भक्ति में लीन हो जाओ, शुद्ध आत्मस्वरूप में लीनता ही काय और कायरता को अनन्तकाल के लिए नष्ट कर सकती है। अतः देह रहित आत्म तत्त्व में लीन होकर ही काय का अन्त किया जा सकता है एवं शाश्वत सुख को प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की मूकमाटी अपने नाम के विपरीत शब्दों की जुबान धारण करके बोलती है और खूब बोलती है। ऐसे-ऐसे संदेश दे जाती है जो सामान्यतः मूक के लिए सम्भव ही नहीं है। यह काव्य कल्पना की कोरी उड़ान नहीं वास्तविकता के ठोस धरातल की अनुभूति करके लिखा गया है जिसमें जिन्दगी की हकीकत छिपी है। यथार्थ की सच्ची कहानी है। वास्तविकता की अभिव्यक्ति है।

प्रो० (डॉ०) माजदा असद
पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष
जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

सोपान ८
काँटों की परिणति में बदलाहट

माटी को चिकनाहट की चरम सीमा पर पहुँचाने शिल्पी माटी के पास आ रहा है। इधर माटी में पड़ा एक काँटा बदले का भाव ले शिल्पी को देख रहा है, चकित चोर-सा। माटी खोदते समय इस पर कुदाली की मार पड़ी थी, सो कटा-टूटा हुआ भी बलवान बना काँटा।

काँटे के मन में पैदा हुआ बदले का भाव बदल जाये, इसी उद्देश्य से माटी कुछ कहती है—बदले का भाव दल-दल, अनल, राहु के समान कष्टदायी है, दशानन का नाम 'रावण' भी इसी कारण पड़ा। माटी की बात सुन काँटे माटी से कहते हैं कि हमें सदा बुराई की दृष्टि से ना देखो, हमारे गुणों की ओर भी ध्यान हो। हमारी कठिन चुभन से कली खिलती, वीतरागता की सीख मिलती, महादेव (अरिहंत) ने हमें स्वीकारा है और काम को जलाया है। स्थान एवं समय सूचक यन्त्रों में भी हमारी उपयोगिता सिद्ध है। अतः शिल्पी की मति में परिवर्तन हो, कम से कम क्षमायाचना तो हो।

माटी काँटों को शिल्पी के स्वभाव से परिचित कराती है, शिल्पी स्वयं ही काँटों से क्षमा-याचना करता है जिसके फलस्वरूप काँटे के मन में भरा बदले का भाव शान्त हो, नष्ट हो जाता है।

क्रोध का शमन, बोध का आगमन और शोध भाव की जागृति हुई, प्राकृत विषय को और स्पष्ट करती है लेखनी शब्द का बोध हो और बोध से शोध हो तब निराकुलता फलती है। सो पश्चाताप के साथ कंटक अपनी भूल स्वीकारता हुआ एक अच्छे मन्त्र की माँग करता है शिल्पी से। शिल्पी मन्त्र की समीचीन विधा कहता है। पुनः मोह, मोक्ष की लक्षणा, साहित्य की व्याख्या पूछता है काँटा। शिल्पी द्वारा समाधान पा आनन्द में डूबा नृत्य करता है टूटा-फूटा काँटा और अन्त में देह संस्कार का कारण।

पानी को पीते ही माटी फूल की पांखुड़ियों की तरह पूरी फूल चुकी है, माटी का यह फूलन ही चिकनाहट, प्रेम भाव प्राप्ति का प्रथम चरण, जड़ के समान है। माटी में रूखेपन, द्वेषमय भावों का अभाव जड़ से उखाड़ने के समान है। शिल्पी विचारता है माटी ने जल-पान तो किया, किन्तु जल धारण करने, जल को आधार देने की क्षमता इसमें कब उभरेगी ? स्वयं ही समाधान करता है जब

इसकी चिकनाई चरमता को प्राप्त होगी एवं आग को पिएगी। यह तभी सम्भव है।

५. मन : मान से घिरा

माटी को और अधिक चिकनी बनाने हेतु शिल्पी माटी की ओर पहुँचता है। सुबह-सुबह ही माटी प्रफुल्लित हो जाती है किन्तु शिल्पी की कुदाली से घायल हुआ काँटा, बदले का भाव लिए शिल्पी की ओर देख रहा है। सोचता है शिल्पी को पीड़ा दिये बिना मन को शान्ति नहीं मिल सकती। काँटे का तन पूर्णतः जीर्ण हो चुका है। प्राण कण्ठ तक आ गये हैं, किन्तु बाहर नहीं निकल रहे हैं क्योंकि मन में अभी बदला लेने का भाव जो बना हुआ है–

''तन का बल वह
कण-सा रहता है
और
मन का बल वह
मन-सा रहता है।'' (पृ० ९६)

शरीर की शक्ति तो एक कण के बराबर बहुत थोड़ी-सी होती है फिर मन की शक्ति का क्या कहना ? वह तो मन बराबर अर्थात् ४० सेर (८00 ग्राम की एक तौल) वजन के बराबर कई गुना अधिक होती है। यह भी एक अकाट्य नियम है।

विशेष–सब बलों में मन का बल ही सबसे अधिक ताकतवर माना जाता है। मन में दृढ़ता होने पर जीर्ण-शीर्ण काया के साथ भी संयम-साधना, तप-आराधना की जा सकती है। सुकुमाल मुनि के तन को स्यालनी खाती रही किन्तु संकल्प की दृढ़ता और मन-बल के कारण वे सब कुछ समता से सहते रहे और सर्वोच्च सुख के स्थान को प्राप्त किया।

काँटे को छल का सहारा मिला और यह मन वैसे ही वैर को बहुत जल्दी स्वीकार कर लेता है। कारण, मान कषाय से घिरा मन नमन नहीं करने देता। काँटे के भीतर उपजा वैर भाव नष्ट हो जाये, इस आशय को ले माटी काँटे को समझाती है कि बदले का भाव वह दल-दल है, जिसमें बड़े-बड़े हाथी फँसकर अपना जीवन समाप्त कर लेते हैं। बदले का भाव उस अग्नि के समान है, जो तन को और चेतन को, दोनों को भव-भव तक जलाती है। विशेष–कमठ दस भव तक वैर भाव की अग्नि में जलता रहा।

बदले का भाव उस राहु के समान है जिसके मुख में पहुँचकर चेतन रूपी

सूर्य भी अपने अस्तित्व को खो देता है। देखो दशानन ने बाली मुनिराज से बदला लेने का भाव किया था और कैलाश पर्वत को उठाकर फेंकना चाह रहा था कि मुनिराज द्वारा अंगूठा दबाते ही उसका बल कमजोर पड़ने लगा, वह जोर-जोर से रोने लगा, तभी से उसका नाम रावण पड़ा। इसलिए मेरी मानो, तुम अपने मन से बदले का भाव निकाल दो।

६. शूल : सदा न शूल

माटी की बात सुनकर काँटा कहता है मात्र नाम की ओर ही नहीं, कुछ गुण और काम की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए माँ! इसी बीच पास में खड़ा गुलाब के पौधे में से काँटों का दल बोल पड़ा। इस बात को हम स्वीकारते हैं कि दूसरों की पीड़ा, शल्य में हम निमित्त अवश्य हैं। इसी कारण हम शूल कहे जाते हैं। फिर भी हमेशा हमें शूल के रूप में देखना बड़ी भूल ही होगी–

''कभी-कभी शूल भी
अधिक कोमल होते हैं
...फूल से भी
और
कभी-कभी फूल भी
अधिक कठोर होते हैं
...शूल से भी।'' (पृ० ९९)

किसी व्यक्ति अथवा प्राणी को हमेशा एक रूप में ही देखना यह मानव की बड़ी भूल हो सकती है, क्योंकि व्यक्ति एक जैसा सदा नहीं रहता। बिल्ली जिन दाँतों से चूहे का शिकार करती है, उन्हीं दाँतों से अपने बच्चे का पालन नहीं करती क्या ? काँटे जो दूसरों की पीड़ा में कारण बनते हैं, वे क्या हमेशा शूल रूप में ही रहते हैं ? कभी-कभी वे फूल से भी अधिक कोमल होते हैं। तभी तो कोमल फूल की कली भी काँटों का स्पर्श पा खुल-खिल उठती है, तब हम सदा शूल कहाँ रहे ? और वे फूल जो सदा हमें अपने शील से च्युत करने, विषय-वासनाओं में फँसाने, रागी बनाने का प्रयास करते हैं क्या वे शूल-समान दुखकारी नहीं हैं ?

प्रायः देखा जाता है कि जो सुन्दर मनोहारी काया को धारण करते हैं, बाहर से भले ही कोमल दिखते हैं किन्तु वे भीतर से मायाचारी, क्रूरता रूप परिणामों से भरे होते हैं। मुख से मीठे बोल बोलते हैं किन्तु भीतर विष घुला होता है, उनमें और संसार इसीलिए ठगा जा रहा है।

७. आयुध : महादेव - कामदेव का

जिन्होंने इस सत्य को जाना है, उन्होंने फूलों का नहीं शूलों का सम्मान किया है, तभी तो–

''कामदेव का आयुध फूल होता है
और
महादेव का आयुध शूल।
एक में पराग है
सघन राग है
जिस का फल संसार मिलता है
एक में विराग है
अनघ त्याग है
जिसका फल पार मिलता है।'' (पृ॰ १०१-१०२)

लोक में प्रसिद्ध है कि कामदेव का शस्त्र फूल है और शंकर का शस्त्र शूल–

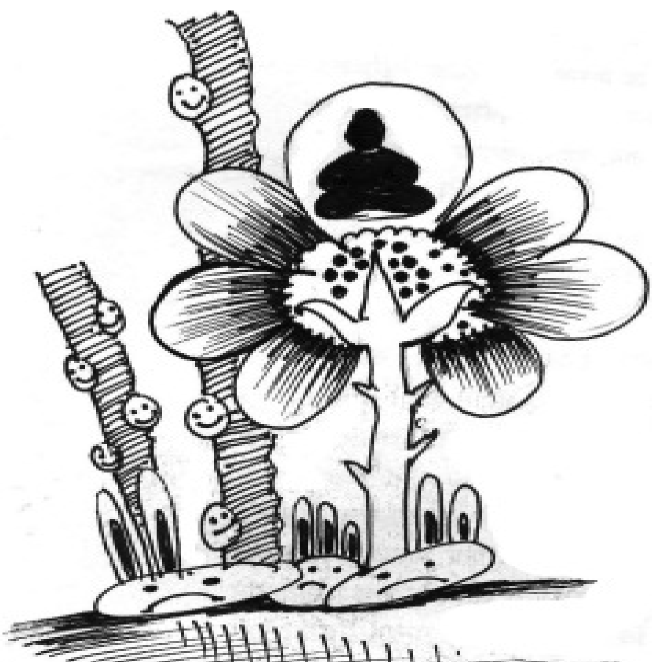

१. जैन शास्त्रों के अनुसार श्री आदिनाथ अरहन्त भगवान् को समस्त देवों के स्वामी होने से महादेव तथा लोक में आनन्ददायक होने से शंकर कहा जाता है।

त्रिशूल। फूल में पराग है, घना राग (प्रेम, इच्छा) है, जिसका फल यह दुखरूपी संसार है एवं शूल में वैराग्य, स्वच्छ त्याग है जिसका फल संसार से उस पार, मोक्ष है। फूलों को ही सम्मान देने वालों को संसार ही मिलता है और शूलों को चाहने वाले महादेव 'अरिहन्त देव' बनकर संसार से पार हुए हैं।

फूलों को देखते ही विषय-वासनाएँ मन में पैदा होने लगती हैं। दम यानी इन्द्रिय संयम को वह छीन लेता है तथा बदले में मद, अहंकार, भोग लिप्सा से भर देता है। जबकि काँटों को देखने से वैराग्य पैदा होता है, वे इन्द्रिय संयम का भाव पैदा करा देते हैं। फिर व्यक्ति शीघ्र ही अहंकार को छोड़ देता है और अहं यानी मैं की खोज में लग जाता है। यह स्पष्ट ही है कि दम से सुख का झरना फूटता है तो मद से सुख की मौत होती है और जीवन दुख से भर जाता है। फिर भी यह कैसी विडम्बना (उपहास का विषय) है कि सभी फूलों की प्रशंसा करते हैं और शूलों से द्वेष (शत्रुता) रख उनकी बुराई करते हैं। क्या यह सत्य पर आक्रमण नहीं है ?

इतना तो ध्यान रखना ही चाहिए कि हमारी भारतीय संस्कृति, पश्चिमी सभ्यता के समान आक्रामक स्वभाव वाली, विनाशशील आँखों वाली नहीं है। भारतीय संस्कृति उन ऋषि-मुनियों की परम्परा का निर्वाह करने वाली है, जिन्होंने संसार के सब वैभव को त्याग कर, दिगम्बर वेष धारण कर, आत्म स्वरूप में लीन हो गये। ऐसी सुख-शान्ति का कारण है यह भारतीय संस्कृति। यहाँ सत्य पर आक्रमण नहीं, किन्तु सत्य की पूजा होनी चाहिए।

८. पवित्र सम्पर्क : प्रभु का

फूल प्रभु की पूजन में काम आते हैं, इसलिए उनकी प्रशंसा होती है। प्रभु चरणों में समर्पित होते हैं फूल, किन्तु भगवान् कभी उन्हें छूते नहीं, कारण प्रभु ने काम-वासना को नष्ट किया है। शरणहीन हुए फूल शरण की आस ले प्रभु चरणों में आते हैं अवश्य। प्रभु का पवित्र सम्पर्क पाने से हम शूलों के जीवन में फूलों से विपरीत जो परिणमन हुआ सो और सुनो– किस दिशा से किस दिशा तक, कब से अब तक और अब से कब तक इत्यादि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थान एवं समय का ज्ञान हमें शूलों के द्वारा ही हो पाता है। यदि ऐसा ना हो तो बताओ की दिशासूचक यन्त्र (चुम्बकीय सुई) एवं समय सूचक यन्त्र (घड़ियों) में काँटे क्यों लगे रहते हैं।

''इस बात को भी हमें नहीं भूलना है
कि
घन-घमण्ड से भरे हुए

उद्दण्डों की उद्दण्डता दूर करने
दण्ड-संहिता की व्यवस्था होती है
और
शास्ता की शासन-शय्या फूलवती नहीं
शूल-शीला हो,
अन्यथा,
राजसत्ता वह राजसता की
रानी—राजधानी बनेगी वह!'' (पृ० १०४)

शासन करने वाले शासक, राजा की शासन-व्यवस्था फूलों के समान मुलायम-कोमल नहीं, अपितु शूलों के समान कठोर होनी चाहिए। तभी घोर घमण्ड से भरे हुए, अपराधियों की उद्दण्डता को दूर किया जा सकता है। अन्यथा राजसत्ता भोग-विलास का ही साधन बन जायेगी और चारों ओर उद्दण्डता, अन्याय का साम्राज्य छा जायेगा।

काँटों के दल के मुख से अपनी महिमा प्रशंसा सुन टूटा-कटा काँटा कहता है माँ माटी से कि शिल्पी की बुद्धि सही दिशा की ओर हो, उसे अपनी गलती का अहसास हो इसलिए उसे पीड़ा देना आवश्यक है। नहीं तो कम से कम अपनी इस भूल के लिए शिल्पी क्षमा-याचना तो करे।

९. क्षमावाणी : शिल्पी की

टूटे काँटे की बात सुन माटी कहती है—अरे काँटो! कुम्भकार का स्वभाव अभी तुम्हें ज्ञात नहीं है, इसलिए ऐसा बोल रहे हो। सुनो मैं तुम्हें बताती हूँ-यह कुम्भकार श्रमण जैसे उत्कृष्ट क्षमा भाव को धारण करने वाला, क्षमामूर्ति, क्षमा का ही अवतार है। इधर शिल्पी भी सब वार्ता को सुनता रहा और उसके मुख से क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने वाली, करुणा से भरी अमृतवाणी निकलती है, जिसमें धीरता और गम्भीरता भी मिली है—

''खम्मामि, खमंतु मे-
क्षमा करता हूँ सबको,
क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस
मैत्री रहे मेरी!
वैर किससे

क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है
संसार-भर में मेरा वैरी !'' (पृ॰ १०५)

''**क्षमा वीरस्य भूषणं**''—क्षमा वीरों का आभूषण है, कायरों का नहीं। फिर जिसने अपने को जीत लिया, ऐसा वीर किसी से क्यों वैर रखेगा। शिल्पी काँटों से क्षमा माँगता है कि मेरे कारण तुम्हें कष्ट हुआ किन्तु मैंने किसी वैर भाव के कारण, जानबूझ कर तुम्हें कष्ट नहीं दिया। मेरा संसार के सभी जीवों से सदा मैत्री भाव है, किसी को भी मेरे द्वारा कष्ट ना हो यही मेरी भावना रहती है और फिर संसार में किससे और क्यों वैर भाव रखूँ–सभी तो मेरे समान परमात्मा बनने की शक्ति रखते हैं।

विशेष—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय (शुद्ध द्रव्य ही जिसका प्रयोजन हो/लक्ष्य हो) से सभी सिद्धों (शरीर रहित परमात्मा) के समान शुद्ध हैं। निश्चय (वास्तव, यथार्थ) से कोई भी प्राणी मेरा बुरा कर ही नहीं सकता। यदि करता भी है तो मेरे अशुभ कर्मों की निर्जरा में कारण बनता है, फिर मेरा वैरी कैसे और कब अर्थात् इस भव में कि पर भव में ? कभी नहीं कोई भी मेरा शत्रु नहीं है। मेरा किसी से वैर भाव नहीं है।

शिल्पी की विनय मिश्रित क्षमावाणी काँटों के शरीर को पार कर भीतरी चेतना तक पहुँचती है। फलस्वरूप ईंधन के अभाव में बुझने वाली अग्नि के समान काँटों का क्रोध भाव समाप्त होने लगा। क्षण-क्षण पाप का कारण बना जो बदले का भाव, वह भी दूर भाग गया। पुण्य का कारण, समीचीन ज्ञान अन्तःकरण में प्रकट हुआ एवं अनुभूति का आधार, शोध-भाव (जानने की इच्छा) सहज रूप से काँटों के भीतर पैदा होने लगा।

१०. रक्षण फूल का : भक्षण फल का

बोध और शोध के विषय को स्पष्ट करती हुई लेखनी भी कुछ कहती है—

''बोध के सिंचन बिना
शब्दों के पौधे ये
कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है, कि
शब्दों के पौधों पर
सुगन्ध मकरन्द-भरे

बोध के फूल कभी महकते नहीं,
फिर!
संवेद्य-स्वाद्य फलों के दल
दोलायित कहाँ और कब होंगे...?''(पृ० १०६-१०७)

मात्र शब्द ज्ञान से जीवन में कभी आनंद आ नहीं सकता। शब्दों के साथ अत्यन्त आवश्यक है उसमें छिपे अर्थ, रहस्य का ज्ञान होना। अर्थ ज्ञान होने पर ही अनुभूति/स्वात्मानुभूति का फल परमानंद प्राप्त हो सकता है। शब्दों में ही अटके रहने पर, ना बोध का फूल खिलेगा और ना ही शोध का फल मिलेगा, क्योंकि बोध का फूल ही शोध के फल रूप में पकता-फलता है। बोध में फिर भी आकुलता हो सकती है, होती है किन्तु शोध में निराकुलता ही निराकुलता होती है। और फिर तृप्ति फूल से नहीं, फल से ही होती है।

फूल में गन्ध भले हो, पर फल तो रस से भरा होता है। इसलिए सुनो फूल का तो रक्षण करो और फल का भक्षण करो। अर्थात् ज्ञान आवश्यक तो है किन्तु ज्ञान में वो आनन्द नहीं आता जो ज्ञान के प्रयोग आत्मानुभूति में आता है। अतः निरन्तर ज्ञानाभ्यास करते हुए भी निज शुद्धात्मानुभूति रूप शोध में ही विशेष पुरुषार्थ करना चाहिए। तभी आत्मा का हित, निराकुल सुख संभव है।

शिल्पी के मुख से पूर्व में कभी न सुने ऐसे अश्रुत पूर्व वचनों को सुन काँटों की कठोरता दूर हुई। उनका अन्तःकरण पश्चाताप से भर गया और कंटक कहता है शिल्पी से-हमारी अज्ञानता का ही यह फल है कि हमें हानिकारक पदार्थ लाभप्रद लगा और लाभदायी हानिकारक। सही बात हम जान न सके। सत्य अच्छा ना लगा। गलत दिशा में हमारे कदम बढ़ गये। सही पथ पीछे रह गया। सुगन्धित पदार्थ को गन्दा कहा, चन्द्रमा को अन्धा कहा। अमृत जहर लगा हमें। बड़ी भूल हमने की है। हमें आप क्षमा करो स्वामिन्!

११. एक अच्छा मन्त्र

हमें ऐसा कोई मन्त्र दो, जिससे हमारा जीवन भी कषायों से रहित सुन्दर बन सके। कभी वह भी समय हमारे जीवन में आए जब हम भी किसी को सहारा दे सकें। सुखी बना सकें। काँटों की पश्चाताप भरी प्रार्थना सुनकर शिल्पी कहता है-

''मन्त्र न ही अच्छा होता है
न ही बुरा
अच्छा, बुरा तो

अपना मन होता है।
स्थिर मन ही वह
महामन्त्र होता है
और
अस्थिर मन ही
पापतन्त्र[१] स्वच्छन्द होता है,
एक सुख का सोपान है,
एक दुःख का 'सो' पान है।" (पृ० १०८-१०९)

मन्त्र की सफलता तो मन की स्थिरता पर आधारित होती है। भावपूर्वक, स्थिरता के साथ जपा हुआ मन्त्र शीघ्र ही अनुकूल फलदायी होता है और फिर विषय-वासनाओं से दूर रहकर परमात्मा में, निज स्वभाव में स्थिर मन ही तो महामन्त्र कहलाता है।

इसके सिवाय सदा विषय[२]-कषायों[३] में झूलने वाला स्वेच्छाचारी, चंचल मन ही पापतन्त्र–पाप[४] का कारण होता है। **स्थिर मन सुख की सीढ़ी है तो चंचल मन दुख का पेय (पीने योग्य पदार्थ) है।** इसलिए अच्छे मन्त्र की इच्छा करने की अपेक्षा अपने मन को अच्छा, निर्मल और स्थिर बनाने का प्रयास करो, भविष्य स्वयमेव उज्ज्वल और श्रेष्ठ बनता चला जायेगा।

१२. मोह बला क्या ? मोक्ष कला

काँटा पुनः शिल्पी से प्रार्थना करता है कि मोह क्या बला है और मोक्ष क्या कला है ? यह हम जानना चाहते हैं, किन्तु मात्र लक्षण के द्वारा कम शब्दों में समझा देवें, लम्बी-चौड़ी व्याख्या नहीं। क्योंकि लम्बी व्याख्या होने से मूल विषय का पता ही नहीं चलता और फिर दूध में थोड़ा-सा भी जल मिलाया जाये तो दूध की मधुरता कम हो ही जाती है। इसलिए मोह और मोक्ष की संक्षिप्त लक्षणा प्रदान करें तो बड़ी कृपा होगी। इस पर शिल्पी सम्बोधन करता है–

---

१. पापतन्त्र = पाप का शासन, व्यवस्था अथवा सिद्धान्त।

२. विषय = वह जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करें जैसे नेत्र का विषय रूप या कान का विषय शब्द।

३. कषाय = जो आत्मा को दुख दे, ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम।

४. पाप = इस लोक में बुरा माना जाने वाला और परलोक में अशुभ फल देने वाला कर्म; पुण्य का उल्टा, पातक, गुनाह।

“अपने को छोड़ कर
पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है
और
सबको छोड़ कर
अपने आप में भावित होना ही
मोक्ष का धाम है।” (पृ० १०९-११०)

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे क्या करना है। यह सब नहीं विचारकर, यह वस्तु किसकी है, कितनी है, क्या है ? इत्यादि पर-पदार्थों के विषयों में सोचना-विचारना, उन्हें ग्रहण करने का भाव रखना मोह का प्रतिफल है तथा बाहरी सब पदार्थ, सभी सम्बन्धों को छोड़कर एक मात्र अपने आत्मस्वरूप में लीन होना ही वास्तव में मोक्ष है। पर-पदार्थ को ग्रहण करने का ही परिणाम यह दुख रूप संसार अनादिकाल से बना हुआ है। हे चेतन! एक बार तो अपने स्वरूप का विचार कर, स्वरूप की अनुभूति कर। क्षण मात्र में संसार के सभी दुखों से मुक्ति मिल जायेगी।

मोह और मोक्ष की लक्षणा सुन काँटा कह उठा—धन्य है! धन्य है!! आज

सही साहित्य की छाँव मिली है। आपके मुख से खिरने वाली ये पंक्तियाँ मोतियों की माला के समान सुन्दर एवं शीतलदायी लग रहीं हैं। आज तक बहुतों से सुना, पर ऐसा बहुत कम सुनने को मिला। आप की शैली, सिद्धों-सी आध्यात्मिकता से घुली लगती है। इसे सुनने से अनेक प्रकार के मिष्ठान, दुनिया के आकर्षण भी फीके लगने लगते हैं। यदि आपको सुविधा हो तो वर्तमान प्रसंग के अनुकूल साहित्य शब्द पर कुछ सुनने को मिले, बड़ी कृपा होगी।

१३. स्रष्टा : शाश्वत साहित्य का

काँटे की बढ़ती जिज्ञासा और ज्ञान की पिपासा देख शिल्पी साहित्य शब्द पर बोलता है—जो हित से युक्त होता है अर्थात् परोपकार से जुड़ा हो वह सहित माना है सहित का भाव ही साहित्य है। अर्थ यह हुआ कि जिसके पढ़ने-सुनने से सच्चा सुख (इन्द्रियातीत) उत्पन्न हो, वही सही साहित्य है। अन्यथा सुगंध से रहित पुष्प के समान जिसमें सुख का लेश मात्र न हो वह 'शब्द-झुण्ड' मात्र है। सही साहित्य नहीं कहा जा सकता है।

जिस जीवन में कषाय शमन हो गई, विषयों को वश में किया जा चुका हो ऐसा परम शान्त, आदर्श जीवन ही शाश्वत साहित्य का निर्माता है। इस वीतराग साहित्य को आँखें भी पढ़ सकती हैं, कान भी सुन सकते हैं और हाथ भी इसकी सेवा कर सकते हैं। यह जड़ नहीं अपितु जीवित साहित्य है। चलता-फिरता भगवान्, धरती का देवता, श्रमण।

साहित्य शब्द की व्याख्या सुन फटा माथा होकर भी काँटा, स्त्री समागम से भी कहीं अधिक आनन्द का अनुभव करने लगा। टूटी टाँग वाला होकर भी चिन्तन में डूबा नृत्य करने लगा वह काँटा। मन्द ही मन्द मन में वह हँस रहा है, मानो शिल्पी को इस बात का अहसास करा रहा है—

"सदा-सदियों से हंसा तो जीता है
दोषों से रीता हो,
परन्तु सबकी वह काया
पीड़ा पहुँचाती है सबको
इसीलिए लगता है, अन्त में इस
काया का दाह-संस्कार होता हो।" (पृ० ११२)

आत्मा जो दोषों से रहित शुद्ध स्वभाव वाला है, सदा अनादिकाल से रह रहा है परन्तु कर्मोदय से मिलने वाला यह शरीर सबको पीड़ा देता है। यही कारण

हो सकता है कि अन्त समय में इस काया को जलाया जाता हो, किन्तु यह शरीर भी कैसा है कि कई बार राख–खाक होने पर भी बार–बार जनम लेकर आत्मा को दुखी करता है। अभी भी कर रहा है। अतः आत्मा को सुरक्षित रखना चाहते हो तो काया को नहीं कर्मों को जलाओ, जिससे पुनः शरीर ना मिले।

मूकमाटी मात्र कवि कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक संत की आत्मा का संगीत है। इस महाकाव्य का सृजन आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। यह कृति अधिक परिमाण में काव्य है या अध्यात्म, कहना कठिन है, लेकिन निश्चय ही यह है कि आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र।

लक्ष्मीचन्द्र जैन
निदेशक–भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली

अध्यात्म और कविता दोनों को पग–पग पर गुम्फित करती हुई 'मूकमाटी' जैसी सशक्त कृति देकर आचार्य श्री विद्यासागरजी ने केवल भक्तों एवं साधकों पर महान् उपकार किया है बल्कि हिन्दी साहित्य को भी अभूतपूर्व समृद्धि प्रदान की है।

विष्णुकान्त शास्त्री
पूर्व राज्यपाल–उत्तरप्रदेश

मूकमाटी एक प्रकार से जीवन संहिता है। वह रत्नों का सागर है। इस सागर में जो जितनी गहरी डुबकी लगायेगा, उतने ही अनमोल रत्न उसके हाथ लगेंगे।

पद्मश्री यशपाल जैन
पूर्व मंत्री–सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

स्थान–स्थान पर अलंकारों की छटा, चुटीले कथोपकथन, पात्रों का सजीव चित्रण, शब्दों की आत्मा का दर्शन 'मूकमाटी' महाकाव्य की गत शताब्दी के अन्तिम दशक का हृदयग्राही काव्य सिद्ध करता है। इस अप्रतिम महाकाव्य से जो जीवन दृष्टि मिलती है वह अनुपम है।

डॉ॰ कैलाशचन्द भाटिया
पूर्व प्रोफे॰ हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएँ, नई दिल्ली

सोपान ९
माटी की रौंदन क्रिया में रुकावट

लेखनी द्वारा प्रवचन कला प्रवण वक्ता और श्रोता की मीसांसा, शिल्पी द्वारा माटी को रौंदने की क्रिया प्रारम्भ करना। हाथ-पैर का कर्त्तव्य क्षेत्र, दाहिना पैर का अचेत हो माटी को रौंदने हेतु असमर्थ होना। दूसरे पद द्वारा प्रभु से प्रार्थना माँ माटी को रौंदना संभव नहीं।

इस क्षण माटी की मनोदशा, म्लान बना शिल्पी का मन, उसी के साथ हुए मुख, रसना, नासिका, आँखें और सभी अंग-उपांग। मौन से बड़ा कौन, मौन का कथन, आस्था, निष्ठा, प्रतिष्ठा, प्राण-प्रतिष्ठा, संस्था और सच्चिदानंद संस्था का विकास, अव्यय दशा की प्राप्ति, आस्था की पकड़। शिल्पी द्वारा चेतन पक्ष का स्मरण, तन, मन, वचन रूप प्रकृति का पुरुष को सहयोग कितना ? धोखा, फिर भी कुछ पाने की आस।

प्रकृति ने भी अपनी बात रखी-प्रकृति नहीं, पापपुंज पुरुष है। किस पर किस का नियन्त्रण हो समझाते हुए चेतन सक्रिय होता है, उसके साथ तन भी सक्रिय हो, माटी की रौंदन क्रिया प्रारम्भ होती है। माटी की मृदुता ने कहा-पूरा चल कर विश्राम करो सो शिल्पी का तन-मन पुनः स्फूर्ति से जुट जाता है अपने काम में।

---

१४. आनन्द साहित्य रस का

काँटे की जिज्ञासा, शिल्पी का समाधान सुनती रही लेखनी और प्रासंगिक विषय साहित्य पर वह भी कुछ कहती है। जिस प्रकार रसोइया की जिह्वा रसदार भोजन का आनन्द/रसास्वादन कम कर पाती है, उसी प्रकार प्रवचनकार और लेखक भी साहित्य रस का उतना आनन्द नहीं ले पाता, जितना की क्षीर-नीर विवेकी, हंस समान प्रवचन सुनने की कला में कुशल, श्रद्धा से भरा श्रोता आनन्द लेता है।

इसका कारण यह है कि प्रवचन काल में प्रवचनकार और लेखनकाल में लेखक दोनों सोच-विचार में डूबते हैं कि आगे क्या बोलना अथवा आगे क्या लिखना है। उस समय ना कुछ अनुभव होता है, ना कुछ रस और ना ही नीरसता की बात। केवल लगाव रहित अतीत और वर्तमान में टकराव रहता है बस।

१५. कर कायर : पर पाँव ना

माटी को रौंदकर लोंदा बनाने हेतु शिल्पी का माटी के पास आना हो रहा है। फूली माटी को रौंदना है, रौंदन क्रिया हाथ से सम्भव नहीं, क्योंकि माटी को चिकनाई की चरमता तक पहुँचाना है। यह कार्य पैरों के द्वारा ही संभव है। हाथ प्रायः कर्त्तव्य के क्षेत्र में कायर ही बनते हैं। माँगने की बात हो तो खुलकर दोनों हाथों को फैलाकर धन–पैसा माँगते हैं, फिर मानवता से नीचे गिर, मानवत्ता यानी अहंकार, अभिमान से भर जाते हैं। जबकि पैर इससे विपरीत स्वभाव वाला है, परिश्रम का आदि बना सदा परिश्रम करता है। प्रायः चोट खा घायल बनता है। फिर सदा नम्रता से मिलता है और निज को पवित्र, पूज्य बना लेता है।

जैसे ही शिल्पी माटी को रौंदने के लिए अपना दाहिना पैर उठाने का भाव करता है कि उसे अनुभव होता है मानो उसके दाहिने पैर में खून जम–सा गया। वह चेतना शून्य हो रहा है और बाँया पैर प्रभु से प्रार्थना करता हुआ कुछ कहता है–

"पदाभिलाषी बन कर
पर पर पद-पात न करूँ
उत्पात न करूँ,
कभी भी किसी जीवन को
पद-दलित नहीं करूँ, हे प्रभो !" (पृ० ११५)

हे भगवन्! तुच्छ-नश्वर पदों की इच्छा लेकर दूसरों पर पैर ना रखूँ, ना ही किसी को बुरा कहूँ, कष्ट दूँ और ना कभी किसी को पैरों तले रौंदूँ। सच्चा भक्त तो वही है, जो ईश्वर पद के सिवाय अन्य पद[१] की चाह न रखे और रखे भी तो दूसरों को गिराकर, दबाकर, बुरा बनाकर नहीं, किन्तु सबको अपना बनाकर और फिर स्वभावतः शान्त परिणाम वाली माँ माटी के मस्तक पर पैर रखना, संभव नहीं होगा हमसे।

यह कार्य तो कल्याणकारी, मंगलदायक क्षेत्र पर प्रलय करना, प्रेम वात्सल्य के शिखर पर निर्दय होकर वज्रपात[२] करने के समान होगा। माटी पर पैर रख कर, इस युग को सुख-शान्ति से रहित नहीं करना है और दुख, थकावट से नहीं भरना है।

१६. राह : रसातल की

शिल्पी किंकर्त्तव्यविमूढ़ (दुविधा भरी स्थिति, जो यह समझ ना सके कि अब क्या करना है)-सा खड़ा है। कुछ क्षण के लिए माटी के मन में आकुलता, बैचेनी-सी होने लगी। सोचती है वह कि अब आगे क्या होगा पता नहीं। जो घटेगा, वह मेरी जीवन विकास-यात्रा के अनुकूल होगा कि नहीं, यह सब भविष्य की बात है। हम-तुम क्या जानें ? किन्तु जो भूत, भविष्य और वर्तमान को जानने वाले सर्वज्ञ प्रभु हैं उनके दिव्य-पूर्णज्ञान में सब कुछ स्पष्ट दिख रहा है और तब माटी की बुद्धि भी मौन हो जाती है।

ऐसी दशा में मलिन हुआ मन भी पैरों को आज्ञा देने में पूर्ण असमर्थ हो चुप रहा और मन के संकेत पाये बिना मुख भी कुछ कह ना सका। पर रसना कह उठी कि यदि उचित कार्य हो तभी बोलना ठीक है अन्यथा नरक की राह पकड़नी होगी यानी-

"...जो जीव
अपनी जीभ जीतता है
दुःख रीतता है उसी का

---

१. पद = राजकीय, सैनिक आदि सेवाओं में अधिकार का ऊँचा स्थान।
२. वज्रपात = आकाश में बिजली चमकने और बादल गरजने के बाद विद्युत प्रवाह का आकाश से चलकर पृथ्वी पर कहीं आ गिरना जो बहुत नाशक और घातक होता है।

सुखमय जीवन बीतता है
चिरंजीव बनता वही
और
उसी की बनती वचनावली
स्व-पर-दु:ख-निवारिणी
संजीवनी बटी...!'' (पृ० ११६-११७)

पाँच इन्द्रियों[१] में रसना इन्द्रिय को जीतना सबसे ज्यादा कठिन कहा है, जिसने रसना को जीत लिया उसने सारी दुनिया को जीत लिया। फिर उस जितेन्द्रिय का जीवन दुख से खाली हो, अनन्तकाल तक सुखमय बीतता है। उस व्यक्ति के मुख से निकले वचन अपने और पर के दुखों को दूर करने वाले बनते हैं संजीवनी बटी के समान।

चलना, अनुचित चलना और कुचलना[२]–ये तीन बातें हैं। यहाँ प्रसंग है कुचलने का। माँ माटी कुचली जायेगी। फिर भला मैं क्या कहूँ, क्यों कहूँ, किस प्रकार से कहूँ पदों को और गम्भीर हो चुप हो जाती है रसना। उपरिल वार्ता को शिल्पी की नासिका ने भी सुना और इस घृणित कार्य की निन्दा करती हुई थोड़ा-सा अपने को मरोड़ती, पैरों का समर्थन करती हुई कहती है कि पदों (दोनों पैरों) का कुचलने के कार्य से विराम लेना न्यायोचित[३] है और पद के अनुकूल भी।

इधर माथे का तेज भी फीका पड़ने लगा, नेत्रों ने भी अपनी ज्योति को भीतर भेज पलकें बंद कर लीं। लगता है उसने भी कुचलने रूप कृत्य का असमर्थन किया है। संक्षेप में कहें तो शिल्पी के अंग-उपांग सभी ने पैरों का ही समर्थन किया है।

१७. बड़ा : मौन से कौन ?

माटी और शिल्पी दोनों मौन की ओर निहार रहे हैं। सो एक प्रश्न खड़ा होता है–मौन से कौन बड़ा है ? इसके जबाब में मौन बोलता है, जो मौन की भाषा को समझ सके वह मौन से भी बड़ा है, क्योंकि मौन तो पोल यानी आकाश के समान सीमातीत है, सदा शुद्ध तथा शुद्ध केवलज्ञान को उत्पन्न कराने वाला है।

शब्दों का शरीर सीमा से बँधा होता है, ढोलक की रचना भी सीमा से ही

---

१. पाँच इन्द्रिय = स्पर्शन (त्वचा), रसना (जीभ), घ्राण (नाक), चक्षु (आँख), कर्ण (कान)।
२. कुचलना = बार-बार पैरों से दबाना या चोट पहुँचाना।
३. न्यायोचित्त = उचित या नियम के अनुकूल बात।

सुरक्षित होती है। परन्तु अनन्त आकाश के समान मौन विशाल रहस्य को लिए होता है। इसलिए महापुरुष प्रायः मौन का ही आश्रय लेते हैं। तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद बोलते ही नहीं, केवलज्ञान होने के बाद बोलते भी हैं तो बुद्धिपूर्वक नहीं।

अब मौन स्वयं समतामय मधुर शब्दों में कुछ कहता है माटी से कि शिल्पी के विषय में तेरी श्रद्धा, आस्था कुछ कमजोर-सी, अस्थिर लग रही है। देख सागर को लक्ष्य बनाकर बहती सरिता, अस्थिर होते हुए भी आस्था वाली होती है। आस्था के साथ आचरण होने पर वही आस्था निष्ठा के रूप में बदलती है, तभी आनंद की अनुभूति होती है, निष्ठा यानी स्वानुभूति का फल ही प्राण प्रतिष्ठा यानी अरिहंत दशा है, जिससे जन-जन का कल्याण होता है और धीरे-धीरे प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा यानी चरम सीमा की ओर कदम बढ़ाती हुई वही आस्था समीचीन संस्था यानी सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है। तब वही आस्था सदा-सदा के लिए आवागमन, क्षणभंगुरता को छोड़ शाश्वत पद को प्राप्त करती है। इसलिए शिल्पी के विषय में तुम्हें अपनी श्रद्धा कम नहीं करनी चाहिए।

मौन की बात सुन माटी की आस्था ललकारती हुई कहती है मौन से–हे मौन! तू आस्था की बात तो कर रहा है किन्तु आस्था से बात भी तो कर अर्थात् अपने जीवन में भी श्रद्धा तो जगा। मैं पाप से मौन हूँ तो तू श्रद्धा से मौन/रहित। तुझमें पाप ही पाप छुपा है। श्रद्धा का दर्शन ना ही आँखों से संभव है और ना ही आशा से। वह तो श्रद्धा से ही संभव है। आँखों से इच्छाओं को तो पकड़ा जा सकता है किन्तु श्रद्धा को नहीं।

पुण्य-पाप से रची इस दुनिया का रहस्य चर्म दृष्टि से नहीं किन्तु आस्था की धर्म दृष्टि से ही पकड़ में आ सकता है। इतना कहकर माटी की आस्था, भीतर की ओर वापस लौटती हुई लाल आँखों से मौन को डराती-सी लगी कि शिल्पी की नीली आँखों से नीलिमा गिरते ही आस्था शान्त हो जाती है।

१८. महिमा : अज्ञान की

शिल्पी ने देखा की तन का पक्ष मजबूत बना, विपक्ष के रूप में खड़ा है। माटी की रौंदन क्रिया पूर्ण करनी ही है, अतः दूसरे पक्ष चेतन को जागृत किया, यह कहकर–

> **"तन, मन, वचन ये**
> **बार-बार बहु बार मिले हैं,**
> **और**
> **प्राप्त स्थिति पूरी कर**

तरलदार हो पिघले हैं,
मोह-मूढ़तावश
इन्हें हम गले लगायें
परन्तु खेद है,
पुरुष के साथ रह कर भी
पुरुष का साथ नहीं देते ये।'' (पृ० १२२)

अनादिकाल (जिसका कोई प्रारम्भ न हो, ऐसा काल) से आज तक पौद्गलिक मन-वचन-काय अनेक बार मिले हैं और अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण कर नष्ट हुए हैं। अज्ञानता के कारण ही हमने इन्हें स्वीकार किया, अपनाया। किन्तु दुख की बात है कि आत्मा के साथ रहकर भी इन्होंने कभी आत्मा का साथ नहीं दिया। यदि कुछ दिया भी है तो सारभूत नहीं निस्सार (क्षणिक सुख, सुखाभास) ही दिया, मात्र धोखा दिया।

इतने पर भी यह पागल संसारी आत्मा बार-बार धोखा खाता, रोता और आँखों से निकलने वाले आँसुओं से अपने मुख को धो, पुनः धोखा ही खाता आ रहा है प्रकृति यानी पौद्गलिक पर-पदार्थों से, अन्य सम्बन्धियों से। इतना सब होने के बाद आज भी यह मौका देखता है कि जड़ पदार्थों, मन-वचन-काय एवं अन्य सम्बन्धियों से कुछ अभूतपूर्व सुख/आनन्द मिलने का। क्या करें! अज्ञान की महिमा है। इसी बीच चेतन शिल्पी को अपना कुछ आशय बताता है-

''वेतन वाले वतन की ओर
कम ध्यान दे पाते हैं
और
चेतन वाले तन की ओर
कब ध्यान दे पाते हैं !'' (पृ० १२३)

सीमित धन लेकर देश की सेवा करने वाले प्रायः देश की ओर कम ही ध्यान दे पाते हैं और राजा जिसे राज्य से वेतन नहीं मिलता, किन्तु देश के प्रति समर्पण के कारण ही वह रणभूमि में लड़ते हुए अपने प्राण भी त्याग कर देता है। इसी प्रकार चेतन को जिसने पहचान लिया, चेतन को पाने की जिसके अन्तःकरण में प्यास जगी है, ऐसे महामानव मुनि महाराज शरीर की ओर कब ध्यान देते हैं ? इसलिए तो श्रमणों[१] का मरण वन में हुआ करता है सम्यक् चारित्र रूप ध्वजा की

१. श्रमण = दिगम्बर जैन मुनि के लिए प्रयुक्त शब्द।

रक्षा करते हुए। जिस आत्मधर्म/वीतरागरूप धर्मध्वजा की छाया में सारी धरती सानन्द, सुखमय जीवन व्यतीत करती आ रही है।

१९. पापी कौन : प्रकृति या पुरुष ?

शिल्पी से अपनी निरुपयोगिता, कटु आलोचना सुन प्रकृति क्रोधित हो उठी। उसके नेत्र लाल-लाल हो गये। शरीर कुरूप-सा बना। उसके ललाट तट पर लिखी हुई थीं कुछ पंक्तियाँ–

''प्रकृति नहीं, पाप-पुञ्ज पुरुष है,
प्रकृति की संस्कृति-परम्परा
पर से पराभूत नहीं हुई,
अपितु
अपनेपन में तत्परा है।'' (पृ० १२४)

पुद्‌गल ने नहीं आत्मा ने ही अपने स्वभाव को छोड़, पर को ग्रहण किया है। इसलिए पाप का सागर पुरुषात्मा है, प्रकृति नहीं। पुद्‌गल ने कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा, ना ही किसी के वशीभूत हो हार स्वीकार की।

पुनः प्रकृति[१] पुरुष[२] को कुछ उपदेश देती है सही-सही पुरुषार्थ के रूप में कि हे चेतन! जो अपने से भिन्न, पर है; उसे कभी भी स्वीकार नहीं करो। हाँ इतना जरूर है कि पर को जानो-देखो अवश्य, उस पर विचार भी करो। उसमें जो अपना हो, हितकारी हो उसे निर्णय कर स्वीकार करो।

पर को छोड़ दो, मन में विषय-वासनाओं[३], मोह को मत रखो। क्योंकि जानना-देखना तो चेतन का स्वभाव है। वह समाप्त भी नहीं हो सकता, किन्तु जिसे जाना है, देखा है उन सबको स्वीकार किया ही जाये जरूरी नहीं है। वह तो मोह का परिणाम है।

फिर सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष/अपराध की पकड़ की जाये तो यह बात स्पष्ट हो जाती है–

''ज्ञान का पदार्थ की ओर
ढुलक जाना ही
परम-आर्त पीड़ा है,

---

१. प्रकृति = रूपात्मक जगत्, जड़ पदार्थ, अजीव।

२. पुरुष = चेतन पदार्थ, आत्मा, जीव।

३. वासना = कुछ पाने की इच्छा या कामना।

और
ज्ञान में पदार्थों का
झलक आना ही-
परमार्थ क्रीड़ा है।'' (पृ० १२४)

ज्ञान जब पदार्थों की ओर प्रवृत होता है, पदार्थों को जानने का प्रयास करता है तो अत्यन्त दुख का कारण बनता है, ज्ञाता पीड़ित होता है और जब ज्ञान में पदार्थ स्वयमेव झलक आता/प्रतिबिम्बित होता है, तब परम आनंद उत्पन्न होता है। परमार्थ यानी श्रेष्ठ प्रयोजन केवलज्ञान का आमोद-प्रमोद (सुख-चैन, भोग-विलास) है वह।

विशेष—उदाहरण से समझें तो आँखें दिन भर खुली रहती हैं। सब दिखता रहता है किन्तु विशेष थकान, पीड़ा की अनुभूति नहीं होती। वहीं आँखें जब कुछ देर तक लगातार एक विषय पर टिक जाती हैं (पुस्तक पढ़ने, टी.वी. देखने आदि कार्यों में) तो पीड़ा-थकान का अनुभव होने लगता है।

अतः **ज्ञानी आत्मा का जड़ की ओर जाना, निज वैभव को छोड़ दरिद्रता को धारण करना, अपनी हार से लज्जित होना है।** जबकि आत्मा में पदार्थों का झलक आना, स्वाधीनता के साथ प्रयोजनभूत तत्त्व (केवलज्ञान, अव्याबाध सुख आदि) से शृंगारित होना है।

गुणी[१] से ऊपर चोट पड़ने पर गुण भी उसकी चपेट में आता ही है क्योंकि गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं रहते और यहाँ भी यही हुआ है—प्रकृति ने पुरुष को उपदेश दिया, सत्य का बोध कराया और चेतन ने भी उसे स्वीकार किया। ठीक ही है, जड़ में जल देने पर पूरा पेड़ फलता-फूलता है और मूल को ही काट देने पर पूरा पेड़ सूख जाता है। मूल अर्थात् चेतन को बात समझ में आ गई, वह जागृत हुआ स्व-पर के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालता है/स्पष्ट करता है—

२०. नियन्त्रण किसका : किस पर

पुरुष (आत्मा) का पुद्गल पर नहीं किन्तु चेतना (निज ज्ञान-दर्शन) पर नियंत्रण होना चाहिए। चेतन का नियंत्रण इन्द्रिय समूह पर नहीं किन्तु मन पर होना चाहिए। मन का नियंत्रण शरीर पर नहीं किन्तु इन्द्रिय समूह पर होना चाहिए और इन्द्रिय समूह का नियंत्रण, शासन सदा शरीर पर होना चाहिए। फिर भी इतना जरूर

---

१. गुणी = जो गुण को धारण करे। पुरुष है गुणी तो चेतन उसका गुण है। जो सुख-दुख का अनुभव करे, सो चेतन है।

ध्यान रखना चाहिए कि **शरीर किसी का शासक स्वामी न बने, वह शासित-सेवक ही बने, कारण तन भोग्य है भोक्ता नहीं।** भोक्ता तो अनन्त गुणों का स्वामी, संवेदन करने वाला पुरुष ही सब शासकों का शासक हो सकता है अन्य नहीं। भावार्थ यह हुआ कि आत्मा चेतन को, चेतन मन को, मन इन्द्रिय समूह को, इन्द्रिय समूह तन को वश में रखें, किन्तु आत्मा के वश में सब हो तन के वश में कोई नहीं।

चेतन की क्रियावती शक्ति जागृत हुई, शिल्पी के ओठों पर मन्द मधुरिम मुस्कान उभर आती है। उपयोग (आत्मा का परिणाम) में परिवर्तन आते ही मन, वचन और काय सभी अपने काम में लग गये, चालक से संचालित यन्त्र के समान।

शिल्पी का दाहिना पैर कार्य प्रारम्भ करता हुआ धीरे-धीरे माटी पर उतरता है और चाँदनी को तरसती चकवी (एक मादा पक्षी) के समान माटी, शिल्पी चरण का स्वागत करती है और शीघ्रता से उलटती-पलटती वह। शिल्पी के पदों ने अनुभव किया-माटी की मृदुता का स्पर्श, अस्पर्शी (जिसे छुआ न जा सके) प्रभु के स्पर्श को भी पार कर रहा है, असम्भव कार्य संभव-सा लगा। माटी की मृदुता के समक्ष मखमल के समान कोमल मार्दव का मान भी फीका पड़ गया। कोमल कोंपलों की मुलायमता भी कहीं खो गई।

२१. रहस्य : चेतन सत्ता का

इधर माटी की मृदुता भी चुप ना रह सकी और चेतन सत्ता का रहस्य खोलती हुई कहती है– चेतन के कारण ही जिन आँखों में काजल के समान करुणता बसी है, सिखा रही है ''चेतन को जानो-पहचानो''। प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल होंठ कह रहे हैं ''सदा समता धारण करो''। गालों की तरुणता कह रही है ''समुचित बल का प्रयोग करो''। भौंरों के रंग को हरने वाली बालों की कुटिलता सुनाती है, ''शरीर का ज्यादा सम्मान मत करो।''

''जिन चरणों में
सादर आली
चरणाई वह
पुलक आई है
गुनगुना रही है–
पूरा चल कर

विश्राम करो...।'' (पृ॰ १२९)

पैरों में जो चलने की शक्ति आयी है वह गुनगुनाती है ''पूरा चलकर ही विश्राम/आराम करो।'' और सुनो इस चेतन सत्ता का कोई ओर-छोर किनारा भी नहीं है, अनादि अनन्त है। जो भी कुछ तुम्हें बता पाई वह रेत के समुद्र से निकाले गये एक कण के समान, सागर की एक बूँद के समान ही है। वह भी वहीं से ली और वहीं छोड़ दी, यूँ कहती-कहती प्रसन्नचित्त माटी की मृदुता मौन हो जाती है।

मृदुता की सीख ''पूरा चल कर विश्राम करो'' सुनते ही शिल्पी ने चेतन को पुनः और जागृत किया। मन को झकझोर डाला, जिससे शिथिल पड़े तन में भी स्फूर्ति आयी। रौंदन क्रिया और तेज हो गई। शिल्पी के पैर जाँघों तक मिट्टी में डूब गये मिट्टी भी शिल्पी की पिंडरियों में लिपटने लगी, सुगन्ध की प्यासी नागिन, जैसे चन्दन वृक्ष पर लिपटती है।

मूकमाटी में एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है और यह आनन्द आचार्य श्री की तर्क शैली के कारण आता है। यह महाकाव्य है या खण्डकाव्य—इन कोटियों से यह काव्य परे है। इसे एक नया प्रयोग मानना चाहिए। और इस प्रयोगशीलता तथा मौलिकता के कारण मूकमाटी एक रोचक और दिलचस्प महाकाव्य या बड़ा काव्य है।

डॉ॰ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
पूर्व कुलपति
कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर

इसमें निहित बिम्ब विधान, प्रतीक योजना, शब्द प्रयोग, चिन्तन पद्धति कबीर की याद दिलाती है। काव्य में प्रयुक्त आप्तवचन, सूत्रवाक्य, वक्तव्य आदि कवि के चिन्तन की सफाई और अभिव्यक्ति की सादगी को प्रकट करते हैं। रसपरिपाक, वाग्वैचित्र्य, वाणी की विदग्धता, रमणीक अभिव्यंजना, अनुप्रास की छटा, अलंकारों का सौन्दर्य आदि शृंगार कवियों की याद दिलाते हैं।

डॉ॰ शरेशचन्द्र चुलकीमठ
अध्यक्ष-हिन्दी विभाग
कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, कर्नाटक

सोपान १०
माटी से निकलते भिन्न-भिन्न रस

शिल्पी की पिंडरियों से लिपटती माटी में से फूटता है वीर रस, माटी की महासत्ता के अधरों से फिसलता हास्य रस, रसातल में उबलता रौद्र रस, भय-महाभय सभी शिल्पी के जीवन में अपनी अनुपयोगिता सुन चुप हो जाते हैं। रौद्र को रुग्ण और भय को भयभीत देख, विस्मय को भी विस्मय (आश्चर्य) होने लगा। इस स्थिति में श्रृंगार का मुख भी सूख गया।

शिल्पी की प्रभु से प्रार्थना, भीतरी आयाम (चिन्तन) और श्रृंगार को सम्बोधन, सही श्रृंगार भीतर झाँको। श्रृंगार की कोमलता को अनित्यता का बोध, अर्थ-परमार्थ की समीचीन भूमिका। श्रृंगार ने विदेही बनने हेतु स्वर स्वीकारता की बात कही तब शिल्पी के साफे ने स्वर की नश्वरता बताते हुए उसे भी नकारा। चिन्तन में डूबा शिल्पी सही संगीत का स्वरूप विचारता है।

स्वर की नश्वरता और सारहीनता सुन वीभत्स रस ने भी श्रृंगार को नकारा। श्रृंगार की नाक से बहते मल का स्वाद लेती रसना को देख कुपित हो प्रकृति माँ ने श्रृंगार के गालों पर चाटे लगाए सो माँ को अपने कर्त्तव्य की ओर इंगित किया। प्रकृति माँ की आँखों से रोती हुई करुणा द्वारा रसों को सम्बोधन-जीवन को मत रण बनाओ, प्रकृति माँ का वृण सुखाओ, ऋण चुकाओ। पुनः गंभीर हो अपने अस्तित्व को मिटाने की प्रभु से प्रार्थना। यह सब सुन बिलखती लेखनी द्वारा विश्व के चालाक चालकों की समीक्षा।

---

२२. प्याला : वीर रस का

शिल्पी के पैरों से लिपटती हुई माटी की भुजाओं से पैदा होता है वीर रस, और वह पूछता है शिल्पी से कि मुझे क्यों याद किया। वीरों का आदरणीय, सदियों से दुनिया को शक्ति प्रदाता वीर रस उपस्थित है। तुम भी वीर रस का पान करो, तुम्हारी भी विजय की इच्छा पूर्ण हो, युगवीर, महावीर, अक्षतवीर बनो। वीर रस की बात सुनकर, वीरता के साथ ही शिल्पी का वीर्य (पौरुष, साहस)भी बोलता है कि तुम अहंकार के नशे में बोल रहे हो। वीर रस के विषय में हमारा पक्का विश्वास अटूट श्रद्धान बन चुका है-

"वीर रस से तीर का मिलना
कभी सम्भव नहीं है
और
वीर रस से
पीर का मिटना
त्रिकाल असम्भव!" (पृ०१३१)

वीर रस के प्रयोग से संसार का किनारा मिल नहीं सकता और तीन काल में पीड़ा मिट नहीं सकती। अग्नि का संयोग पाकर उबलता हुआ जल अग्नि बुझाने में फिर भी कारण बन सकता है, किन्तु वीर रस को पीने से मानव का खून ही उबलने लगता है, माहौल शान्त होने की अपेक्षा और बिगड़ने लगता है। जीवन में उच्छ्रंखलता (स्वेच्छाचारिता) की अधिकता, दूसरों पर अधिकार चलाने का भाव इसी वीर-रस (साहित्यिक नौ रसों में एक रस, जिसका स्थायी भाव उत्साह है) का दुष्परिणाम है। वैसे मानव का मान बबूल के ठूँठ की भाँति कड़ा और खड़ा रहता है दूसरों को हीन देखता दिखाता हुआ। मान को थोड़ी-सी ठेस पहुँचते ही वीर रस चिल्लाने लगता है, महापुरुषों की सहनशीलता, नम्रता, परोपकार आदि सद्‌गुणों को भूलकर।

२३. मनु की नीति : मानवों को

शिल्पी पूछता है कि युग निर्माता, आदि ब्रह्मा, आदिनाथ ने जो नीति (व्यावहारिक जीवन, जीने का ढंग, तरीका) मानवों को दी थी, वे सब भुला दी गई हैं या नष्ट ही हो गई हैं–

"पहला पद वही हो–
मान का मनन जो,
अगला पद सही हो
मान का हनन हो,
वह भी आमूल ! भूल न हो!" (पृ० १३२)

मनुष्य जीवन मिला है, यदि कुछ धर्म पुरुषार्थ करना चाहते हो तो सबसे पहले मान के विषय में चिन्तन करो कि मान है क्या ? इसका परिणाम क्या है ? जिस वस्तु को आधार बनाकर मान किया जाता है, वह कब तक स्थिर है ? सोचो मान एक कषाय है, मन ही इसका जन्मदाता है, इसका परिणाम नरकादि दुर्गतियों में जा दुख ही पाना है और फिर जिस रूप, धन, परिवार, ज्ञान, बल आदि को

लेकर मान किया जाता है वे सब शीघ्र नाशवान, कर्मों के अधीन हैं। भरत चक्रवर्ती, पाण्डव, रावण जैसे बलशाली महापुरुषों को भी पराजय का मुख देखना पड़ा। तथा दूसरे चरण में मान का त्याग हो, वह भी थोड़ा-सा नहीं पूरा का पूरा। इसमें तनिक भी भूल नहीं होनी चाहिए।

शिल्पी के मुख से वीर रस की अनुपयोगिता और अनादर सुन माटी के होंठों से फिसलकर, ठहाका मारता हुआ हास्य रस निकला। और शिल्पी से कहता है–वीर रस की उपयोगिता वीर लोग ही जानते हैं इसका अपना एक इतिहास है। तुम इसकी हँसी न करो। जो वीर नहीं, कायर हैं, ऐसे लोगों के इतिहास पर न रोना बनता है और न हँसना। उन्हें जीवन भर कोई सम्मान, आदर नहीं मिलता। यदि उनके ऊपर कभी गुलाल डाली भी जाती है तो जीवित अवस्था में नहीं, मरने के बाद अर्थी पर या तस्वीर पर (गुलाल के द्वारा विजयी वीरों का सम्मान किया जाता है)।

और इतना कहकर हँसते हुए हास्य रस ने एक कहावत और कह डाली। "आधा भोजन कीजिए, दुगुणा पानी पीव, तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी वर्ष सवा सौ जीव।" अर्थ यह हुआ कि दीर्घायु के लिए हास्य रस का होना अनिवार्य है और फिर–

"प्रसन्नता आसन्न भव्य की आली है
प्रसन्नता एक आश्रय, दिव्य डाली है
जिस पर...
गुणों के फूलों-फलों के दल
सदा-सदा दोलायित होते हैं।" (पृ० १३३)

जो निकट भव्य है, शीघ्र ही सच्चा सुख पाना चाहता है, ऐसे पुरुष के लिए प्रसन्नता ही परम मित्र है। प्रसन्नता वह अलौकिक सहारा है जिसके आश्रय से ही सद्गुणों के फल-फूल उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्रसन्न व्यक्ति के जीवन में सदा अच्छे-अच्छे गुण विकास को प्राप्त होते हैं। प्रसन्न मानव जीवन में आने वाले हर कष्टों, संकटों को सहन कर लेता है, काँटों के बीच खिलखिलाता गुलाब इस बात का प्रतीक है। प्रसन्नता स्वास्थ्यवर्धक पेय है, जितने भी महापुरुष हुए सभी ने प्रसन्नता (हास्य रस) का सहारा लिया है, इसलिए हमारी उपयोगिता तो आपको स्वीकारनी ही होगी शिल्पी जी!

हास्य की बात सुन शिल्पी बोलता है–ओ हँसिया! हँस-हँस कर अपनी इतनी बढ़ाई मत कर, ज्यादा बातें मत बना। हम तुझसे भी सहमत नहीं हैं। सच्चाई की, तत्त्वज्ञान की बातों के समान हँसी-हँसी की बात हम स्वीकार नहीं कर सकते। यद्यपि कुछ शोक, उदासीनता को दूर करने के लिए हास्य भाव का होना आवश्यक है। यह हम मानते हैं, किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हेतु हास्य को भी पूर्णतः छोड़ना होता है, क्योंकि वह भी एक कषाय है ना और सुनो–

"हँसन-शीलवाला
प्रायः उतावला होता है
कार्याकार्य का विवेक
गम्भीरता धीरता कहाँ उसमें ?
बालक-सम बावला होता है वह।"(पृ० १३३-१३४)

हमेशा हँसते ही रहना जिसका स्वभाव होता है, प्रायः वह जल्दबाजी करने

वाला होता है। कब कौन-सा कार्य उचित है अथवा अनुचित, कब कहाँ, कितना क्या बोलना इत्यादि विवेक नहीं रहता उसमें। शीघ्रता से प्रतिकार करने वाला, जल्दी क्रोधित हो जाता है वह। मन की स्थिरता, चित्त की नम्रता, संतोष, पांडित्य, सहनशीलता, बड़प्पन आदि गुणों का अभाव रहता है एवं बालक-सम अज्ञानी रहता है हँसनशील व्यक्ति। इसलिए तो जिनकी बुद्धि आत्म तत्त्व के प्रति स्थिर हो गई है, ऐसे पुरुष ना ही हँसते हैं और ना ही संसार की मोह-माया में फँसते हैं। वे तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।

२५. पित्त भड़का : रौद्र का

शिल्पी के समक्ष अपनी बात नहीं बनते, अपनी चाल नहीं चलते देख हास्य रस ने मुख मोड़ लिया और अपने साथी रौद्र रस को याद किया जो कि माटी के बहुत भीतर, गहरे में उबल रहा था, क्रूर-दया रहित भयंकर नाग के समान काला था। हास्य रस की पराजय सुन उसका पित्त भड़क उठा, मन क्रोध से भर गया, भौंहें टेढ़ी हो गईं, आँखें लाल-लाल खूनी बनीं, लम्बी नासिका गुब्बारे जैसी फूलने लगी, नाक से लाल-लाल धूम्र मिश्रित क्रोध की लपटें निकलने लगीं।

''नाक में दम कर रक्खा'' कहावत ठीक ही लग रही है, क्योंकि क्रोध का भंडार नाक में ही छुपा होता है। इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि भीतर बारूद भरा हो और बम की बत्ती पर जलती हुई अगरबत्ती और लगा दी जाये तो बम फूटता ही है वैसी ही दशा रौद्र रस की प्रकट हो रही है। सात्त्विक गुणों का विनाश, तामसिक और राजसिक गुणों की अधिकता यहाँ देखी जा रही है।

शिल्पी यह सब देख रहा है और चन्द्रमा के समान प्रसन्न मुद्रा में, निर्भीकता के साथ रौद्र से कहता है कि—अब अपना ज्यादा परिचय मत दो। हम तुम्हारी प्रवृत्ति जानते हैं, किन्तु इतना जरूर याद रखो-

''रुद्रता विकृति है विकार
समिट-शीला होती है
भद्रता है प्रकृति का है प्रकार
अमिट-लीला होती है।'' (पृ० १३५)

तुम जो अपना रूप दिखा रहे हो, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसका प्रभाव कुछ समय के लिए पड़ सकता है, लेकिन इससे तुम्हारा अपना जीवन ही शीघ्र नष्ट हो जायेगा। इसलिए **रुद्रता छोड़कर भद्रता-सरलता को अपनाओ, क्योंकि सरलता आत्मा का स्वभाव है**, जो कभी भी नष्ट नहीं होता, शाश्वत

होकर शाश्वत पद दिलाने में कारण बनता है। और क्या तुमने यह सूक्ति नहीं सुनी?

''आमद कम, खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम, गुस्सा ज्यादा, लक्षण है पिट जाने का !''

अर्थात् आमदनी (धन की आय) कम हो और खर्चा ज्यादा हो तो परिवार का सुख- चैन मिट जाता है। ताकत कम हो और गुस्सा ज्यादा आवे तो पिटने के आसार (लक्षण) समझ में आते हैं।

२६. भयभीत मति : शिल्पी की

शिल्पी इतना ही कह पाया था कि उसकी बुद्धि/मति भी बिगड़ने लगी, भयभीत हो गई, कारण की सामने भय-महाभय आकर खड़ा हो गया। जिसका मुख बड़ी गुफा के समान खुला हुआ, आँखें सिंदूर के समान लाल, मुख से आधी बाहर निकली खून से लिप्त जीभ, जिसमें से खून की बूँदे टपक रहीं थीं, घूर-घूर कर शिल्पी की मति को देख रहा था। मति ने भी उसको देखा। लगा, मैं पाताल में गिरते-गिरते बची, प्राण निकलते-निकलते रुक गये। उसकी आँखों में चक्कर-सा आने लगा, धुँधलापन छा गया और भयभीत मति बचाओ-बचाओ चिल्लाती हुई शिल्पी की छाती से चिपक गई।

तुरन्त शिल्पी ने अभय का हाथ मति के सिर पर फेरा। बस इतना ही पर्याप्त था कि मति की पलकों में जागृति आयी। मति के सिर की लटें कुछ हिलीं-सी। इधर अभय प्रदाता शिल्पी खड़ा है तो सामने भय डटा हुआ है बीच में खड़ी है कुछ डरी-कुछ निर्भय शिल्पी की मति। देखना है कि किस ओर प्रभावित होती है वह। कुछ ही क्षण व्यतीत हुए कि चेतन शक्ति का भरपूर प्रभाव पड़ा। पौद्गलिक भय का प्रभाव प्राणहीन हुआ और भय रहित अभया बनती है शिल्पी की मति वह।

२७. विस्मित हुआ - विस्मय

शिल्पी के समक्ष वीर रस को भी कायर की भाँति पीठ दिखाते युद्ध भूमि से लौटते, रौद्र रस को पीड़ित के रूप में, भय रस को भयभीत के रूप में देखकर विस्मय रस (आश्चर्य, अचम्भा) भी आश्चर्यचकित रह गया। उसकी पलकें भी अपलक रह गईं, मुख से शब्द नहीं निकले। उसकी भूख भी मन्द पड़ गई (किसी कार्य के प्रति उत्साह समाप्त होना)। विस्मय की दशा देख श्रृंगार रस के मुख का पानी भी सूखने लगा। विषयी मानवों को सुख देने वाली श्रृंगार-कथा भी फीकी, प्रकाश रहित हो गई। दीर्घ श्वास लेता शिल्पी मन ही मन विचार करता है कि हे भगवान्! पञ्चेन्द्रियों के विषयों को भोगने में लीन, अन्ध बने हुए विषयान्धों को समीचीन प्रकाश, आत्म-तत्त्व का बोध कब मिलेगा ?

फिर शिल्पी के मुख से निकलते हैं कुछ शब्द—जो रस, स्पर्श, गंध और रूप से रहित निज आत्मा को चाह रहा है, उसे इन बाहरी रसादि में रस यानी आनंद कहाँ आवेगा ? इन्द्रियों को तृप्त करने की यह पद्धति कब से चल रही है किन्तु अब—

''यह चेतना मेरी
जाया चाहती है,
दर्श में बदलाहट,
काम नहीं अब,
...राम मिले !'' (पृ० १४०)

मेरी चेतना सही जीवन-साथी, दृष्टि में बदलाहट/परिवर्तन चाहती है। अब आतमराम मिले, विषय-वासना काम की चाह नहीं रही इस मन में। बाहर चल रही विषयों की गरम-गरम हवाओं से मेरी यह देह जल-सी गई है। अब धूप नहीं, शान्ति की छाँव से परिपूर्ण स्थान/शिवधाम मिले।

इस बीच शिल्पी का भीतरी पुरुषार्थ, चिन्तन-मनन भी बढ़ता जा रहा है।

कामदेव–मदन का प्रताप, तेज कम तो हुआ ही; तत्त्व का विचार, चिन्तन–मनन बहुत हुआ, अभी भी चल रहा है। मन थकता–सा, तन रुकता–सा लगता है। शिल्पी भावना भाता है, अब झाग यानी ऊपर–ऊपर दिखने वाला फेन[१] नहीं, किन्तु पाग यानी सारभूत मधुर वस्तु/तत्त्व मिले।

मैं मानता हूँ कि मैं भी अनन्त गुणों का धारी परमात्मा बन सकता हूँ किन्तु यह भव्य आत्मा आखिर इसी रूप में कब तक रहेगी ? कब इसके भीतर से शुद्धोपयोग की सुगंध[२] फूटेगी ? निज तत्त्व के उद्‌घाटन /प्रकटीकरण में बाधक ये ज्ञानावरणादि कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय) कब नष्ट होवेंगे ? अब राग रंग नहीं, किन्तु वीतरागता, वीतराग विज्ञान मिले, बस यही भावना है।

२८. सही शृंगार : चेतन का

शृंगार को कुछ बोध (ज्ञान) रूपी धन प्रदान करता हुआ शिल्पी कहता है–इस बात को स्वीकार करो अथवा ना करो, किन्तु संसार का हर एक प्राणी सुख चाहता है। रागी धन कमाकर, उसे इकट्ठा कर, विषय–भोग की सामग्री जोड़ कर तो त्यागी–वीतरागी परमार्थ केवलज्ञान अथवा निज शुद्ध आत्मा को उपलब्ध कर सुखी होना चाहता है। एक इन्द्रिय सुख को सुख मानता है तो दूसरा अतीन्द्रिय, आत्मिक सुख को सुख मानता है। सच्चा सुख कौन प्राप्त करता है, यह तो अपने उपादान (भीतरी योग्यता), सम्यग्ज्ञान पर ही आधारित है।

बाहरी इन्द्रिय सुख क्षणभंगुर (शीघ्र नष्ट होने वाला) कर्मों के आधीन, बाधा सहित, सुखाभास मात्र है, जबकि अतीन्द्रिय सुख स्वाधीन, शाश्वत, निराबाध है। सही शृंगार करना चाहते हो, **जीवन को सुखी बनाना चाहते हो तो भीतर चेतना की ओर देखो। उसे अलंकृत करो, सजाओ–संवारो।**

शिल्पी शृंगार रस की कोमलता को उसकी अनित्यता (नश्वरता) का बोध कराता हुआ कुछ पूछता है–

> ''**किसलय ये किसलिए**
> **किस लय में गीत गाते हैं** ?
> **किस वलय में से आ**
> **किस वलय में क्रीत जाते हैं** ?

१. फेन = पानी के छोटे–छोटे बुलबुलों का समूह।

२. शुद्धोपयोग की सुगंध = आत्मपरिणामों की निर्मल अवस्था से उत्पन्न होने वाला आनंद।

और
अन्त-अन्त में श्वास इनके
किस लय में रीत जाते हैं ?'' (पृ० १४१-१४२)

पेड़ की नई पत्तियाँ किसलिए आयीं, कैसे बड़ी हुईं, पुरानी हुईं, किस पर्याय से आयीं, किस पर्याय में चली गईं, बदल गईं। और अन्त में सूखकर गिर जाती हैं, क्यों ? यही तो संसार की अनित्यता है, कौन कहाँ से आता है, कब तक रहता है, क्यों रहता है, कहाँ चला जाता है। इसकी किसे खबर है ? तुम्हारी कोमलता, युवावस्था कब तक रहेगी। कुछ समय तक बस! इसलिए अर्थ और इन्द्रिय सुख में सुख मानने वालों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अर्थ की नहीं, परमार्थ की चाह होनी चाहिए।

२९. अतुलनीय परमार्थ

अर्थ (धन, सम्पदा) और परमार्थ (श्रेष्ठ प्रयोजनभूत अहिंसा आदि धर्म; परोपकार; मोक्ष; मुक्ति) के सूक्ष्म भेद को स्पष्ट करता हुआ शिल्पी कहता है कि सोना तौलने वाली तराजू अतुलनीय है, असाधारण होती है। सोना तुलता है इसलिए तुलनीय है। तराजू तुलती नहीं, तौलती है, इसलिए अतुलनीय है। इसी प्रकार **परमार्थ अतुलनीय है, उसे कभी भी अर्थ की तुला में तौलना नहीं चाहिए।** परमार्थ को अर्थ से तौलना यानी युग को अनर्थ के गड्ढे में डालना, सही-सही अर्थशास्त्र को नहीं जानना है। अर्थ का मूल्य जानने वालों को क्या यह अर्थ ज्ञात है ?

इन सारे प्रसंगों में संगीत के स्वर को किसी ने याद ही नहीं किया। यूँ धीमी आवाज में शृंगार कुछ बोलता है—स्वर को प्रकाशमान ईश्वर की उपमा दी गई है। ईश्वर शब्द में भी स्वर छिपा है, फिर स्वर के बिना शाश्वत, प्रकाशमान सुख का अनुभव कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

''स्वर संगीत का प्राण है
संगीत सुख की रीढ़ है
और
सुख पाना ही सबका ध्येय
इस विषय में सन्देह को गेह कहाँ ?
निःसंदेह कह सकते हैं—
विदेह बनना हो...तो

स्वर की देह को स्वीकारता देनी होगी
हे देहिन् ! हे शिल्पिन् !'' (पृ० १४३)

संगीत ही सुख का साधन/आधार है। इस विषय में किसी भी प्रकार से संदेह को स्थान नहीं देना चाहिए। अतः यदि देह रहित शुद्ध दशा, सच्चा सुख पाना चाहते हो तो, हे देहधारी पुरुष! हे शिल्पी!! स्वर/संगीत को अपनाना ही होगा...।

३०. सारे स्वर : रहे नश्वर

शृंगार के मुख से स्वर-संगीत की उपयोगिता/बड़ाई सुन शिल्पी का साफ सुथरा खादी का साफा (छोटी पगड़ी) स्पष्ट शब्दों में कहता है—स्वर संसारी जीव और नश्वर पुद्गल के संघर्ष से उत्पन्न होते हैं, शुद्ध आत्मा से नहीं। सुस्वर हो या दुस्वर सारे स्वर नाशवान हैं। ईश्वर, परमात्मा भले ही अविनाशी हैं, किन्तु उससे उत्पन्न स्वर (दिव्यध्वनि आदि) तो नाशवान ही हैं।

स्वर संगीत सुनने से जो सुख मिलता है, वह प्राथमिक दशा में सुख का बाह्य कारण तो बन सकता है, फिर भी स्वर ही साधना का लक्ष्य नहीं है और न ही सदा ग्रहण करने योग्य उपादेय। **साधक को यह अच्छी तरह से जान लेना चाहिए कि स्वर ना ही अनंत है और ना ही अमृत पेय। कारण उसमें भी राग छुपा होता है।** अध्यात्म दृष्टिकोण से स्वर-संगीत, साधक के लिए विषतुल्य हेय है।

और इधर चिन्तन की मुद्रा में लीन हुआ शिल्पी सोचता है–इन कानों ने अनादिकाल से आज तक कितनी बार, कितने मधुर-मधुर स्वर-संगीत को सुना, स्मरण किया, कुछ पता नहीं, किन्तु अन्तरात्मा आज तक आनन्द से भीगी नहीं, क्या आत्मोपलब्धि हो पाई ?

अतः संगीत को सुख की रीढ़ कहकर सही संगीत को समाप्त मत करो, ना ही अपनी प्रशंसा करो, हे श्रृंगार! सही संगीत क्या है ? मैं तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो हे श्रृंगार!

''संगीत उसे मैं मानता हूँ
जो संगातीत होता है
और
प्रीति उसे मैं मानता हूँ
जो अंगातीत होती है
मेरा संगी संगीत है
सप्त-स्वरों से अतीत...!'' (पृ० १४४-१४५)

सही संगीत मैं उसे मानता हूँ जो पर की अपेक्षा, सम्बन्धों से रहित होता है। सही प्रेम वह है जो शरीर से हठकर चेतन से किया जाता है। मेरा साथी संगीत तो सा रे ग मा आदि सात स्वरों से परे, स्वरातीत है।

३१. मेरा साथी : संगीत

श्रृंगार का एक-एक अंग तलवार की धार के समान जीवन को नष्ट करने वाला, संसार को धोखा देने वाला है। इसके प्रत्येक रंग में वासना की आग ही आग है। इसी आग में संसार जलता आ रहा है। इस वेदना को दूर करने के लिए एक अद्‌भुत औषध मिली है आज, जिसे पीते ही पल भर में तन की थकान नष्ट होती है और मन की गंदगी भी साफ हो जाती है। ऐसा मेरा साथी संगीत-समता रस से भरा, रंग रहित शान्त स्वभाव वाला है।

सभी बन्धनों से रहित, श्रमणों की अनुभूति का विषय मेरा साथी वह संगीत है जो किसी सीमा में बँधकर रह नहीं सकता। किसी तरह शब्दों से कहा नहीं जा सकता। समुद्र की विशालता की ओर देखने पर वह बहुत गंभीर, करोड़ों वर्षों की अवधि के प्रमाण वाला विस्तृत दिखता है और लहर की ओर दृष्टि जाने पर क्षणभंगुर, पल भर की आयु वाला दिखता है वही समुद्र। **द्रव्य की ओर दृष्टि जाने से जीव का कोई आदि अन्त नहीं, पर्याय की ओर दृष्टि जाने पर पल-**

पल जीवन नष्ट हो रहा है। ऐसे ही अनेक भंगों से सहित, अनेक गुणों में दिखता छिपता सप्त भंग (स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव, स्याद् अस्ति-नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव, स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव) की परम्परा वाला अनेकान्त धर्म (एक वस्तु में अनेक गुण-धर्म का होना। जैसे-पेन लम्बा है, सफेद है आदि) ही मेरा सही साथी संगीत है।

सुख के बिन्दु से भी दूर, दुख सागर में डूबा था मैं। कभी फूलमाल से सम्मान हुआ तो कभी पराजय से अपमान हुआ। कभी कुछ मिलने का लोभ मिला तो कभी कुछ मिटने पर घबराहट, आकुलता मिली। कोई अपना मिला तो कोई धोखेबाज। यह अभागा आज तक संसार में यूँ ही भटकता रहा किन्तु सब विपरीतताएँ आज मिट-सी गईं, जबसे मुझे मिला मेरा साथी संगीत कि तुम भी संसार को पराजित कर परमात्मा बन सकते हो, यह आत्मविश्वास (Self-confidance)।

३२. बहती नाक : शृंगार की

शृंगार के बहाव में बहने वाली प्रकृति ने शिल्पी के मुख से स्वर की नश्वरता और निस्सारता को सुना तो उसकी नाक और बहने लगी। उसमें से ऐसा घिनावना मल निकला, जिसे देखते ही ग्लानि पैदा होने लगी। उस पर राग को पैदा करने वाली, विषय भोग में रस लेने वाली मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं। ऐसा लगा बीभत्स रस ने भी शृंगार को स्वीकार नहीं किया। तभी तो सभी की नाकों से ङ, ञ, ण, न, म इत्यादि अनुनासिक नकारात्मक वर्ण ही निकलता है।

नाक से निकला मल ऊपरी होंठों पर चिपकता हुआ नीचे के होंठ पर भी उतर आया। शृंगार की जीभ ने बड़ी ही रुचि से उसका स्वाद लिया। शृंगार की अज्ञानता को देख सब रसों को जन्म देने वाली, मूल स्रोत प्रकृति माँ क्रोधित हो उठी और उसने शृंगार के गालों पर दो-चार चाँटे लगाए, जिससे उसके गाल प्रवाल पुष्प के समान लाल-लाल हो गये।

"सुत को प्रसूत कर
विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने मात्र से
माँ का सतीत्व वह
विश्रुत-सार्थक नहीं होता
प्रत्युत,
सुत-सन्तान की सुसुप्त शक्ति को

सचेत और
शत-प्रतिशत सशक्त—
साकार करना होता है, सत्-संस्कारों से।'' (पृ० १४८)

संतान को जन्म देकर दुनिया के सामने रखने मात्र से माँ का सतीपना प्रसिद्ध और सफल नहीं होता, किन्तु सन्तान में छुपी हुई योग्यता को जागृत कर, उसे सत् संस्कारों के माध्यम से पूर्णतः मजबूत बनाना होता है।

सन्तों के मुख से यह बात सुनी है कि सन्तान का जीवन यदि पाप / पतन की ओर जाता है तो माँ उसे डाँट-फटकार लगाती, ताड़ित करती है जिससे वह पाप से बच जाये। और यदि सन्तान अपने जीवन को श्रेष्ठ, अच्छा उन्नत बनाती है तो उस पर प्रेम, कृपा बरसाती हुई माँ गौरव से अपना माथा उठाती है।

विशेष—एक माँ सौ शिक्षकों से भी श्रेष्ठ मानी गई है, संस्कार देने का समय गर्भ में सन्तान के आते ही प्रारम्भ हो जाता है। माँ मदालसा के सत् संस्कारों से उसके आठों बेटे मुनि बनकर मोक्षमार्ग पर लग गये। नीति है **''लाडयेत् बहवः दोषाः ताडयेत् बहवः गुणाः''—**ज्यादा लाड़-प्यार से सन्तान बिगड़ जाती है, जबकि समय-समय पर डाँट-फटकार लगाने, प्रताड़ना देने से सन्तान में गुणों का ही विकास होता है। अतः माता-पिता को चाहिए की सन्तान को जन्म देने के बाद उसे संस्कारवान् बनाने के लिए अपना समय निकालें। सन्तान की अच्छी-बुरी संगति पर/आदतों पर ध्यान दें। बच्चों को अपना प्यार दें तो समय पर डाँट-डपट भी।

३३. ऋण चुकाओ : प्रकृति माँ का

श्रृंगार के गालों में चाँटे लगाने के बाद करुणामयी माँ की आँखों में आँसू आ गये। बूँद-बूँद कर बाहर आते आँसुओं के रूप में करुणा जगती के कण-कण, जन-जन से कुछ कह रही है—प्रकृति की गोद में तुमने जन्म लिया तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है और तुम क्या कर रहे हों। तुम इतने बड़े समझदार होकर भी आपस में लड़े-भिड़े, एक दूसरे को भला-बुरा कहा, मारने मरने को तैयार हुए इससे प्रकृति माँ का हृदय बुरी तरह आहत हुआ।

अरे! जीवन को युद्ध का मैदान नहीं बनाओ अपितु माँ ने आज तक जो दुख-दर्द झेले हैं, उन्हें दूर करने का प्रयास करो, पीड़ा के घाव सुखाओ। दयावान बनो, जो दया से रहित (क्रूर) हैं, उस पर भी दया करो, भयभीत को अभयदान दो। **हमेशा सकारात्मक अच्छे विचार रखो, अमृत के समान मीठे वचन मुख**

से निकाला करो। हे चेतन मानव! सबको मिलाकर जीने की बात किया करो और प्रकृति का जो तुम्हारे ऊपर उपकार है, उसे चुकाने का पुरुषार्थ करो।

''अपना ही न अंकन हो
पर का भी मूल्यांकन हो,
पर, इस बात पर भी ध्यान रहे
पर की कभी न वांछन हो
पर पर कभी न लांछन हो !'' (पृ० १४९)

हमेशा अपने को ही श्रेष्ठ मानकर, अपनी-अपनी ना चलाया करो। कभी दूसरों को भी आदर की दृष्टि से देखने, उनकी बात सुनने का मन बनाया करो। और इस बात पर भी विशेष ध्यान रखो कि अपने से पर वस्तु अथवा अपने स्वामित्व के बाहर की वस्तु की कभी चाह न हो। पर से कुछ अपेक्षा भी न हो क्योंकि पर से की गई अपेक्षा ही महान् दुख का कारण बनती है और कभी भी दूसरों पर दोषारोपण, उनकी निंदा नहीं किया करो। प्रकृति माँ का मन कभी न दुखाया करो। अन्त में इतना ही कहना है–

''जीवन-जगत् क्या ?
आशय समझो, आशा जीतो!
आशा ही को पाशा समझो!'' (पृ० १५०)

संसार का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसे समझने का पुरुषार्थ करो, गुरुओं का अभिप्राय, जीवन का उद्देश्य क्या है, उसे समझो। इच्छाओं को जीतो, क्योंकि ये इच्छाएँ ही सांसारिक बन्धन का मूल कारण हैं, ऐसा मानो।

३४. माँग प्रभु से : मिटने की

फिर गम्भीर हो कुछ और कहती है करुणा–मेरा रोते रहना यदि तुम्हें अच्छा लगता है, तुम्हें सुख मिलता है तो मैं रो ही रही हूँ और रोती रहूँगी। यदि मेरे रहने से तुम्हारा दिल धड़कता हो, लगता है कि माँ हमारे लिए बाधक हो रही है तो मैं अपने अस्तित्व को मिटाना चाहूँगी। प्रभु से प्रार्थना करती हूँ कि–हे भगवन्! मेरा जीवन समाप्त हो जाये, मेरा अस्तित्व पूर्ण रूप से आकाश में विलीन हो जाये बस! करुणा की बात सुन, प्रभु जबाव देते हुए कहते हैं–

''होने का मिटना सम्भव नहीं है, बेटा !
होना ही संघर्ष-समर का मीत है
होना ही हर्ष का अमर गीत है।'' (पृ० १५०)

जो है वह पूर्णतः कभी मिट नहीं सकता। यही प्रकृति का नियम है। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता, मिटने वाली तो पर्याय है। फिर जो होगा, वह ही तो मोक्ष, सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए कर्मों से संग्राम, युद्ध करेगा। **यह संघर्ष ही अस्तित्व का परम मित्र और सच्चे सुख का शाश्वत गान है।** प्रभु की बात सुन करुणा अन्तर्मुखी हो अपनी आत्मा से कहती है कि हे भोक्ता पुरुष! मैं तुमसे क्षमा चाहती हूँ कि मर मिटने की तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती।

३५. बिलखती लेखनी

प्रकृति माँ की दशा देखकर लेखनी का भी गला भर आता है और वह माँ की बातों का समर्थन करती हुई कहती है कि विश्व की विचित्रता को देखकर कभी तो दया आती है और कभी तो गुस्सा। क्या करूँ हँसूँ की रोऊँ, समझ नहीं आता। संसार इस रोती-बिलखती लेखनी को देखता है, परखता भी है, भगवान् पर इसका विश्वास भी है। भगवान् की बात भी वह सुनता, समझता है किन्तु लगता है यह सब प्रभाव मस्तिष्क तक ही है, हृदय तक नहीं पहुँचा। तभी तो आज का मानव दिल से कम, दिमाग से ज्यादा काम कर रहा है और इसी कारण इसके चरण स्थायी से हो गये हैं, मोक्षमार्ग पर बढ़ नहीं पा रहे हैं।

''आदिम ब्रह्मा आदिम तीर्थंकर
आदिनाथ से प्रदर्शित पथ का
आज अभाव नहीं है माँ !
परन्तु,
उस पावन पथ पर
दूब उग आई है खूब!
वर्षा के कारण नहीं,
चारित्र से दूर रह कर
केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की
भीड़ के कारण !'' (पृ० १५१-१५२)

यद्यपि प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ प्रभु द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग का आज अभाव नहीं है, किन्तु उस पवित्र मोक्षमार्ग में हरी घास ज्यादा उत्पन्न हो गई है, इसका कारण जल की वर्षा/बरसात नहीं अपितु पथ पर चलने वालों का अभाव है, संयम (इन्द्रिय और मन को वश में करना, जीवों की हिंसा आदि पाप नहीं

करना) से दूर रहकर केवल प्रवचनों में दया और आत्मा की बात करने वाले असंयमियों (संयम से विपरीत प्रवृत्ति करने वाले) की भीड़ के कारण।

जो दूसरों को मार्ग बता रहा है, उसे स्वयं मार्ग दिख नहीं रहा, क्योंकि जिसके द्वारा मोक्षमार्ग सम्बन्धी शास्त्र पढ़ाये जा रहे हैं, पथ दिखाया जा रहा है वह स्वयं मार्ग पर चलना नहीं चाहता अपितु दूसरों को चलाना चाहता है। ऐसे चालाक चालकों की संख्या कितनी है ? हम गिन नहीं सकते। क्या करूँ माँ–इस संसार में जो घटित हो रहा है उसे देखती हूँ/अनुभव करती हूँ, फिर रो लेती हूँ और कागज में उसे लिख देती हूँ माँ, लेखनी जो रही मैं।

'मूकमाटी' के कथानकों की प्रतीकात्मकता

डॉ॰ डी॰ के॰ जैन

१. मूकमाटी	जीवात्मा, संसारी जीव, कर्मबद्ध जीव
२. कुम्भकार	जीवन निर्माता, भक्त श्रावक
३. पानी	भक्ति, आस्था, आत्मसमर्पण
४. मछली	सहयोगी जीवात्मा
५. माटी का छानना, रौंदना आदि	बाह्य तपों/व्रतों द्वारा जीवात्मा का शुभ परिणमन
६. माटी के लौंदे का चक्र पर आकार धारण एवं सूखना	साधु जीवन का प्रथम चरण
७. सागर, बदली, बादल, राहु ओलवृष्टि, भूकण	विषय–कषायजन्य अशुभ आवेग रूपी उपसर्ग/इच्छाएँ
८. सूर्य, तेजोतत्त्व, इन्द्र, पवन	आवेगों के शमन में सहकारी कारण, पाप–प्रक्षालन में सहायक
९. अवा की अग्नि में घटापाक कच्चे घट का रूपान्तरण	तपश्चर्या की अग्नि में संसारी जीव का कर्म–क्षरण प्रक्रम नव रूपान्तरण, सत् साधुत्व का उदय
१०. स्वर्ण कलश, आतंकी दल विद्या बल, बिजली, नदी आदि	आत्मशक्ति के विकास में प्रतिस्पर्धी मनोवेग और कषाय तत्त्व आदि
११. स्फटिक झारी, कुम्भ, गज दल नाग–नागिन, महामत्स्य, धरणी, नदी जल के जीव–जन्तु जल देवता, साधु	आत्मानोन्नति के मार्ग के मूल और सहकारी गुण, आवेग–शामक तत्त्व, भक्ति एवं आस्था के तत्त्व

इसी प्रतीकवाद की परिवर्धित व्याख्या भी सम्भव है।

सोपान ११
सब रसों में श्रेष्ठ रस—शान्त रस ही उपादेय

रसों के विषय में शिल्पी की स्तब्धता देख करुणा रो पड़ी, सो शिल्पी करुणा की सीमा, सही स्थिति समझाता है। करुणा का शान्त रस में अन्तर्भाव भी नहीं मानना चाहिए, कहता हुआ दोनों की तुलना करता है। करुणा जल के समान बदलने वाली है तो शान्त रस बर्फ के समान स्थिर। शान्त रस में वात्सल्य रस का भी मिश्रण नहीं। माँ की गोद में मुख पर आँचल ले दूध पीता बालक के दृष्टान्त से शान्त रस के संवेदन की प्रक्रिया का व्यक्तीकरण। अन्त में शान्त रस की श्रेष्ठता कि वह संयतरत धीमान् को ओम् यानी भगवान् बना देता है। इस प्रकार सभी रसों का अन्त होना ही शान्त रस है, सिद्ध करता है शिल्पी।

३६. सीमा : करुणा की

माँ प्रकृति से उत्पन्न करुणा की पीड़ा, लेखनी के वक्तव्य को सुनकर भी शिल्पी अप्रभावित निश्चेष्ट-सा खड़ा रहा। लगता है उसने करुण रस को भी स्वीकार नहीं किया। करुणा का प्रभाव उसके मन पर कुछ भी नहीं पड़ा। यह स्थिति देख, इतनी बाल की खाल तो मत निकालो अर्थात् ज्यादा सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षा मत करो कहती हुई करुणा रो पड़ी।

इस पर शिल्पी कहता है करुणा से—रोना करुणा का स्वभाव नहीं है, ये बात अलग है कि करुणा जब प्रकट होती है तो आँखें भींग ही जाती हैं। मैं मानता हूँ कि मन में करुणा करने का भाव होना और दूसरों पर करुणा करना दोनों में बड़ा अन्तर होता है। माँ के मन में बच्चों के प्रति करुणा होना मोह का परिणाम है जबकि दूसरों को दुखी देखकर उनके दुख दूर करने के परिणाम रूप करुणा, सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। फिर भी बात-बात में रोना, दुखी होना अच्छा नहीं। इससे आर्त्तध्यान बढ़ता है और धर्मध्यान नष्ट होता है।

यह बात मैं भी समझता हूँ कि करुणा छोड़ने योग्य नहीं अपितु मोक्षमार्गी के लिए भी ग्रहण करने योग्य है किन्तु इसकी अपनी सीमा भी होती है। समझना चाहो तो उदाहरण से समझ सकती हो—खेत में खाद डालने पर बीज को ताकत मिलती है और अच्छी फसल पैदा होती है किन्तु खाद में ही बीज डाल दें तो बीज ही जल जायेगा। यदि बीज धरती के ऊपर ही ऊपर हो तो अंकुरित नहीं होगा। जब तक कि उसके ऊपर मिट्टी न डाली जाये, किन्तु ज्यादा मिट्टी डाल दी गयी तो

बीज भी दम तोड़ देगा अर्थात् भीतर ही भीतर नष्ट हो जायेगा। "**अति सर्वत्र वर्ज्येत**"–सभी जगह अति का त्याग होना चाहिए। इसी प्रकार करुणा में भी अति न हो, उसकी मर्यादा को समझना अनिवार्य है।

जो करुणा करता है वह भले ही अहंकारी न बने किन्तु स्वयं को बड़ा अवश्य समझता है तथा जिस पर करुणा की जाये वह अपने आपको कमजोर हलका भी मानता है। दोनों का मन एक दूसरे से प्रभावित होता है। शिष्य शरण लेकर और गुरु शरण देकर कुछ नया अनुभव करते हैं पर यह सही-सही सुख नहीं है। हाँ! दुख मिटने और सुख मिलने का द्वार अवश्य यहाँ मिल जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि (आत्म तत्त्व की मुख्यता/ निश्चय से किया गया विचार) से विचार किया जाये तो–

"करुणा करने वाला
अधोगामी तो नहीं होता,
किन्तु
अधोमुखी यानी–
बहिर्मुखी अवश्य होता है।
और
जिस पर करुणा की जा रही है, वह
अधोमुखी...तो नहीं,
ऊर्ध्वमुखी अवश्य होता है।
तथापि,
ऊर्ध्वगामी होने का कोई नियम नहीं है।" (पृ० १५४-१५५)

दूसरों पर करुणा करने वाला नीचे की ओर गमन करने वाला तो नहीं किन्तु नीचे मुख वाला यानी आत्म स्वभाव से च्युत, पर को ग्रहण करने वाला, कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थ समयसार(द्रव्यानुयोग) के अनुसार बहिरात्मा, बहिर्मुखी अवश्य होता है और जिस पर करुणा की जाती है उसका मुख नीचे से ऊपर (नीच गतियों-पर्यायों से उच्चगति-पर्यायों) की ओर अवश्य हो जाता है किन्तु उसकी यात्रा भी ऊपर (सिद्धशिला) की ओर ही हो, यह नियम नहीं है, यह तो उसके स्वयं अपने उपादान एवं पुरुषार्थ पर आधारित है। **हम एक सीमा तक ही दूसरे के लिए सहारा बन सकते हैं चलना तो उसे ही पड़ेगा।**

वैसे भी करुणा दो प्रकार की होती है। पहली विषय-कषायों के वशीभूत हो, पञ्चेन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने वाली विषय-लोलुपनी, इसकी चर्चा यहाँ

नहीं है। दूसरी विषय-कषायों को नष्ट करने वाली, सम्यक् शिव-पथ दिखाने वाली विषय-लोपनी, दिशा-बोधिनी। इसकी चर्चा यहाँ की जा रही है, करुणा का स्वाद यदि जानना चाहते हो तो आँसुओं के समान खारा ही है। इसलिए जिसके मन में करुणा है, वह शान्त रस से भी भरा होगा, ऐसा मानना बड़ी भूल है।

३७. दशा : करुणा और शान्त रस की

उछलती हुई नहर के समान करुणावान की मनोदशा होती है जो खेत में पहुँचती फसल की प्यास बुझाती कुछ समय में बंद हो, सूख जाती है, किन्तु बहने के मार्ग को छोड़ (पूर्ण कर) मंजिल (सागर) को प्राप्त कर सुख पाने वाली सरिता के उज्ज्वल जल के समान शान्त रस के धारक की मनोदशा होती है।

शिल्पी कहता है कि—करुणा रस और शान्त रस के विषय को कुछ और स्पष्ट करना चाहता हूँ, क्योंकि बहुतायत मोक्ष पुरुषार्थी यहीं पर गलती कर जाते हैं। दया, करुणा को ही धर्म की चरम सीमा, साधना का अंतिम लक्ष्य मान लेते हैं।

अतः आगे सुनो—करुणा की दशा बहते हुए जल के समान तरल, पर से प्रभावित होने वाली होती है। धूल में गिरते ही जल दल-दल (कीचड़) में बदल जाता है। अग्नि से प्रभावित हो शीघ्र ही शीतलता को भूल उबल जाता है फिर स्वयं जलता है और औरों को जलाता भी, किन्तु शान्त रस बहता नहीं किसी के बहाव में आकर। जमाना पलटने पर भी पलटता नहीं, बर्फ के समान उसकी स्थिति होती है। बर्फ धूल में गिरने पर भी धूल को स्वीकार नहीं करता बदलता नहीं और इतना ही नहीं आग में रखने पर भी गरम नहीं होता। ना स्वयं जलता ना ही औरों को जलाता। इससे यह भी ध्वनि निकलती है—

''करुणा में वात्सल्य का
मिश्रण सम्भव नहीं है
और
वात्सल्य को हम
पोल नहीं कह सकते
न ही कपोल-कल्पित[१]।'' (पृ० १५७)

करुणा में वात्सल्य भाव का भी मिश्रण सम्भव नहीं, किन्तु वात्सल्य को हम खाली कल्पना या खोखला नहीं कह सकते। कारण, वात्सल्य विशाल हृदय वाली माँ के सुडौल गालों पर खिलता है, देखने को मिलता है। करुणा के समान ही इसमें दो की आवश्यकता होती है। कोई वात्सल्य देता है तो कोई वात्सल्य

१. कपोल-कल्पित = मन से गढ़ी हुई काल्पनिक।

लेता है। इसी कारण अद्वैत (एक मात्र) यहाँ उपस्थित नहीं रहता है, अकेलेपन में इसका व्यक्तीकरण (प्रकट होना) नहीं होता।

यह वात्सल्य ममता सहित खुशमिजाजी (प्रसन्न स्वभाव वाला) होता है। साधर्मी और एक जैसे आचार-विचार वालों पर ही इसका प्रयोग होता है। मन्द मधुर मुस्कान के बिना इसका प्रकटीकरण सम्भव नहीं, किन्तु इतना भी निश्चित है कि कुछ क्षण मधुर मुस्कान के बाद वह नष्ट भी हो जाता है। वात्सल्य ओस के कणों के समान है जिससे ना ही प्यास बुझती है और ना ही इच्छा। बस जीवन ही धीरे-धीरे व्यतीत होता चला जाता है। फिर तुम ही बताओ वात्सल्य में शान्त रस का अन्तर्भाव कैसे संभव हो सकता है।

३८. सच्चा मित्र : एकान्त का

माँ की गोद में दूध पीता हुआ बालक माँ के मुख, नयन और गालों की ओर निहारता है करुणा या कठोरता होने पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता हुआ हँसता है या रोता है, जो इस समय ठीक नहीं है। इसलिए प्रायः माँ दूध पिलाते समय बच्चे का मुख अपनी साड़ी के पल्ले से ढाँक देती है। इससे अर्थ यह निकला–

"शान्त रस का संवेदन वह
सानन्द-एकान्त में ही हो
और तब
एकाकी हो संवेदी वह...!" (पृ० १५९)

शान्त रस के सेवन, आनन्द, अनुभूति के लिए एकान्त और एकाकी होना अनिवार्य है। रंगहीन, स्वच्छ और तरंगहीन तालाब में ही अपना रूप देखने में आ सकता है। शान्त रस का एकान्त ही सच्चा मित्र और सच्चा सहायक है।

करुणा रस गरजते-बरसते हुए बादल के समान जीवन का प्राण है तो वात्सल्य स्वच्छ जल के समान जीवन को सुरक्षित रखने वाला है। यह सब द्वैत जगत् की (दो के बीच की) बात है, किन्तु शान्त रस मधुर दूध के समान स्वभाव वाला, जीवन को आनन्दित करने वाला, सुरीला संगीत है। करुण रस वह है जो कठोर पाषाण को भी मोम जैसा मृदु बना देता है। वात्सल्य वह पोशाक/पहनावा अथवा रीति, तरीका है जो पापी, अज्ञानी पुरुष को भी चन्द्रमा के समान श्रेष्ठ, सौम्य बना देता है। यह सब तो लौकिक चमत्कार की बात हुई, किन्तु शान्त रस की क्या कहें–वह संयम में लीन, बुद्धिमान् पुरुष को ओम् यानी परमात्मा ही बना देता है।

जहाँ तक शान्त रस की बात है वह मात्र कहने-सुनने की नहीं, किन्तु स्वीकारने, जीवन में उतारने की बात है। कम शब्दों में या निषेध मुख से कहूँ, तो सन्तों का मन सदा यही गुनगुनाता है कि सभी रसों का अन्त होना ही शान्त रस है।

यह रचना दर्शन, जीवन और काव्य का एक सम्मिलित अवदान है, क्योंकि यह जिस दिशा से आया है, जिस साधक की ओर से आया है, जिस प्रयोजन से आया है और जितनी उत्कटता से आया है वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय

निदेशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

मूकमाटी' को काव्यशास्त्र के परम्परागत नियमों और लक्षणों के चौखटे में ही देखने के आग्रही भले ही इसके महाकाव्य शब्द को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते रहें परन्तु इसमें कोई शंका नहीं कि 'मूकमाटी' भव्य शान लिये अपने ढंग का और अपने अलग ठाठ का महाकाव्य है।

प्रा० माणिकलाल बोरा

पुणे (महाराष्ट्र)

सोपान १२
अपक्व कुम्भ पर कलाकृति

शान्त रस की उपयोगिता सिद्ध करते हुए माटी की रौंदन क्रिया पूर्ण होती है। शिल्पी घूमते चाक पर माटी के पिण्ड को रखता है चक्कर खाती माटी चाक से उतरने की बात कहती है शिल्पी से। सो शिल्पी चक्कर का सही कारण बता, कुलाल चक्र की उपयोगिता समझाता हुआ माटी को घट का रूप प्रदान करता है, बीच में काल द्रव्य की अनिवार्यता की बात भी।

कुम्भ का गीलापन, ढीलापन कम होने पर दो-तीन दिन बाद कुम्भ की खोट को दूर करना तथा कुम्भ पर अंकन, चित्रण एवं काव्य सृजन-९९, ९ और ६३ की संख्या, सिंह, श्वान, कछुवा, खरगोश का चित्रण, 'ही' और 'भी' का लेखन, कर पर कर दो, मर हम मरहम बनें, मैं दो गला रूप काव्य पंक्तियों का सृजन एवं इन सबकी भाव पूर्ण, शाब्दिक व्याख्या।

३९. काल चक्र : काल ना

सर्व रसों में प्रधान, आनन्द रस से भरा शान्त रस ही जीवन में आदरणीय, ग्रहण करने योग्य है। इस बात को सिद्ध करते हुए माटी की रौंदन क्रिया पूर्ण होती है, शिल्पी की। जमीन में पर्वत शिखर की भाँति शंकु के आकार वाली एक लकड़ी गड़ी है। जिस पर चक्र रखा है। दो हाथ की लम्बी लकड़ी ले शिल्पी चक्र को घुमाता है। फिर घूमते चक्र पर माटी का लोंदा रख देता है जिससे लोंदा भी चक्र के समान तेज गति से घूमने लगता है कि तभी माटी शिल्पी से कुछ कहती है– जो अच्छी तरह से सरकता है, चलता रहता है, संसार कहलाता है–

"काल स्वयं चक्र नहीं है
संसार-चक्र का चालक होता है वह
यही कारण है कि
उपचार से काल को चक्र कहते हैं।" (पृ० १६१)

यद्यपि काल स्वयं चक्र नहीं है, किन्तु संसार चक्र के घूमने में उदासीन निमित्त होता है इसलिए उपचार (परिपाटी के अनुसार किया जाने वाला व्यवहार) से काल को चक्र कहा जाता है। इस कारण आज तक मैं चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में चक्कर खाती आ रही हूँ। आज आपने भी इसे कुम्भकार के चक्र

पर रख दिया, मेरा तो माथा ही घूमने लगा है। इसे इस चक्र से नीचे उतार दो, तार दो अर्थात् संसार-चक्र के उस पार पहुँचा दो।

इतना सुनते ही शिल्पी की मुद्रा माटी को कुछ समझाती हुई कहती है- अनेक प्रकार के चक्र संसार में हुआ करते हैं, संसार-चक्र तो राग-द्वेष-मोह आदि विकृतियों को जन्म देने वाला होता है। चक्रवर्ती का चक्र संसारी प्राणियों के भौतिक जीवन, देह को नष्ट करने में कारण बनता है। किन्तु यह कुलाल चक्र उस कसौटी के पत्थर (सोना परखने का एक काला पत्थर) के समान है, जिस पर चढ़कर जीवन में नई-नई उपलब्धियाँ होती हैं, जीवन श्रेष्ठ प्रकाशवान बनता है। यह चक्र जीवन की पवित्र, गौरव-गाथा बनाने में निमित्त बनता है।

४०. कारण : चक्कर का

तुम्हें जो चक्कर आ रहा है ना, उसका कारण यह कुलाल चक्र (कुम्हार का चाक) नहीं है, अपितु तुम्हारी दृष्टि का ही दोष है, क्योंकि-

''परिधि की ओर देखने से
चेतन का पतन होता है
और
परम-केन्द्र की ओर देखने से
चेतन का जतन होता है।'' (पृ० १६२)

परिधि यानी पर्याय अथवा बाहरी दुनिया की ओर जब हम देखते हैं तो उपयोग बाहर की ओर जाता हुआ भटक जाता है सारा जीवन यूँ ही पर में गुजर जाता है, चेतन की हार हो जाती है, किन्तु परम केन्द्र यानी भीतर, अन्तरात्मा की ओर देखने पर आत्मा में लीनता आती है। जीवन सुखी बनता है, चेतन की सुरक्षा होती है एवं आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर जाती है। अतः तुम भी **आँख बंद कर भीतर की ओर देखो चक्कर नहीं आयेगा** और सुनो यह एक साधारण सी बात है–

''चक्करदार पथ ही, आखिर
गगन चूमता
अगम्य पर्वत-शिखर तक
पथिक को पहुँचाता है
बाधा-बिन बेशक!'' (पृ० १६२)

घुमावदार पथ ही आकाश को छूने वाले पर्वतों के शिखर पर पथिक को बिना बाधा के, बिना किसी शंका के पहुँचा सकता है सीधा-सीधा पथ नहीं।

४१. क्रय-विक्रय से परे : काल

कर्तापन से रहित सहज भावों से सर्वप्रथम शिल्पी माटी को कुम्भ का आकार प्रदान करने हेतु संकल्पित होता है। उसके उपयोग में कुम्भ को कैसा आकार देना है, विचार उत्पन्न होता है। ज्ञान में ज्ञेय[१] रूप घट का आकार उभरता है, ध्यान में ध्येय रूप घट अवतरित होता है। प्रासंगिक कार्य प्रारम्भ हुआ मन के पीछे शरीर होता ही है।

कुम्भकार ने दोनों हाथों को कुम्भ का आकार दिया और लोंदे पर दोनों हाथों को रखता है। शिल्पी-करों के प्रथम स्पर्श से ही माटी में एक अपूर्व आनन्द, अपनेपन की शुरूआत होती है और कुम्भकार के हाथों की अँगुलियों के सहारे माटी को नया आकार/रूप मिलता है। अनन्त काल से रहस्य में छुपी नई पर्याय तरंग क्रम से क्रमशः उद्घाटित हो रही है और सुन्दर घट का निर्माण होता है ठीक ही है–

''रहस्य के घूँघट का उद्घाटन
पुरुषार्थ के हाथ में है
रहस्य को सूँघने की कड़ी प्यास
उसे ही लगती है जो भोक्ता
संवेदन-शील होता है,
यह काल का कार्य नहीं है।'' (पृ० १६३)

अनन्त शक्तियाँ जो आत्मा में छुपी हुई हैं, उनका प्रकटीकरण करना किसी काल पर नहीं अपितु अपने पुरुषार्थ पर आधारित है। पाप त्याग एवं सम्यक् चारित्र ग्रहण रूप पुरुषार्थ वही कर सकता है, जिसके भीतर आत्म तत्त्व को उपलब्ध करने की तीव्र इच्छा जागृत हुई हो, ऐसा वह संवेदनशील चेतन आत्मा ही भोक्ता होता है। जिसके पास हाथ ही ना हो, वह दूसरों का क्या भला कर सकेगा, करा सकेगा। जिसके पास पैर नहीं हैं, वह दो कदम भी न स्वयं चलता, न औरों को चला सकता है।

काल (वह द्रव्य जो वस्तु के परिणमन में सहायक है) भी ऐसा ही है, सबसे उदासीन, लेन-देन से दूर, निष्क्रिय। वह एक ही स्थान पर रहता है, इसलिए काल को आत्मतत्त्व की उपलब्धि में कारण कैसे माना जा सकता है ? हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक कार्य में काल की उपस्थिति अनिवार्य है, क्योंकि

१. ज्ञान = जिसके द्वारा जाना जाये, ऐसा आत्मा का गुण। ज्ञेय-ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ।

आपस में यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। काल उदासीन निमित्त है तो रहस्य का उद्घाटन, परमात्मपने की प्राप्ति नैमित्तिक कार्य।

४२. प्रहार : खोट पर

विनम्र माटी पिण्ड (माटी का लोंदा) पर्याय को छोड़ कुम्भ का रूप धारण करती है, धैर्य के साथ धरती से ऊपर उठ रही है। वैसे सामान्य रूप से सभी की जीवन यात्रा अपनी-अपनी गति से चलती ही रहती है। जीवन में विशेष विकास, उत्थान तभी होता है, जब मान से रहित विनम्र बुद्धि व्यक्ति का साथ देती है और पतन, विनाश तभी शुरू हो जाता है जब मान से सहित राग-बुद्धि साथ देती है। उत्थान-पतन का यही प्रारंभिक मंगलाचरण है।

घी से भरे घड़े के समान बड़ी सावधानी से शिल्पी ने चाक पर से कुम्भ को उतारा और जमीन पर रख दिया तथा यूँ ही सूखने के लिए छोड़ दिया सो दो-तीन दिन में कुम्भ का गीलापन दूर हुआ, ढीलापन सिकुड़-सा गया। शिल्पी ने बड़े ही प्रसन्न मन से कुम्भ को हाथ में उठा लिया, फिर एक हाथ में सोट (एक लकड़ी का छोटा-सा टुकड़ा जिससे कुम्भ पर चोट की जाती है) ले दूसरे हाथ का सहारा दे, कुम्भ की खोट (बुराई/दोष) पर प्रहार करता है वह।

''हाथ की ओट की ओर देखने से
दया का दर्शन होता है,
मात्र चोट की ओर देखने से

निर्दयता उफनती-सी लगती है
परन्तु,
चोट खोट पर है ना !'' (पृ० १६५)

हाथ के सहारे की ओर देखने से दया का तथा मात्र चोट की ओर देखने से निर्दयता प्रकट होती-सी लगती है, पर प्रहार दोषों पर है, जो कि आवश्यक है। शिल्पी की आँखें अपलक हो सावधानी रख रही हैं, इसलिए तो शिल्पी ने कुम्भ को घोंट-घोंटकर सुन्दर रूप प्रदान किया है ना कि उसका जीवन ही नष्ट किया है।

४३. जीवन का लक्ष्य : नौ

उसके बाद शिल्पी ने कुम्भ पर जीवन के वास्तविक रहस्यों को प्रकट करने वाली, शिक्षाप्रद कुछ संख्याओं का अंकन, कुछ चित्रों का चित्रण और कविताओं की रचना की। कुम्भ के कर्ण स्थान पर ९९ और ९ की संख्या लिखी गई जो कि कानों में पहने कुण्डल-सी सुशोभित हो रही है और अपना परिचय दे रही है। ९९ की संख्या दुखी संसार का प्रतीक है, जिससे मोह का विस्तार होता है, ९ की संख्या क्षीरसार यानी घी के समान है जो शाश्वत पद सिद्ध दशा का प्रतीक है, जिससे मुक्ति का द्वार खुलता है।

यह भी देखो ९९ में किसी भी संख्या का गुणा करो जैसे–९९×२= १९८, १+९+८=१८, १+८=९। इसी प्रकार गुणित क्रम से बढ़ाते जाने पर गुणनफल बढ़ता दिखता है किन्तु लब्ध संख्या ९ ही बचती है। फलित यह हुआ कि ९९ संख्या कष्टदायी, छल-कपट वाली और नष्ट होने के स्वभाव वाली, जड़ को ही प्रकाशित करती है। कहा भी है ''संसार ९९ का चक्कर है।'' कहावत ठीक-ठीक घटित होती है। दूसरी तरफ ९ की संख्या में किसी भी संख्या का गुणा करो–९×२ = १८, १+८ = ९, गुणनक्रम ९ तक ले जाओ, लब्ध संख्या सदा ९ ही मिलेगी। फलित यह हुआ **९ की संख्या वह आश्रय है जिसमें जीवन सुरक्षित रहता है, यह अविनश्वर स्वभाव वाली, अजर अमर अविनाशी आत्म तत्त्व का कथन करने वाली है।** इसलिए–

''भविक मुमुक्षुओं की दृष्टि में
९९ हेय हो और
ध्येय हो ९

नव-जीवन का स्रोत !'' (पृ० १६७)

भव्य जीव जो सदा मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, उनकी दृष्टि में ९९ सदा ही छोड़ने योग्य होना चाहिए एवं जीवन का लक्ष्य ९, आत्म तत्त्व होना चाहिए जो कि नवीन सिद्ध दशा प्राप्त करने का मूल साधन है।

४४. बनें : छह के आगे तीन

कुम्भ के कण्ठ पर ६३[१] संख्या लिखी है, जो ६३ शलाका पुरुषों की याद दिलाती है। ६ (छह) को ३ (तीन) देख रहा है और ३ (तीन) को ६ (छह)। यह सज्जनता की पहचान है, एक-दूसरे के सुख-दुख में सहयोगी बनना। दूसरों को दुखी देखकर प्रसन्न होना, सुखी देखकर ईर्ष्या से जलना, यह दुर्जनता की पहचान के चिह्न हैं। जब हम आदर्श पुरुषों को भूल जाते हैं, तब ६३ का विपरीत ३६ के आँकड़े का आना होता है। तीन और छह इन दोनों की दिशा एक दूसरे के विपरीत है, एक दूसरे को पीठ दिखाकर बैठे हैं सज्जनता से दूर हो–

''विचारों की विकृति ही
आचारों की प्रकृति को
उलटी करवट दिलाती है।
कलह-संघर्ष छिड़ जाता है परस्पर।'' (पृ०१६८)

दोनों का स्वभाव और विचारधारा विपरीत है। जब एक-दूसरे के प्रति विचारों में सदोषता आ जाती है, भावों में विकार पैदा हो जाता है तो नियम से आचरण की प्रकृति भी विपरीत होने लगती है; जिसका परिणाम आपस में मन-मुटाव, लड़ाई-झगड़े और मारपीट होने लगती है। फिर ३६ के आगे ३ की संख्या और जुड़ जाने से ३६३ (तीन सौ त्रेसठ) विभिन्न मतों, विचारधाराओं का जन्म होता है, जो आपस में एक-दूसरे के शत्रु बने हैं। इसका दर्शन धरती पर आज सहज हो सकता है।

४५. मूल्य : स्वतन्त्रता का

कुम्भ पर शेर और श्वान यानी कुत्ते का भी चित्रण किया गया है, जो बिना बोले ही संदेश दे रहा है। दोनों की जीवन-लीला विपरीत है। शेर पीछे से, बिना दहाड़े किसी पर प्रहार नहीं करता और ना ही बिना मतलब दहाड़ता है, यानी सदा छल-कपट से दूर रहता है, जबकि कुत्ता पीछे से ही चुपचाप काटता है, बिना

---

१. ६३ शलाका पुरुष = २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रति नारायण, ९ बलभद्र। ये वे पुण्यशाली महापुरुष होते हैं जो आगामी भवों में नियम से मोक्ष जाते हैं।

मतलब दिन–रात भौंकता है।

जीवन चलाने हेतु आवश्यक सामग्री के लिए दीन–हीन नहीं बनता शेर, जबकि कुत्ता एक टुकड़े के लिए मालिक के पीछे पूँछ हिलाता घूमता रहता है। शेर के गले में कभी पट्टा नहीं बँधता। भले ही किसी कारणवश वह पिंजड़े में बंद हो, फिर भी पूँछ ऊपर उठाकर स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के साथ घूमता रहता है। किन्तु कुत्ता स्वतन्त्रता का महत्त्व नहीं जानता, पराधीनता उसे बुरी नहीं लगती, उसके गले में पड़ी लोहे की चैन अथवा कपड़े का पट्टा भी उसे आभूषण जैसा लगता है और विशेष बात यह है–

''श्वान को पत्थर मारने से
पत्थर को ही पकड़ कर काटता है
मारक को नहीं!
परन्तु
सिंह विवेक से काम लेता है
सही कारण की ओर...ही...
सदा दृष्टि जाती है सिंह की,
मारक[१] के ऊपर मार करता है वह।'' (पृ० १७०)

१. मारक = मार करने वाला।

श्वान को यदि कोई पत्थर मारे तो वह पत्थर को ही पकड़ कर काटता है मारक को नहीं पकड़ता, परन्तु सिंह मारक यानी सही कारण को पकड़ता है साधन को नहीं। यह विवेक उसे रहता है।

सही सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी किसी भी कार्य की सम्पन्नता में निमित्त को ही नहीं पकड़ता, ना ही उस पर टूट पड़ता है। वह मूल कारण पर विचार करता है, उस मूल कारण को नष्ट करने अथवा सँभालने का प्रयास करता है। जैसे सीताजी को गर्भवती दशा में जब राजमहल से निकाला गया तब उन्होंने राम को दोष नहीं दिया। उन्होंने सोचा कि मैंने ही पूर्व में कुछ ऐसा कार्य किया होगा, जिसके कर्म-फल स्वरूप मुझे यह भोगना पड़ रहा है। राम तो मुझे प्राणों से भी ज्यादा चाहते थे, रावण से युद्ध कर मुझे लेकर आए फिर ऐसा क्यों करते ? तभी तो अग्नि परीक्षा में सफल होने के बाद भी उन्होंने राजमहल के सुख नहीं भोगे अपितु दुखों का मूल कारण अशुभ कर्मों के क्षय करने हेतु आर्यिका व्रतों को धारण कर घोर तप किया।

श्वान संस्कृति की निंदा का एक प्रमुख कारण यह भी है कि वह अपनी जाति वालों को देखकर पैरों से जमीन खोदता हुआ भौंकता है। जबकि **शेर अपनी जाति में सबसे मिलकर रहता है। राजा की प्रवृत्ति ऐसी ही होती है, होनी भी चाहिए।** कोई-कोई कुत्ते पागल भी होते हैं और वे जिसे काटते हैं वह भी कुछ दिनों में कुत्ते के समान भौंकने लग जाता है और मर जाता है, किन्तु शेर कभी पागल हुआ हो, सुनने में नहीं आया। श्वान जाति का एक और अति निंदनीय कार्य है; वह यह कि भूख लगने पर यदि योग्य खाद्य सामग्री न मिले तो वह मल ही खाने लगता है और जब वह भी न मिले तो अपने से उत्पन्न हुई सन्तान को ही खा जाता है किन्तु शेर ऐसा निंदनीय कार्य कभी भी नहीं करता।

४६. विधि : साधना की

वहीं कुम्भ पर कछुवा और खरगोश का चित्र भी है, जो साधक को साधना की विधि सिखा रहा है। खरगोश तेज चाल वाला होकर भी बहुत पीछे रह गया, जबकि कछुवा धीमी चाल वाला होकर भी लक्ष्य की ओर पहले पहुँच गया, कारण खरगोश ने बीच में निद्रा ली, प्रमाद किया जबकि कछुवा निरन्तर चलता रहा। सार यह निकला कि-"**प्रमाद पथिक का परम शत्रु है।**"

प्रमाद ही राहगीर का सबसे बड़ा शत्रु है, क्योंकि प्रमाद ही कर्मबन्ध का मुख्य कारण है। प्रमाद का अर्थ अयत्नाचार अथवा असावधानी भी है। अयत्नाचार

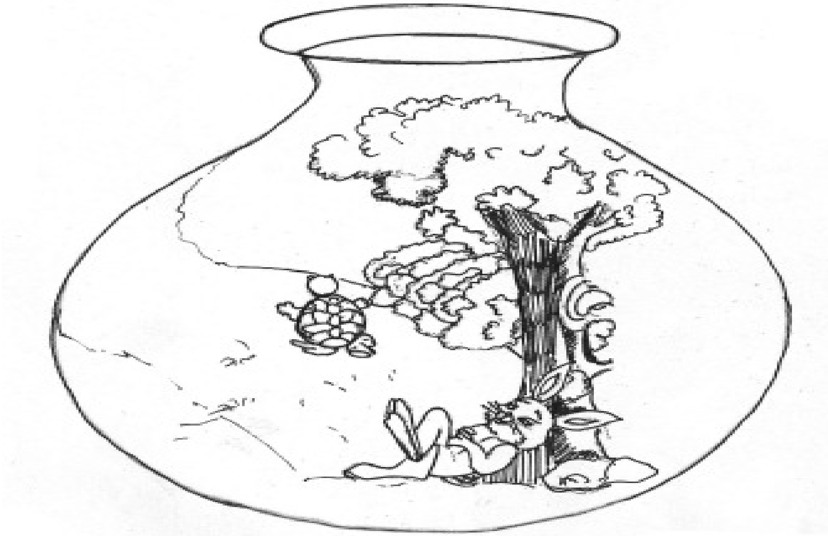

पूर्वक क्रिया/कार्य करने पर जीव मरे अथवा न मरे, साधक को नियम से पाप का बंध होता है। जबकि प्रमाद रहित होकर प्रवृति करते समय यदि जीव मर भी जाये तो साधक हिंसक नहीं कहा जाता, ना ही उसे पाप बंध होता है। प्रमाद के १५ भेद कहे हैं–स्त्रीकथा, चोरकथा, भोजनकथा और राजकथा रूप चार विकथा, क्रोध, मान, माया, लोभरूप चार कषायें, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण रूप पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति, निद्रा और स्नेह। इन सबके वशीभूत होकर प्रवृत्ति करना प्रमाद है। अतः **साधक को सदा प्रमाद से बचना चाहिए। कहा भी है– ''जो सो गया, सो खो गया।''** सदा जागृत रहते हुए अपना कर्त्तव्य जप-तप, स्वाध्याय और आत्मध्यान आदि करना चाहिए।

४७. भेंट हो 'भी' से, ना कि 'ही' से

कुम्भ के मुख पर 'ही' और 'भी' ये दो अक्षर भी लिखे हैं, जो बीजाक्षर के समान सारभूत रहस्य को लिए हैं और अपनी-अपनी धारणाओं का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

'' 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक है।
हम ही सब कुछ हैं
यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!

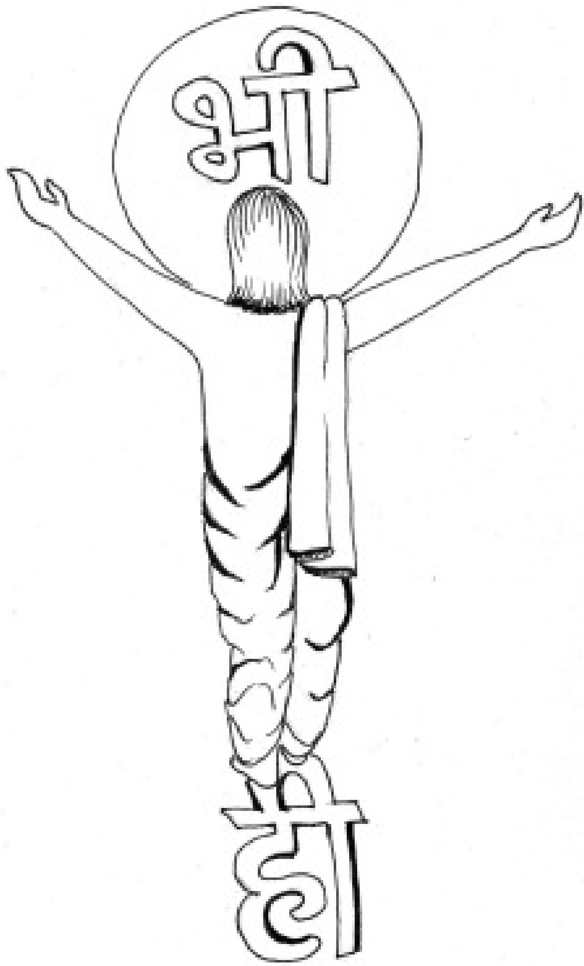

और,
‘भी’ का कहना है कि
हम भी हैं
तुम भी हो
सब कुछ !’’ (पृ० १७२)

वस्तु में अनेक धर्म/स्वभाव होते हैं, उन्हें स्वीकार करने वाला अनेकान्त का प्रतीक ‘भी’ है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को कहने की पद्धति स्याद्वाद है। जैसे एक व्यक्ति माँ की अपेक्षा से पुत्र है तो अपने पुत्र की अपेक्षा से

पिता एवं पत्नी की अपेक्षा से पति भी, किन्तु वस्तु के एक धर्म को ही स्वीकारने वाला एकान्त मत का प्रतीक 'ही' है। 'भी' सबको सदा सम्मान देता है तो 'ही' सबको नकारता हुआ स्वयं को ही श्रेष्ठ मानता है।

'ही' वस्तु के बाहरी रूप को ही पकड़ता है जबकि 'भी' वस्तु के भीतरी भाग, सही स्वरूप को स्पर्श करता है। **'ही' विध्वंसकारी पश्चिमी सभ्यता है तो 'भी' भाग्य-निर्माता, भारतीय संस्कृति**। राम पूज्य हुए हैं और रहेंगे। इसका कारण भी यही है क्योंकि राम के भीतर 'भी' रहता था। वे 'भी' के उपासक थे तो रावण के भीतर 'ही' था।

यद्यपि 'भी' कहने से भीड़ बढ़ती-सी दिखती है अवश्य, किन्तु लोकतन्त्र की सफलता इसी में है; हम भी हैं तुम भी हो सब कुछ। सदाचार और सद्विचार 'भी' से उत्पन्न होते हैं। स्वच्छन्दता और अहंकारिता मिटती है और स्वतन्त्रता का सपना साकार होता है 'भी' के कारण ही। 'ही' में यह शक्ति नहीं है। इसलिए प्रभु से यही प्रार्थना है कि संसार के सभी प्राणी 'ही' से दूर हों 'भी' से मुलाकात करें, अभी करें या कभी करें, किन्तु इन्हें अनेकान्त, स्याद्वाद रूप जिनशासन की उपलब्धि हो, यही भावना है।

४८. करो : सही-सही पुरुषार्थ

कुम्भ पर लिखी गई है पंक्ति ''कर पर कर दो'' इसका भाव यह है कि हमारे उज्ज्वल भविष्य के लिए प्रभु की यह आज्ञा है-

''कहाँ बैठे हो तुम श्वास खोते
सही-सही उद्यम करो।'' (पृ० १७४)

संसार के गोरखधंधे में फँसकर क्यों अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट कर रहे हो। सही-सही पुरुषार्थ करो, भगवान् के समान हाथ पर हाथ रख निज स्वरूप की उपलब्धि हेतु साधना करो तो पाप कर्म से बच जाओगे अन्यथा सांसारिक बन्धनों/संयोगों में उलझते हुए, मोह से अंधे हुए, नरकादि दुर्गतियों में पहुँचकर दुख ही पाओगे। दूसरा अर्थ यह भी है कि गृहस्थ हो तो श्रमणों के हाथों पर, अपने हाथ कर दो अर्थात् अतिथि संविभाग व्रत का पालन करो। आहारदान देकर गृहस्थ जीवन सफल करो।

४९. संकेत : सुभगता का

''मर हम मरहम बनें'' यह चार शब्दों की कविता भी कुम्भ पर लिखी है। इसका उद्देश्य यही हो सकता है कि हे भगवन्! हमारा जीवन पत्थर के समान

कितना कठोर रहा, कितने लोगों ने हमसे पीड़ा पाई। दूसरों का उपकार भी हम ना कर सके। आज मन में उपकार करने का भाव/विचार बस आया है। **हम भी दूसरों को सुखी बनाने में निमित्त बनें, यह भाव भी अच्छे भविष्य का संकेत है,** किन्तु इस पतित/पापी जीवन में यह संभव नहीं। अतः यही प्रार्थना है प्रभो से– मुझ पापी की–

''इस जीवन में न सही
अगली पर्याय में...तो
मर, हम 'मरहम' बनें...!'' (पृ० १७५)

इस पर्याय को छोड़कर यानी मरकर जब हम दूसरी पर्याय (भव)में जन्म लें तो अगला जीवन हमें ऐसा मिले कि हम भी मरहम की भाँति दूसरों के दुख दूर करने में, परोपकार करने में सहयोगी बन सकें।

५०. स्वीकारो : कटु सत्य को

चार अक्षरों की एक कविता और लिखी है कुम्भ पर, वह है ''मैं दो गला'' इससे पहला भाव यह निकलता है कि मैं दो गले वाला अर्थात् द्विभाषी हूँ। भीतर से कुछ बोलता हूँ यानी मन में कुछ सोचता हूँ, कुछ भाव रखता हूँ और बाहर से कुछ अन्य ही बोलता हूँ। बाहर से भले ही मीठा–मीठा बोलता हूँ किन्तु भीतर तो दूध में जहर घोलने के ही परिणाम रहते हैं। बगुला समान मेरी प्रवृत्ति चलती है। जैसे बाहर से देखने पर बगुला ऐसा ध्यान लगा कर बैठा हो मानो किन्तु भीतर मछली पकड़ने का भाव रहता है।

अब इसका दूसरा भाव प्रकट होता है–''मैं दोगला'' अर्थात् मैं छली-कपटी, ठगी और मायाचारी हूँ किन्तु मान के कारण, अज्ञान के कारण सदा अपनी बुराई, दोषों को छुपाता आ रहा हूँ। सबके सामने अपने को दूध का धुला, साफ-सुथरा, सीधा-सादा, पवित्र मन वाला ही प्रस्तुत करता आया हूँ। इसी कारण से आज तक मेरी आत्मा पवित्र नहीं हो पाई, अतः यदि तुम सब अपना हित चाहते हो तो इस कटु सत्य को स्वीकार करो कि मैं पापी, दुरात्मा, मायावी, लोभी हूँ। देखो पाँच पापों के पूर्ण त्यागी, महाव्रती, श्रमण भी दिन में तीन बार अपने आपको पापी, लोभी आदि कहते हुए अपनी निन्दा, आलोचना करते हैं। फिर तुम भी सोचो अपना हित किसमें है।

और इस कविता में तीसरा भाव यह है कि विभावों एवं विकारों की जड़-मैं यानी अहंकार, गर्व, घमंड, अभिमान को गला दो, नष्ट कर दो।

'' 'मैं' यानी अहं को
दो गला–समाप्त कर दो
मैं...दो गला...! मैं...दोगला!!
मैं...दो...गला!!!'' (पृ० १७५-१७६)

देखो मैं-मैं आवाज करता हुआ बकरा अपना गला कटा देता है, जबकि मैना पंछी आकाश में तू-तू आवाज करती हुई स्वतंत्र आकाश में विचरती हुई आनंद लेती है। इसलिए अहंकार, मैं-पन को नष्ट कर दो।

वर्तमान दम घुटाने वाली, दुर्गन्धमय, खूनी, विद्वेषभरी, अभावभरी, शोषणोन्मुख परिस्थितियों में परिवर्तन लाने के लिए जनसमाज-कल्याण को ध्यान में रखकर मूकमाटी ग्रन्थ में परोक्ष आन्दोलन का संकेत किया है।

डॉ० केदारनाथ पाण्डेय
कोलकाता (पश्चिम बंगाल)

खड़ी बोली और मुक्त छन्द में आध्यात्मिक आधार देकर लिखा गया 'मूकमाटी' पहला महाकाव्य है। काव्य की भाषा यद्यपि बहुत सरल है किन्तु अर्थ गूढ़ और मर्मस्पर्शी है।

प्रो० (डॉ०) विजयेन्द्र स्नातक
पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सोपान १३
सूर्य की प्रखरता से तपती धरती

कुम्भ के जलीय अंश को सुखाने हेतु तपी जमीन पर कुम्भ रखा जाता है। तप की आवश्यकता पर प्रकाश। वसन्त ऋतु का अन्त हो चुका है, चारों ओर बरस रही, चल रही, पल रही है केवल तपन ही तपन। धरा की दशा, धग-धग लपट, दरारदार धरती, दीन बनी नदी, हरिता हरी। वसन्त का भौतिक तन पड़ा है, उसका दाह संस्कार किया गया। बची हुई अस्थियाँ विश्व की मूढ़ता पर हँसती हुई कहती हैं–अब तो मत करो, हमें दफन और देखें अपने पन को। रग-रग में रमा वसन्त, वैराग्य का क्षणिक संस्कार, अन्त में स्नान करना अनिवार्य क्यों ? और अकाल में ही आकाश में बादल दलों की बहुलता का दर्शन, चिन्ता में डूबता शिल्पी।

---

५१. तपता मन : तप बिना

कुम्भ की विकास यात्रा को आगे बढ़ाते हुए चित्रकारी करने के पश्चात् कुम्भ में शेष बचे जलीय अंश (नमी) का पूर्णतः अभाव करने, सुखाने हेतु कुम्भकार सूर्य किरणों से तप्त खुली धरती पर कुम्भ को रख देता है, क्योंकि–

''बिना तप के जलत्व का–अज्ञान का,
विलय हो नहीं सकता
और
बिना तप के जलत्व का–वर्षा का,
उदय हो नहीं सकता।'' (पृ० १७६)

तपस्या को धारण किये बिना, कर्मों को जलाए बिना अज्ञान का नाश नहीं हो सकता है और जब तक धरती तपती नहीं तब तक जोरदार पानी का बरसना होता नहीं। इसलिए तप को अंगीकार करना आवश्यक है। तपस्या से अशुभ कर्म झरते हैं तथा भेदविज्ञान से उत्पन्न आनंद की भी प्राप्ति होती है। **अनादिकाल से आज तक तप के अभाव में ही यह जीव अनेक संकल्प-विकल्पों की आग में झुलसता आ रहा है।**

भव-भव में सुख की खोज करता रहा किन्तु असफलता ही मिली, आकुलता ही फली। किस प्रकार से अपनी बात कहें, कैसे सहें और कैसे रहें ? समझ नहीं आता। इस जीवन में आज तक इसे सफलता अर्थात् सुख मिलने की बात तो मिली, पर मृगतृष्णा की भाँति। सच्चा सुख अभी तक न मिला और शिल्पी

का मन नाश रहित, अन्त से दूर, शाश्वत सुख पाने के लिए मचल रहा है अर्थात् हठ कर रहा है बार–बार उछल–कूद कर रहा है।

५२. प्रचण्ड रूप : प्रभाकर का

वसन्त ऋतु व्यतीत हो चुकी है। ग्रीष्म काल की बात चल रही है। परिवर्तित प्रकृति को देख शिल्पी का सन्त मन अधीर होता हुआ धरती माँ से पूछता है कि–ओ वसन्ती माँ! आज तक जो वसन्त ऋतु का वैभव दिख रहा था वह कहाँ चला गया ? इस पर कुछ शब्द सुनने को मिलते हैं सन्त को कि वसन्त ऋतु समाप्त हो चुकी है, अनन्त आकाश में यह नश्वरता विलीन हो चुकी, अब शेष बचे उसके शरीर का दाह–संस्कार करना है। ग्रीष्मकाल–उष्णता को आमंत्रित किया था, सो वह आ चुकी है। सूर्य का प्रचण्ड रूप, चिलचिलाती भयंकर धूप है, सभी ओर से धग–धग करती लू–लपट चल रही है। बस! तपन ही तपन, आग ही आग बरस रही है।

दशों दिशाओं की दशा बदल चुकी है। पृथ्वी का विशाल हृदय, विस्तृत पेट गहरे दरारदार बने हैं अर्थात् धरती फट चुकी है, जिनमें गरम–गरम हवाएँ प्रवेश पा रही हैं। मानो रसातल यानी धरती की गहराई में पहुँच उबलते लावा को अपना

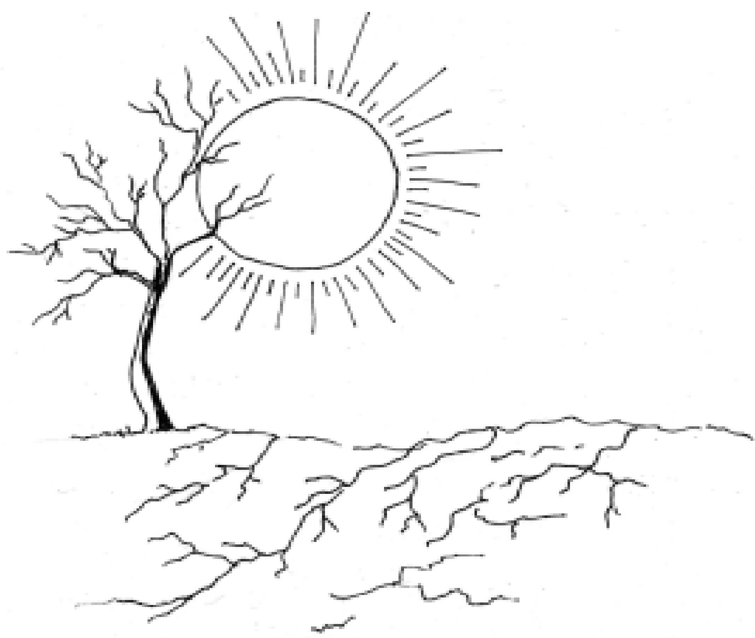

परिचय दे रही हैं। स्वच्छ नीले जल से भरी, जो कभी अन्त को प्राप्त होने वाली नहीं थीं, वे नदियाँ भी सूखती-सूखती पूर्णतः जल से रहित हो गई हैं। यानी न...दी दी...न नदी दीन हो दरिद्रता, उदासता का अनुभव कर रही है। एवं ना...ली ली...ना; नाली भी धरती में लीन हुई जा रही है, छिप रही है लज्जा के कारण। और दिनकर की क्या कहें–

''अविलम्ब[१] उदयाचल[२] पर चढ़ कर भी
विलम्ब से अस्ताचल[३] को छू पाता है
दिनकर को
अपनी यात्रा पूर्ण करने में
अधिक समय लग रहा है।
लग रहा है,
रवि की गति में शैथिल्य आया है,
अन्यथा
इन दिनों दिन बड़े क्यों ?'' (पृ० १७८)

सूर्य शीघ्रता से उदित होकर भी बहुत देर बाद अस्त हो पा रहा है, लगता है इस भीषण तपन के कारण सूर्य को भी अपनी यात्रा करने में अधिक समय लग रहा है। इसी से उसकी गति में शिथिलता, थकावट आयी है और दिन बड़े हो गये हैं।

५३. प्रतिफल : तपन का

हरी-भरी लताएँ सूख गई हैं, पके फलों में मधुरता कम हो गई, कहाँ गई पता नहीं ? मन्द सुगन्ध हवा का बहाव कहाँ चला गया, पेड़ों का फलों के समूह से भरकर झूलना, फूलों की मुस्कान, पत्तों के टकराने की आवाज, भौंरों का गुंजन कहाँ खो गया ? पल भर के लिए भी शीतलता की अनुभूति नहीं हो पा रही है। सब कहाँ चली गई ? लगता है यह सब तपन का ही प्रतिफल है।

प्रकृति का आकर्षण, चेतना की जागृति, फूलों की महक, चिड़ियों का चहचहाना अब नहीं रहा। तन को सुख देने वाली किरणों वाला सूर्य कहाँ चला गया ? हँसी-खुशी की बात, चेतना, उत्साह कुछ भी शेष नहीं रहा। इसका कारण भी तपन है। इन सब परिस्थितियों को देखकर यही अनुमान लगाया जा सकता है

---

१. अविलम्ब = शीघ्रता से।

२. उदयाचल = वह पर्वत, जिसकी ओर सूर्य उदित होता हुआ दिखता है।

३. अस्ताचल = वह पर्वत, जिसकी ओर सूर्य अस्त होता हुआ दिखता है।

कि संसार का सब वैभव नाशवान है। भोग (भोगने योग्य वस्तु) सामग्री यहीं पड़ी है, किन्तु भोक्ता (भोगने वाला) चला गया। दुनिया के सारे संयोग, साथी यहीं पड़े हैं योगी जिससे संयोग था, वह चला गया है। भोक्ता के बिना भोग्य पदार्थों का क्या मूल्य, विचारना होगा कौन किस के लिए–

''धन जीवन के लिए
या जीवन धन के लिए ?
मूल्य किसका
तन का क्या वेतन का,
जड़ का क्या चेतन का ?'' **(पृ० १८०)**

जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए गृहस्थ जीवन में धन आवश्यक है] किन्तु क्या सारा जीवन धन संग्रह के लिए ही व्यतीत करना उचित है? मूल्य किसका–शरीर का या जीविका चलाने हेतु प्राप्त धन का ? जड़ पदार्थों की रक्षा का या चेतन आत्मा की सुरक्षा का ?

ऐसा लग रहा है कि वसन्त ऋतु के तन पर से आभरण-आभूषण सभी उतार लिए गये हैं। जिस वस्त्र की आड़ में वासना छुप जाती है, उस वस्त्र को भी उतार लिया गया है, किन्तु वास्तव में–

''वासना का वास वह

न तन में है, न वसन में
वरन्
माया से प्रभावित मन में है।'' (पृ॰१८०)

विषय-भोगों की इच्छा का निवास, न ही शरीर में है और न ही वस्त्रों में अपितु अज्ञान से प्रभावित मन में है। वह वहाँ ही पैदा होती और वहीं रहती है।

५४. उल्टी-पल्टी : रसना

गन्ध रहित फूल के समान, निरावरण, अचेत (मृत, जड़) वसन्त ऋतु का पौद्‌गलिक शरीर पड़ा है। उसका मुख थोड़ा-सा खुला है, मुख से बाहर निकली जीभ थोड़ी-सी उल्टी-पलटी कुछ कहती-सी लग रही है कि **भौतिक जीवन में रस यानी सही सुख नहीं है।** रसना शब्द स्वयं भी पलट कर कुछ कहता है कि-र...स...ना, ना...स...र। लगता है, वसन्त के पास सर यानी दिमाग नहीं था, हित-अहित को जानने की बुद्धि भी नहीं रही; तभी तो वसन्त के समान आकर्षण किन्तु नश्वर जीवन का सन्तों पर कोई असर, प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् क्षणभंगुर जीवन पर सन्त लुभाते नहीं, आकर्षित नहीं होते।

दाह संस्कार का वक्त आ गया और जब वसन्त के शरीर पर से कफन भी उतार लिया गया। तब चारों ओर वैराग्य का वातावरण छा गया। शव में आग लगा दी गई। उन आग की लपटों के उठते ही शव दिखना भी बंद हो गया। सब अतीत की बातें, यादें रह गयीं बस।

वसन्त के दाह संस्कार के बाद भी कुछ हड्डियाँ शेष बची रहीं, वे संसार की अज्ञान दशा पर हँसते-हँसते कुछ कहती हैं-

''जिसने मरण को पाया है
उसे जनन को पाना है
और
जिसने जनन को पाया है
उसे मरण को पाना है।'' (पृ॰ १८१)

जिसने मृत्यु (मरण) को ग्रहण किया है, उसे पुनर्जन्म भी लेना पड़ता ही है जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु भी अनिवार्य है। यह एक अकाट्य नियम है। कितनी बार धरती में गहरे-गहरे गड्ढे खोदकर हमें दफनाया गया, किन्तु अब ऐसा पुरुषार्थ करो कि ना हड्डियाँ शेष बचें और ना ही हमें दफनाना पड़े। (अरिहन्त दशा को प्राप्त करो) क्योंकि हमें दफन (जमीन में गड़ा देना) करना ही पुनः आगामी संसार के लिए बीज-वपन का कारण बनता जा रहा है।

५५. बोलती : अस्थियाँ

संसार की विचित्रता का वर्णन करती हुई अस्थियाँ कहती हैं–कभी भयंकर काला राहु, सूर्य को पूरा का पूरा निगलता हुआ सूर्यग्रहण दिखा तो कभी आग उगलता हुआ सूर्य दिखा। उसकी तपन में पेड़–पौधे, पर्वत, पाषाण पूरा का पूरा संसार पिघलता–गलता नजर आ रहा है। आग कभी हवा हुई, हवा जल बनी, जल कभी भूमि के रूप में परिवर्तित हुआ, भूमि में मिला जल कीचड़ बना। कभी अमृत को झराने वाली पूर्णिमा की रात दिखी, हँसता हुआ चन्द्रमा दिखा तो कभी भौंरे के समान अमावस्या की रात दिखी। कभी हँसी–खुशी तो कभी गम, कभी सुगन्ध कभी दुर्गन्ध, कभी मित्रता तो कभी शत्रुता, कभी आँखें तो कभी अंधता, कभी स्वतंत्रता तो कभी पराधीनता।

कभी मधुर भी मधुरता से दूर दिखा, सुन्दर भी सुन्दरता से व्याकुल अर्थात् हीन दिखा, भाई भी भाई–बन्धुओं से रहित दिखा। भावुकता बढ़ती चली। बालक पालक बना, पालक चालक बना। कभी दमन, कभी शमन और कभी सुख–चमन। कभी वह भी नहीं, कभी कुछ परिणमन हुआ।

इतना सब कहने के बाद भी अस्थियाँ थकी नहीं, रुकी नहीं और भी कुछ कहती हैं आगे कि संसार के इन सब परिणमन को देख यह धारणा नहीं बना लेना कि ये कुछ हैं ही नहीं या ये सब कल्पना मात्र हैं। अभाव में से इनका जन्म नहीं होता। हाँ इतना जरूर है, ये रात्रि स्वप्न के समान क्षणभंगुर अवश्य हैं। अपना स्वभाव/स्व–पन इनमें नहीं है।

वस्तु का नष्ट होना, नये रूप में जन्म लेना फिर भी उनका अस्तित्व सदा बने रहना यह सब कैसे होता है ? शाश्वत सत्ता का दर्शन कब होगा, कब शाश्वत सत्य निजात्मा की आनन्दानुभूति मिलेगी ? मिलने मिटने वाली प्रतिक्षण परिवर्तनीय दशा पकड़ में क्यों नहीं आती इन आँखों से ? इन सब प्रश्नों का उत्तर अस्थियों की मुस्कान में हैं, जो कह रही हैं–

''उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्''
सन्तों से यह सूत्र मिला है
इनमें अनन्त की अस्तिमा
सिमट–सी गई है।
यह वह दर्पण है,
जिसमें
भूत, भावित और सम्भावित
सब कुछ झिलमिला रहा है,

...तैर रहा है

दिखता है आस्था की आँखों से देखने से! (पृ० १८४)

"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" अर्थात् जो है उसका यह लक्षण है कि प्रति समय उसमें नई पर्याय जन्म लेती है, पुरानी नष्ट हो जाती है तथा नई और पुरानी पर्यायों में वस्तु का अस्तित्व बताने वाली ध्रौव्यता को लिए द्रव्य सदा बना रहता है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता। जैसे–मिट्टी का लोंदा घट बना, घट पर्याय की उत्पत्ति–उत्पाद, लोंदा पर्याय का विनाश–व्यय और मिट्टी का दोनों अवस्था में बने रहना, सो ध्रौव्य है। यह सूत्र अनन्त में शान्त, शाश्वतता में क्षणभंगुरता का भी दर्शन कराता है।

यह वह दर्पण है जिसमें वस्तु की अतीत, वर्तमान और भविष्यकालीन तीनों पर्यायें स्पष्ट झलकती हैं, दिखाई पड़ती हैं, किन्तु इन चर्म चक्षुओं से नहीं, आस्था की आँखों से अर्थात् जिनवाणी पर श्रद्धान होने से। व्यावहारिक भाषा में कहा जाता है–आना, जाना, लगा हुआ है। इसका अर्थ भी यही है कि सत् का स्वरूप उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से सहित होता है। यही सत्य है और यही तत्त्व ज्ञान है।

५६. भवानुगामी पाप

उपर्युक्त सब चर्चा का सार यह निकला कि दुनिया के सभी द्रव्य[१] (छहों) एक दूसरे को सहारा देते हुए अनादिकाल से दूध में शक्कर की तरह घुल-मिलकर रह रहे हैं। फिर भी वे अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। फिर कौन किसको ग्रहण करे, कौन किसको हरे ? अपना स्वामी, अपने परिणामों का कर्त्ता प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, फिर कौन, किसको पाले-पोषे, पर का कर्त्ता बने। फिर भी खेद की बात है–

"ग्रहण-संग्रहण का भाव होता है

सो...भवानुगामी पाप है।" (पृ० १८५)

दूसरों को स्वीकारना, लेना, पर-पदार्थों को जोड़-जोड़कर रखने का जो परिणाम सदा चलता ही रहता है, सो भव-भव में साथ चलने वाले पाप का ही कारण बनता है। अब ज्यादा कुछ नहीं कहना। आज तक यह रहस्य था, खुल ना पाया सो कहा जा रहा है। अपनी-अपनी परिणति से ही सबमें सुधार संभव है, अपने स्वरूप का। अब तो हम सब जागे और अपने स्वरूप स्व-पन को देखने जानने का प्रयास करें।

---

१. सभी द्रव्य = द्रव्य छह होते हैं–जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल।

वसन्त के चले जाने के बाद उसकी देह का दाह–संस्कार कर दिया गया फिर भी आज वन–उपवनों पर, धरती के कण–कण पर अभी उसका प्रभाव दिख रहा है। प्राणियों के रग–रग में, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पर वसंत का गहरा प्रभाव जम चुका है। प्राकृत (प्रकृति सम्बन्धी) वैराग्य का प्रसंग पूर्णतः समाप्त हो चुका है, फिर भी कुछ वैराग्य के संस्कार रह न जाये इसलिए दाह संस्कार के पश्चात् पूरे परिवार जन को स्नान करना एवं स्थान धोना अनिवार्य–सा लग रहा है।

विशेष—सांसारिक जीवन में किसी परिजन की मृत्यु हो जाने के बाद परिवार जन, संगी–साथी श्मशान पहुँचकर उसकी देह को वस्त्राभूषण से पृथक् कर, कफन भी निकालकर, देह का दाह संस्कार करते हैं तो तात्कालिक श्मशान वैराग्य उत्पन्न होता है। घर लौट आने के बाद भी सूनापन लगता है किन्तु ऐसा लगता है कि वह वैराग्य का वातावरण ज्यादा देर तक तन–मन में न टिक सके इसलिए पूरे परिवार जन तुरन्त स्नान करते हैं एवं पूरे परिसर को पानी डालकर साफ कर दिया जाता है। दो–तीन बाद सभी के मन ज्यों के त्यों राग–रंग में, धन–पैसा कमाने में, मोह जाल में फँस जाते हैं। अनादिकालीन मोह का यह प्रभाव लगता है।

५७. बहुलता : बादल की

भीषण गर्मी के विषय में चिन्तन चल रहा था, वसन्त की यथार्थता का। जीवन की नश्वरता का बोध हुआ, किन्तु उधर आकाश में यह क्या—सघन बहुत मात्रा में बादल उमड़ने लगे। शिल्पी विचार करता है—अभी वर्षा ऋतु का मौसम/काल नहीं है फिर भी अतिथि के समान बादल आ गये, किन्तु अति ठीक नहीं। क्योंकि नीति है—

> **''आय नहीं होती, नहीं सही**
> **व्यय से भी कोई चिन्ता नहीं**
> **परन्तु**
> **अपव्यय महा भयंकर है।'' (पृ० १८६–१८७)**

धन की आमदनी ना हो तो ना सही। खर्च की भी इतनी चिन्ता नहीं, किन्तु अति खर्चा, अपरिमित व्यय तो अत्यन्त हानिकारक, भयंकर है। भविष्य अच्छा नहीं लगता, लगता है कुम्भ का भाग्य उज्ज्वल नहीं है। बादल–दलों का विकराल रूप देखकर ऐसा लग रहा है मानो वे एक ही ग्रास में पूरे विश्व को बिना चबाये ही निगलने वाले हों अर्थात् धरा पर जोरदार, मूसलाधार वर्षा होने की पूरी संभावना बन चुकी है।

❑ ❑ ❑

तृतीय खण्ड

पुण्य का पालन

पाप-प्रक्षालन

बिखरे कण

१. संयम के सामने १३७
२. परिणाम : अज्ञानता का १३८
३. सार्थक हुआ नाम : जलधी १३९
४. पथिक : न्याय पथ का १४०
५. रक्षा : धन-सम्पदा की १४१
६. मोती बनी : जल की बूँदें १४२
७. विकास हो : परमार्थ का १४३
८. नियन्त्रण : मन का १४५
९. सरोष प्रवचन : प्रभाकर का १४६
१०. आदर्श : स्त्री समाज का १४७
११. प्रथम मंगल :
लौकिक मंगलों में १४८
१२. रक्षक : अपव्यय रोग की १४९
१३. सम्मान हो सदा : माँ का १५०
१४. बदली : तीनों बदलियाँ १५०
१५. वर्षा : मेघ मुक्ता की १५१
१६. पाप : क्या कर रहे हैं आप १५२
१७. आँसू : कुम्भकार की आँखों में १५३
१८. मूर्च्छा दूर हो :
बाहरी-भीतरी भी १५४
१९. उल्लंघन : मर्यादा का १५५
२०. परिचय : कुलीनता का १५६
२१. मुक्ता : राज प्रासाद की ओर १५७
२२. स्वभाव : स्त्री जाति का १५८
२३. खौल उठा : बड़वानल १५९
२४. मीमांसा :
बादलों के तन-मन की १६०
२५. व्यवस्था : उपाय, अपाय की १६२
२६. बात : रहस्य की १६४
२७. अपार राशि :
सौरमण्डल की ओर १६५
२८. भास्कर : राहु के गाल में १६७
२९. रक्षा हो : माँ के मान की १६८
३०. इन्द्र नहीं : इन्द्रधनुष १६९
३१. चाहना और भावना १७१
३२. उद्घाटन : अपार भण्डार का १७१
३३. शक्ति : अणु की और मनु की १७२
३४. जीत हुई : भू-कणों की १७३
३५. असह्य अभाव : परमार्थ का १७५
३६. प्रभु भक्ति में लीन :
मति शिल्पी की १७६
३७. समयोचित बात १७७
३८. आगमन : पवन का १७८
३९. कृतज्ञता : धरा के प्रति १७९
४०. अप्रभावित : शिल्पी १८०
४१. नदी आग की : बिना सहारे १८१

सोपान १४
जल की अज्ञानता : सागर का स्वभाव

अकाल में बादलों की बहुलता देख धरती का दिल भी दहल उठा, ऊपर वालों से नीचे वालों को क्या मिला ? असंयमी संयमी को क्या दे सकता है ? जलधि की अज्ञानता, जड़ बुद्धि का परिचय। धरती की सहनशीलता, चन्द्रमा द्वारा घूस ले सागर का पक्ष धरना, भानु की पृथ्वी के प्रति निष्ठा, सीप का निर्माण, धरती का हाथ, जल का छल स्वभाव, सागर में विष का भण्डार क्यों ? धरती की उदारता, वंशमुक्ता, नागमुक्ता, सूकरमुक्ता, गजमुक्ता आदि का निर्माण, लेखनी द्वारा धन गृद्धि को धिक्कारना।

१. संयम के सामने

आकाश में छाए हुए सघन बादलों को देख धरती के दिल की धड़कन बढ़ गई, मन भयभीत हुआ। होंठ काँपने लगे, धैर्य कहीं खो-सा गया, आकुलता दिखने लगी उसमें। इस समय भोगी की हो या योगी की, किसी की भी बुद्धि काम नहीं कर रही है। लगता है इस जोरदार बारिश से धरती की उपजाऊ शक्ति बह-बह कर नष्ट हो जायेगी। प्रायः यही सुना भी जाता है कि धरती के ऊपर आकाश में विचरण करने वाले विद्याधरों[१] और देवों से भूमिगोचरियों[२] को सम्मान कम ही मिलता है अथवा धनवानों-बलवानों से कमजोरों-पतितों को उपहार कम ही मिलता है। मिलता भी है तो आक्रमण, अपमान भरपूर और फिर-

''असंयमी संयमी को क्या देगा ?
विरागी रागी से क्या लेगा ?'' (पृ० २६९)

ऊपर रहने वाला जिसका जीवन आमूलचूल[३] असंयम में ही डूबा हो, वह नीचे रहकर आत्म-साधना करने वाले, सर्वस्व त्यागी व्रतियों को क्या देगा ? इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली बहुमूल्य वस्तुएँ, वस्त्र, सोना-चाँदी, धन-सम्पत्ति आदि कुछ भी तो नहीं, क्योंकि यह सब तो छोड़कर ही वह व्रती बना है। जिसने देह-मात्र के प्रति भी राग-बुद्धि छोड़ दी है, ऐसा वीतरागी संयमी जीव, राग-द्वेष में लिप्त सरागी, संसारी प्राणी से ले भी तो क्या ले ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

१. विद्याधर = तरह-तरह की विद्याधरों का धारक, आकाश में विचरने (घूमने) वाले।
२. भूमिगोचरी = धरती पर ही चलने-फिरने वाले सामान्य मनुष्य।
३. आमूलचूल = जड़ से लेकर शिखर तक (पूरा का पूरा)।

विशेष—वीतरागी की मुद्रा दिगम्बरत्व धारण करने के बाद भी यदि संयमी[१] द्वारा असंयमी, रागी से कुछ चाहना की जाये, याचना का भाव मन में आये तो समझना होगा सही वीतरागता से वह अभी बहुत दूर है। आचार्यों ने याचना करने वालों को अणु से भी हल्का निम्न बताया है तथा अयाचकवृत्ति[२] रखने वाले महापुरुष को सुमेरुपर्वत से भी भारी, महान् श्रेष्ठ कहा है।

मात्र कानों से सुना ही नहीं कई बार देखा गया है कि पञ्चेन्द्रिय के विषय-भोग, पाँच पापों के त्याग रूप नियम-संयम के सामने सामान्य असंयमी ही नहीं, किन्तु यमराज (मृत्यु का देवता) के समान दुनिया को वश में करने वाले अथवा जीतने वाले रावण सरीखे बलशाली पुरुष भी हार मान जाते हैं। नाना विद्याओं के स्वामी विद्याधर, तीन लोक में तहलका मचाने की शक्ति रखने वाले देवों के नायक इन्द्र, असुरेन्द्र, प्रतीन्द्र आदि भी हाथ जोड़कर संयम की दासता स्वीकार करते हैं, किन्तु संयम के स्वामी नहीं बन पाते।

२. परिणाम : अज्ञानता का

अकाल में ही आकाश में उमड़ते बादल समूह की बहुलता देख शिल्पी विचार करता है कि जब कभी धरती पर प्रलय हुआ। उसका कारण जल ही बना है। धरती को शीतलता प्रदान करने का लोभ दे, जल ने इसे लूटा ही है। धरती का धन-वैभव बहा-बहाकर समुद्र की ओर ले गया, तभी तो समुद्र का एक नाम 'रत्नाकर' भी पड़ा और इसी कारण धरती ज्यों की त्यों धनहीन ही रह गई। न ही धनवान हुई और न ही इसका नाम वसुंधरा बचा, किन्तु इतना तो जानना ही होगा—

''पर-सम्पदा की ओर दृष्टि का जाना
अज्ञान को बताता है,
और
पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना
मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है
स्व-पर को सताना है,
नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।'' (पृ० १८९)

---

१. संयमी = मन की वासनाओं को अनुचित या बुरे मार्गों में जाने से रोकने वाला, इन्द्रिय निग्रह करने वाला।

२. अयाचकवृत्ति = कुछ भी नहीं माँगने की प्रवृत्ति/आदत।

अपनी वस्तु को छोड़, दूसरों की धन–दौलत की ओर देखना अज्ञान का परिणाम है, इससे अपना सुख–चैन समाप्त होता है। **जितना अपने पास है उतने में ही संतोष रखना परम सुख को पाना है।** फिर दूसरों की सम्पत्ति को छीनकर अपने पास जोड़–जोड़ कर रखना/इकट्ठा करना, मोह यानी गृद्धता, मूर्च्छा की अधिकता को प्रकट करता है। यह कार्य बहुत निम्न स्तर का और निन्दनीय है कारण, धन को बारहवाँ प्राण माना है। किसी का धन छुड़ाया जाता है तो उसे प्राण निकलने जैसा कष्ट होता है और फिर धन छुड़ाने वाले को भी घोर पाप का बन्ध होता है। अतः इस कार्य से स्व और पर दोनों ही दुखी होते हैं, जिसका फल घोर नरकों में जाकर कष्ट सहन करते हुए जीवन बिताना है।

३. सार्थक हुआ नाम : जलधी

इस निन्दनीय कार्य को करते हुए समुद्र ने अपनी अज्ञानता, बुद्धिहीनता का परिचय दुनिया को दिया है और 'जलधी' यानी 'जड़धी'[१] अपने नाम को सार्थक किया है। अपने साथ इतना बुरा व्यवहार होने के बाद भी धरती ने बदला नहीं लेने का संकल्प लिया है। इसलिए धरती का नाम 'सर्वंसहा' (सब–कुछ सहन करने वाला) भी पड़ा है। सर्वंस्वाहा (सबको नष्ट करने वाला) नहीं। सन्तों का शान्त पथ भी सदा यही कहता है–

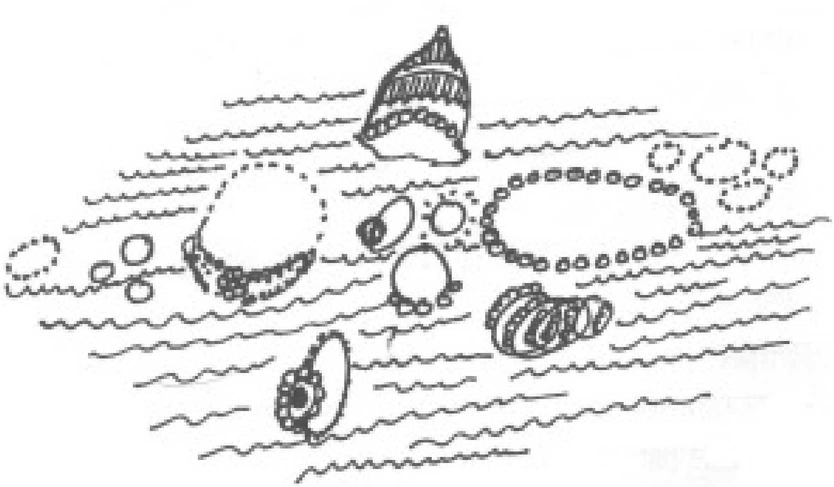

१. काव्य साहित्य में ल और ड़ में भेद नहीं माना जाता है, अतः ल के स्थान पर ड़ करने से जलधी के स्थान पर जड़धी हुआ।

“सर्वं-सहा होना ही
सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है।” (पृ० १९०)

सब कुछ कष्टों को सहने की आदत वाला व्यक्ति ही जीवन में सब सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करता है। सहनशीलता महान् व्यक्तियों का एक विशिष्ट गुण माना जाता है। इसके अभाव में जीवन कभी भी श्रेष्ठ/महान् नहीं बन सकता है।

माँ धरती सब अन्याय को समता से सहन कर रही है, किन्तु न्याय पथ पर चलने वाले सूर्य से यह अन्याय देखा नहीं गया। उसने किसी से इसकी चर्चा भी नहीं की, किन्तु वह निरन्तर यह प्रयास करता रहा कि अन्याय का पक्ष नष्ट हो और न्याय पक्ष की जीत हो। इसलिए उसने अपनी तेज किरणों द्वारा समुद्र के जल को सुखा दिया और उसके भीतर छुपे अपार धन-वैभव को देवों और इन्द्रों को दिखा दिया। इस पर भी जल का स्वभाव तो देखो कि जला हुआ जल बादल में बदला और पुनः बरस जाता है। बार-बार अपने दोष और चोरी के धन को छुपाता रहता है वह।

४. पथिक : न्याय पथ का

समुद्र ने कई बार सूर्य को घूस (रिश्वत) देने का प्रयास किया, पर सूर्य अपने न्याय मार्ग से विचलित नहीं हुआ। (लगता है इसी निरीह वृत्ति, सत्य निष्ठा के कारण ही सूर्य लौकिकता में नारायण यानी भगवत् पद को प्राप्त हो पूजा जाता है), किन्तु चन्द्रमा लक्ष्य से विचलित हुआ और उसने जल तत्त्व यानी समुद्र का पक्ष लिया। समुद्र से भरपूर घूस लेने के कारण ही थोड़ी-सी, चन्द सम्पदा का स्वामी चन्द्रमा ‘सुधाकर’ बन गया है। धरती की सारी सुधा एकत्र कर वह चन्द्रमा को दे देता है और इधर समुद्र स्वयं खारा ही रहता है। लगता है उसके भाग्य में खारापन, क्षार ही है।

इधर रिश्वत लेने के कारण चन्द्रमा को लज्जा आ रही है। वह सोच रहा है कि उच्च स्थान पर रहने वाले मैंने, अपने पद के अनुकूल कार्य नहीं किया। मेरे लिए यह उचित नहीं था। इसलिए उसका माथा कलंकित हुआ लगता है। अतः वह शंका सहित अपना मुख छुपाते-छुपाते रात में ही उदित होता है, दिन में नहीं और वह चन्द्रमा धरती से बहुत दूर (८८० योजन) रहता है जबकि सूर्य धरती के पास (८०० योजन) ही घूमता रहता है।

विशेष—जैन आगमानुसार सूर्य धरती से ऊपर ८०० योजन की दूरी पर तो

चन्द्रमा ८८० योजन की दूरी पर स्थित है। १ योजन का प्रमाण ६००० किलोमीटर जानना चाहिए। अतः सूर्य धरती से ४८ लाख किलोमीटर की दूरी पर है और चन्द्रमा ५२ लाख ८० हजार किलोमीटर की दूरी पर है।

५. रक्षा : धन-सम्पदा की

खेद है कि तारागण भी चन्द्रमा का साथ देती हैं। समुद्र चन्द्रमा को देख प्रसन्नता से उमड़ने लगता है तो सूर्य को देख क्रोध से उबलने लगता है। कारण–

''अर्थ की आँखें
परमार्थ को देख नहीं सकतीं
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को
निर्लज्ज बनाया है।'' (पृ० १९२)

जिनकी आँखों में सदा धन ही धन दिखता है, उन्हें कभी परमार्थ यानी परम प्रयोजन धर्म–आत्म तत्त्व का दर्शन नहीं हो सकता। धन की इच्छा ने बड़े-बड़े धनिकों, बुद्धिमानों को भी लज्जाहीन बना दिया है। वीतरागी भगवान् के पास जाकर भी धन की माँग इसी का परिणाम है।

बहुमूल्य मोतियों का खजाना सागर में मिलता है। कारण, जल की बूँद ही मोती का रूप धारण करती हैं, किन्तु इस कार्य में भी धरती का प्रमुख सहयोग है। सीप धरती का ही अंश है। धरती ने स्वयं सीप को प्रशिक्षित कर समुद्र में यह कहकर भेजा है कि जल की जड़ता/अज्ञानता को दूरकर उसे मुक्ताफल (मोती)

बनाना है। पाप पंक में गिरे हुए को ऊपर उठाना ही धैर्य को धारण करने वाली धृति-धारिणी धरती माँ का लक्ष्य है। यही दया-धर्म, चेतन का कार्य है। फिर भी जल की विपरीत प्रवृत्ति मिटती नहीं, क्योंकि छल-कपट उसका स्वभाव है।

खुले मुख वाली ऊर्ध्वमुखी शुक्तियों (सीपों) पर जैसे ही जल की एक-दो बूँद गिरती हैं, तत्काल उनके मुख को बंद कर सागर अपने भीतर डुबो लेता है, कोई ले ना ले इस डर से। और इतनी गहराई में छुपा लेता है कि यदि कोई गोताखोर उस सम्पदा को धरा (धरती) पर लाने हेतु नीचे पहुँचता है तो उसका खाली हाथ लौटना भी मुश्किल से हो पाता है। वहीं उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है।

धन-सम्पदा की रक्षा हेतु भयंकर नाग, अजगर, मगरमच्छ आदि सम्पदा के आस-पास निरन्तर, दिन-रात घूमते रहते हैं वहाँ। कोई अपरिचित-सा दिखे तो तुरन्त ही उसको साबुत निगल लेते हैं, यदि वह पकड़ में न आए तो पूरे वातावरण में विष फैला देते हैं, जिससे वह मर जाता है। लगता है इसी कारण समुद्र में विष यानी जहर का विशाल भण्डार मिलता है।

६. मोती बनी : जल की बूँदे

जल के स्वभाव को अच्छी तरह जानते हुए भी धरती माँ ने अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ा। अपकार करने वाले के प्रति विघ्न करने का विचार भी उसके मन में नहीं आया। हमेशा सबके जीवन विकास की बात ही सोचती रहती है। कितने उदार हृदय वाली है, यह धरती माँ। इसलिए अपने वंश, अपनी संतान बाँस को भी कह रखा है उसने-

> **''वंश की शोभा तभी है**
> **जल को मुक्ता बनाते रहोगे**
> **युगों-युगों तक...**
> **संघर्ष के दिनों में भी**
> **दीर्घश्वास लेते हुए भी**
> **हर्ष के क्षणों में भी।'' (पृ० १९५)**

जिस उदार वंश में तुमने जन्म लिया है, उसकी शोभा तभी है जब कठिन से कठिन परिस्थितियों में कष्ट को सहते हुए अथवा हर्ष का माहौल हो तो प्रसन्न रहते हुए भी सदा जल को मोती बनाते रहोगे। माँ की आज्ञा को स्वीकार कर आकाश से गिरी जल की बूँदों को ऊँचे-ऊँचे वे बाँस मोती बनाते रहे। इसलिए तो

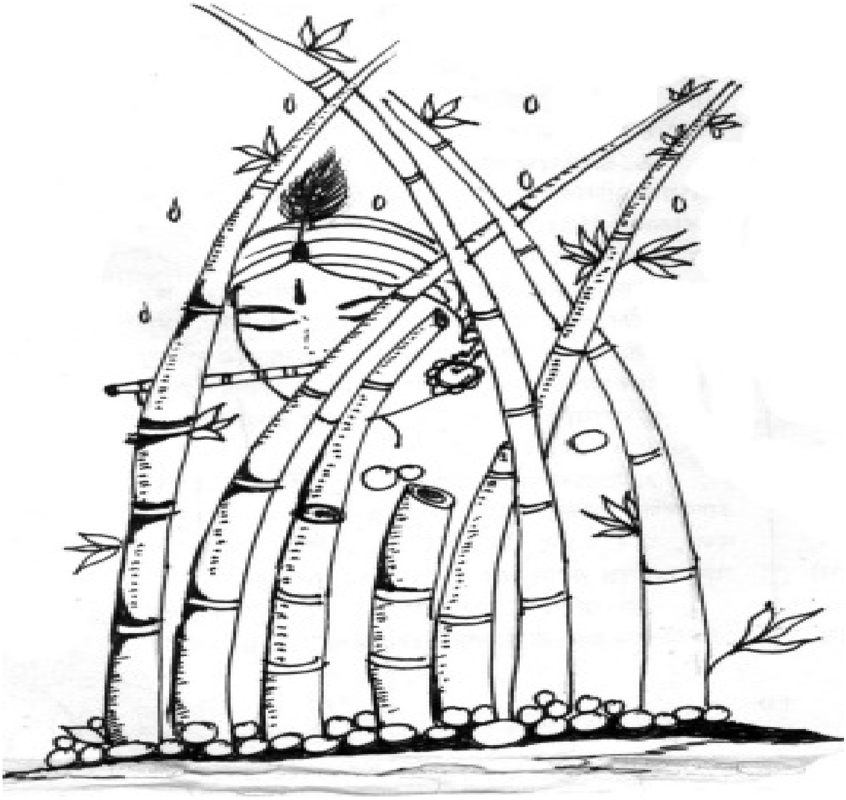

नारायण श्रीकृष्ण ने मोती को गले में धारण किया और बाँसुरी को अपने होठों से लगा लाड़-प्यार दिया। बदले में बाँसुरी से अपने को खोकर, दिन-रात के सपनों को भुलाकर कानों ने मधुर, मीठे स्वर संगीत सुने।

इसी प्रकार धरती माँ की आज्ञा पालने में लीन हैं—बाँस, सीप, नाग, सूकर, मत्स्य, हाथी (गज) और मेघ आदि। जिनके नाम से वंश-मुक्ता, सीप-मुक्ता, नाग-मुक्ता, सूकर-मुक्ता, मत्स्य-मुक्ता, गज-मुक्ता और मेघ-मुक्ता प्रसिद्ध है। मेघ-मुक्ता बनने में भी धरती का ही हाथ है। सो आगे स्पष्ट होगा ही।

७. विकास हो : परमार्थ का

इधर धरती की ख्याति बढ़ रही है तो दूसरी ओर चन्द्रमा की चाँदनी के मन में ईर्ष्या भी बढ़ती जा रही है। धरती के प्रति अनादर, तिरस्कार का भाव बढ़ा, और धरती को अपमानित कर दोषी सिद्ध करने हेतु चन्द्रमा के निर्देशन में जल तत्त्व तेजी से शतरंज की चाल चलने लगा अर्थात् कूटनीति के साथ जब कभी थोड़ी-

सी वर्षा करके, धरती की अखण्डता को नष्ट करने हेतु, जमीन पर दल-दल पैदा करने लगा। क्योंकि–

"दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना!
जितने विचार, उतने प्रचार
उतनी चाल-ढाल
हाला घुली जल-ता
क्लान्ति की जननी है ना!" (पृ० १९७)

यह निश्चित है धरा पर जितने दल (समूह, पार्टियाँ) बनते जायेंगे, शान्ति उतनी ही दूर होती जायेगी। जितने दल उतने अलग-अलग विचार उठेंगे, वैसा ही उनका प्रचार-प्रसार होगा। फिर उतने ही प्रकार का व्यवहार, आचरण होता जायेगा। फलस्वरूप स्वार्थ के विष से घुली अज्ञानता दुख को ही जन्म देगी।

इस संसार में थोड़ी-सी स्वार्थसिद्धि के लिए, क्षणिक ख्याति, पूजा की चाह के कारण सब कुछ घट सकता है। तभी तो चन्द्रमा के द्वारा भी अकाल में ही अतिवृष्टि का समर्थन हो रहा है। परमार्थ (वास्तविक सुख, मोक्ष) का विकास हो, ऐसी भावना को मन में धारण किए प्रभु की अर्चना, प्रभु से प्रार्थना सबके मन से पता नहीं कहाँ चली गई।

इसी बीच अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को खोलकर देख रही लेखनी बोल पड़ी–पतन की ओर ले जाने वाली यानी अध:पातिनी, विश्व की सुख शान्ति को नष्ट करने वाली विश्वघातिनी मानव की दुर्बुद्धि (बुरी भावना) के लिए धिक्कार हो और आपत्ति को पैदा करने वाली, दूसरों को पीड़ा देने वाली बड़ी चील के समान धन के प्रति आसक्ति के लिए भी धिक्कार हो, धिक्कार हो!

नई कविता के युग में धर्म, दर्शन और अध्यात्म क्षेत्र के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में भी अप्रतिम योगदान देने वाले आचार्य श्री विद्यासागर कवि एवं दार्शनिक सन्त के रूप में विख्यात हैं। 'मूकमाटी' में विषयवस्तु से लेकर पात्र परिकल्पना तक परम्परा का विद्रोह है। इसमें सब नयापन है। निम्नवर्गीय पात्रों को लेकर उनके माध्यम से धर्म, दर्शन और अध्यात्म की जिज्ञासाओं के समाधान प्रस्तुत किए गये हैं।

शेख अब्दुल वहाब
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग,
इस्लामिया कॉलेज, वाणियम्बाड़ी, तमिलनाडु

सोपान १५
प्रभाकर के मुख से नारी का गौरव

कुम्भकार का प्रवास पर जाना, तन-मन का नियन्त्रण, सागर को प्राप्त हुआ माटी के उपहास और कुम्भ को नष्ट करने का स्वर्णावसर। तीन बदलियों को भेजना उनके बाहरी-भीतरी रूप-स्वरूप का कथन। प्रभाकर की प्रभा प्रभावित होते देख, प्रभाकर का सरोष प्रवचन, स्त्री समाज की संस्कृति, स्त्रियों के नाम। यथा–भीरु, नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता इत्यादि की नवीन, सार्थक व्याख्या। मातृत्व की उपयोगिता, अन्त में अंगना शब्द की बात–मैं मात्र अंग ना हूँ किन्तु भार रहित आभा का आभार मानो। प्रवचन सुन बदली तीनों बदलियाँ, सो प्रभाकर से क्षमायाचना। पाप को पुण्य में बदलने कुम्भकार के प्रांगण में मेघ-मुक्ता की वर्षा कर वापस लौटना।

८. नियन्त्रण : मन का

ना चाहते हुए भी किसी कारण वश कुम्भकार को तीन-चार दिन के लिए उपाश्रम छोड़कर बाहर जाना पड़ा किन्तु शरीर ही बाहर गया, मन तो बार-बार उपाश्रम ही लौट आता था। मन की बात क्या कहें –

''तन को अंग कहा है
मन को अंगहीन अंतरंग
अनंग का योनि-स्थान है वह
सब संगों का उत्पादक है
सब रंगों का उत्पातक...!'' (पृ० १९८)

शरीर अंग है। देखने-पकड़ने में आता है किन्तु मन अंग से रहित है। तन के भीतर रहता है। यह मन ही काम-वासनाओं का उत्पत्ति स्थान है। सब पदार्थों के प्रति मूर्च्छा-भाव इसी का परिणाम है। अनेक संकल्प-विकल्पों को पैदा कर चेतन आत्मा को अशान्त बनाने वाला यही मन है। शरीर को वश में करना तो सरल है, पर **मन को वश में करना असम्भव तो नहीं किन्तु एक कठिन कार्य, कड़वा पेय है अवश्य।**

उपाश्रम में खुले आकाश के नीचे बाहर भूमि पर सूखने रखे कुम्भ और कुम्भकार की अनुपस्थिति ज्ञात होते ही समुद्र सोचता है– यह एक अच्छा अवसर

है धरती के स्वाभिमान को नष्ट करने के लिए। अतः पूर्व प्रशिक्षित बादलों को अपनी कूटनीति समझाकर उपाश्रम की ओर भेजता है।

सागर का संकेत प्राप्त कर सविनय उठी गजगामिनी (हथिनी के समान) चाल वाली, चंचल, दुबली-पतली कमर वाली स्त्री के समान तीन बदलियाँ आकाश की गलियों में निकल पड़ीं। पहली बदली दही के समान सफेद रंग वाली साड़ी पहनी साधना में लीन साध्वी-सी लग रही है। दूसरी बदली कामदेव के विपरीत बुद्धि वाली, किन्तु पति के विचारों के अनुकूल चलने वाली, पलाश के रंग की साड़ी पहनी कमलिनी की प्रभा को पराजित करती-सी प्रतीत होती है। तीसरी सबसे आखिरी वाली बदली ने असली सुवर्ण के रंग की साड़ी पहनी है।[१]

९. सरोष प्रवचन : प्रभाकर का

सर्वप्रथम बदलियों ने सूर्य की किरणों को प्रभावित करने का प्रयास किया। सूर्य को बीच में लेकर उसके चारों ओर घूमने लगीं। कुछ ही समय में सूर्य की किरणें प्रभावित हुईं, परन्तु सूर्य का तेज कम नहीं हुआ और न ही उसकी गति में कोई कमी आयी। अपनी पत्नी किरण को प्रभावित देख सूर्य हल्की से उत्तेजना के साथ कुछ उपदेश देता है—अनादिकाल से आज तक कभी देखा व सुना नहीं गया कि स्त्री समाज ने पृथ्वी पर प्रलय मचाया, किन्तु आयी हुईं ये बदलियाँ क्या अपनी सत्-परम्परा को बिगाड़ना चाहती हैं ?

''अपने हों या पराये,
भूखे-प्यासे बच्चों को देख
माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता
बाहर आता ही है उमड़ कर,
इसी अवसर की प्रतीक्षा रहती है—
उस दूध को।'' (पृ० २०१)

---

१. उपर्युक्त तीन बदलियाँ, जैनदर्शन में कथित तीन शुभ लेश्या—पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या का प्रतीक है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—**पीत लेश्या—**दयालु, विवेकी, संतोषी, तीव्र बुद्धिमान् होना, सबसे प्रेम करना आदि। **पद्म लेश्या—**सदा प्रसन्न रहना, सदा परोपकार करना, देवपूजा-दानादि करना, त्याग के भाव रखना आदि। **शुक्ल लेश्या—**राग-द्वेष से रहित होना, प्राणी मात्र के प्रति स्नेह भाव रखना, शोक-निंदा आदि में समता के भाव होना।

माँ की ममता का यह परिणाम है कि अपनी या दूसरों की, किसी की भी भूखी-प्यासी संतान को देखकर माँ के हृदय का दूध बाहर आकर, शिशु की भूख-प्यास को मिटाता ही है। क्या ऐसी दयालु हृदय वाली मातृ-शक्ति भी प्रलय की प्यासी बन चुकी है ? क्या शरीर की रक्षा हेतु धर्म को ही नष्ट किया जा रहा है ? क्या धन के विकास हेतु अपनी लाज ही खुले बाजार में बेची जा रही है ? समझ नहीं आ रहा है, आज इन्हें क्या हुआ ?

१०. आदर्श : स्त्री समाज का

स्त्री समाज की कई विशेषताएँ पुरुष के सामने आदर्श के रूप में प्रस्तुत हैं। सो सुनो–

''प्रतिपल परतन्त्र हो कर भी
पाप की पालड़ी भारी नहीं पड़ती
...पल-भर भी!
इनमें, पाप-भीरुता पलती रहती है
अन्यथा,
स्त्रियों का नाम 'भीरु' क्यों पड़ा ?'' (पृ० २०१)

जीवन की हर घड़ियों में पराधीनता का अनुभव करते हुए भी सदा पाप से डरती रहतीं, पुण्य संचय करती रहती हैं स्त्रियाँ। इसलिए इनका नाम 'भीरु' भी पड़ा। प्रायः पुरुषों के दबाव के कारण ही स्त्रियों को असंयम, अधर्म, अनीति के गलत मार्ग पर चलना पड़ता है। फिर भी सुपथ और कुपथ को अच्छी तरह से जानकर, सुपथ यानी धर्म-मार्ग पर ही चलती हैं स्त्रियाँ।

इनकी आँखें करुणा से भरी हुईं, शत्रुता से दूर होती हैं। मित्रता का पाठ सहज सीखने को मिलता है इनसे। इनका कोई अरि यानी शत्रु नहीं होता, इसलिए इनका एक सार्थक नाम 'नारी' भी है—'ना अरि' सो नारी। और ना ही ये काटने वाली आरी हैं—सो नारी।

''जो
मह यानी मंगलमय माहौल,
महोत्सव जीवन में लाती है
'महिला' कहलाती वह!'' (पृ० २०२)

जो पुण्यदायी वातावरण निर्माण करती है, 'महिला' कहलाती है। जो जीवन के प्रति उदासीन हुआ हो, सहारा चाहता हो, ऐसे पुरुष को जन्मभूमि/दया धर्म के प्रति श्रद्धा जगा, सही रास्ता बताती है, 'महिला' कहलाती है वह। जो परिग्रह से पीड़ित है, जिसका संयम ग्रहण के प्रति उत्साह न हो ऐसे संग्रहणी रोग से ग्रसित पुरुष को मही पिलाती है, वह 'महिला' कहलाती है।

११. प्रथम मंगल : लौकिक मंगलों में

जो अज्ञान अन्धकार को दूरकर, जीवन में अवगम यानी ज्ञान का प्रकाश लाती है, 'अबला' कहलाती है। अथवा जो पुरुष के मन को भूत यानी अतीत की चिन्ता, भविष्य की आशाओं से हटाकर अब यानी वर्तमान में लाती है, 'अबला' कहलाती है।

''बला यानी समस्या संकट है
न बला...सो अबला
समस्या-शून्य-समाधान!'' (पृ० २०३)

जो संकट, समस्या नहीं है किन्तु दुनिया की अनेक समस्याओं का समाधान/हल है। जिसके अभाव में बलवान पुरुष भी निर्बल बन जाता है, समस्या समूह बन जाता है, वह 'अबला' कहलाती है।

'कु' यानी पृथ्वी, माँ यानी लक्ष्मी और 'री' यानी देने वाली। भाव यह

हुआ, जब तक इस पृथ्वी पर 'कुमारी' रहेगी तब तक यह धरा धन-संपत्ति से सम्पन्न रहेगी, इसीलिए सन्तों ने लौकिक सभी मंगलों में कन्या को प्रथम मंगल माना है।

१२. रक्षक : अपव्यय रोग की

गृहस्थ जीवन की शोभा धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ से होती है। इन कर्त्तव्यों में प्रायः पुरुष ही पाप कर्म का बन्ध करता है। उसका वह पाप, पुण्य के रूप में परिवर्तित हो इसके लिए स्त्रियाँ सदा प्रयत्नशील रहती हैं अर्थात् पुरुषार्थ करती रहती हैं। पुरुष की काम-वासना संयत बनी रहे तथा पुरुष धर्म मार्ग में लगा रहे अर्थात् निर्दोष काम पुरुषार्थ हो, इसलिए वह गर्भ भी धारण करती है और–

''संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से
पुरुष को बचाती है सदा,
अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।
दान-पूजा-सेवा आदिक
सत्कर्मों को, गृहस्थ धर्मों को
सहयोग दे, पुरुष से करा कर
धर्म-परम्परा की रक्षा करती है।'' (पृ० २०४-२०५)

अधिक धन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति और फिजूल खर्च करने की आदत से पुरुष को बचाकर, अर्जित धन का यथायोग्य वितरण स्त्री स्वयं करती है और पुरुष से करवाती है। गृहस्थों के योग्य दान-पूजा-सेवा आदि सत्-कार्यों को पुरुष से करवाकर, उसमें सहयोग प्रदान कर धर्म परम्परा की रक्षा करती है, 'स्त्री' कही जाती है। सार यह हुआ की जो धर्म, अर्थ और काम रूप इन तीनों पुरुषार्थों में पुरुष को कुशल-संयत बनाती है, वह 'स्त्री' कहलाती है।

स्त्रियों का एक नाम 'सुता' भी है, सो सुता शब्द स्वयं ही कह रहा है, जो सुख-सुविधाओं का स्रोत है, सो 'सुता' है और सुनो स्त्रियाँ स्वयं अपना हित तो करती हैं किन्तु पतित से पतित पाप मार्ग में लगे पति का जीवन भी हित सहित बना देती है, सो 'दुहिता' कहलाती है–

''उभय-कुल मंगल-वर्धिनी
उभय-लोक सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका
कहीं रह कर किसी तरह भी

हित का दोहन करती रहती
सो...'दुहिता' कहलाती है।'' (पृ० २०६)

माता-पिता के कुल और सास-ससुर के कुल इन दोनों में पुण्य-धर्म को बढ़ाने वाली होने से तथा इहलोक और परलोक में भी सुख को उत्पन्न करने वाली, कहीं तथा किसी भी परिस्थिति में रहकर अपना एवं दूसरों का हित करने में सदा लगी रहने से स्त्रियों का नाम 'दुहिता' सार्थक है।

१३. सम्मान हो सदा : माँ का

आगे मातृ शब्द की सार्थकता को भी समझें–सन्त पुरुष प्रमातृ शब्द का अर्थ ज्ञाता बताते हैं। जानने की शक्ति वह मातृ तत्त्व के पास ही है, इसलिए सबको जन्म देने वाली, सबकी मूल आधार मात्र मातृतत्त्व ही है, अन्य कोई पिता या पुरुष नहीं। ज्ञाता के अभाव में ज्ञेय (जानने योग्य)-ज्ञायक (जानने वाला) सम्बन्ध ही समाप्त हो जायेगा। ऐसी स्थिति में वास्तविक सुख-शान्ति किसे, क्यों और कैसे मिलेगी ? इसीलिए **इस जीवन में सदा माता का सम्मान होना चाहिए**, उसका गुण-गान सदा होना चाहिए। धन्य है मातृ शक्ति।

अनादिकाल से काम की आग में जलने वाले पुरुष समाज को स्त्री सुनाती/समझाती आ रही है।

''स्वीकार करती हूँ...कि
मैं 'अंगना' हूँ
परन्तु,
मात्र अंग ना हूँ...
और भी कुछ हूँ मैं...!'' (पृ० २०७)

मैं इस बात को मानती हूँ कि मैं अंगना, तुम्हारे लिए भोग्या हूँ किन्तु मात्र अंग (शरीर) ही नहीं हूँ और भी कुछ हूँ मैं। शरीर के भीतर झाँकने का प्रयास करो। शरीर के सिवाय और भी कुछ माँगने का प्रयास करो, जो मैं देना चाहती हूँ–क्या तुम लेना चाहोगे ? सो अनादिकाल से शाश्वत, कर्मकलंक रहित, प्रकाशमान, भार रहित चेतना हूँ मैं। उसका आभार मानो। उसकी शरण लेने का पुरुषार्थ करो, जो सही-सुख का साधन है।

१४. बदली : तीनों बदलियाँ

प्रभाकर के मुख से स्त्री समाज के सद्गुण एवं गौरवशाली इतिहास को सुन, बदलियों ने अन्तःकरण से उपदेश को स्वीकार किया। विपरीत भाव, बदले

का भाव, वाद-विवाद की बात सब कुछ भुलाकर बाहरी रंग के अनुरूप ही, भीतर से भी बदली तीनों बदलियाँ। अपनी उज्ज्वल परम्परा को सुन, अपने पति समुद्र का पक्ष उन्हें गलत प्रतीत हुआ। जगत्पति सूर्य का पक्ष सही लगा और आपराधिक भाव के प्रति उनका मन ग्लानि से भर गया। सो वे तुरन्त दिवाकर से कहने लगीं–गलती के लिए क्षमा चाहते हैं हम, हमें सेवा का अवसर प्रदान करें। आपने जो नारी की गौरव-गाथा सुनाई, वैसा ही हमारा जीवन आदर्श बने। अज्ञान की धूल दूर हो मन से हमारे। यही चाहते हैं हम बस!

अपरिचित आहार और अपरिचित आधार का ही परिणाम अज्ञानमय दुखी जीवन रहा। आनन्द की प्राप्ति का मूल कारण हमें ज्ञात हो स्वामिन्। कार्य-अकार्य का विवेक जागा है। जिनमें समता के नेत्र खुले हैं, तन-मन मृदु और प्रसन्न बना है, दान-कर्म से युक्त दया धर्म में चतुर, मधुरभाषणी वीणा-सी बनी, राग-रंग को त्यागने वाली, वैराग्य भावों से युक्त, सरल-सुंदर हंसी-सी बनी, सहनशीलता की मूर्ति, हिंसा से दूर रहने वाली, सती-सन्तों के प्रति विनयशील, पूज्य भावों को रखने वाली, पक्षपात से दूर, न्याय पक्ष को ग्रहण करने सच्ची मित्र बनी वे बदलियाँ। भावी भोगों की इच्छा को मन से निकालती-सी, शुक्ल, पद्म और पीत लेश्या को धरती, पाप को पुण्य में पलटाने हेतु, पश्चाताप के भावों से भरी, अश्रुपूरित (आँसुओं से भरी) नेत्रों वाली वे बदलियाँ सूर्य-नारायण की पुनः तीन परिक्रमा देती हैं।

१५. वर्षा : मेघ मुक्ता की

इधर नीचे से धरती भी आँखें खोलकर इस घटना को देख रही थी। बदलियों के भावों में निर्मलता आयी। धरती के स्नेह का पात्र बनीं। धरती के हाथ अनगिण कणों के रूप में ऊपर पहुँचते हैं और बदलियों के आँखों से निकलने वाले आँसुओं को प्रेम से सहलाते हैं। आँसू की बूँदें और धूल के कण आपस में एक-दूसरे से गले मिले।

जल को जड़ता से मुक्ति मिली और जल मोती बनकर मेघमुक्ता के रूप में परिवर्तित हुआ। यह सब कार्य किसके पुण्य से, किसकी सहायता से, किसकी भावना से, किसकी प्रेरणा से, किसके आश्रय में हुआ, यह सब शंका स्वयं ही नष्ट हो जाती है और माटी के कच्चे घड़ों पर कुम्भकार के प्रांगण में मेघमुक्ता की वर्षा होती है। पूजक मोती, पूज्य धरती के चरणों में नमन करते हैं।

सोपान १६.
राजा के मन में मोतियों का लोभ

कुम्भकार की अनुपस्थिति, प्रांगण में मोतियों की वर्षा, राजा का मण्डली सहित आना। मण्डली द्वारा मुक्ता को उठाने का प्रयास, मुक्ता को छूते ही बिच्छू के डंक लगने जैसी छटपटाती मूर्च्छित हुई मण्डली। कीलित हुआ राजा, आसपास जुड़ा जमाने का जमघट और शिल्पी का वापस लौटना, बाहर से प्रांगण का दृश्य देख विस्मय, विषाद, विरति की परिणति। भीतर प्रवेश कर मंत्रित जल से सबकी मूर्च्छा दूर करना, राजा से क्षमायाचना और मुक्ता राशि स्वीकारने का सविनय अनुरोध।

इधर अपक्व कुम्भ द्वारा राजा पर व्यंग्य, राजा के मन में लज्जा, रोष और घटना की यथार्थता का चिन्तन। कुम्भकार द्वारा कुम्भ को कुलीनता का परिचय देना, जिसे सुन राजा की मति का उफान कम होना। मुक्ता ग्रहण की स्वीकृति, बोरियों में भरी मुक्ता राज प्रासाद की ओर।

१६. पाप : क्या कर रहे हैं आप

कुम्भकार के अभाव में उपाश्रम के प्रांगण में मोतियों की वर्षा देख आसपास का पूरा माहौल आश्चर्य में डूब गया। सबके मन में मोती प्राप्त करने का भाव जागा। इधर उड़ते-उड़ते खबर राजा के कानों तक पहुँची तो राजा अपनी मण्डली सहित कुम्भकार के प्रांगण में पहुँचता है और सेवकों को आदेश देता है कि मोतियों को इकट्ठा कर शीघ्र ही बोरियों में भर लो। जैसे ही मण्डली मोतियों को उठाने नीचे झुकती है कि आकाश में जोरदार गर्जना होती है—अनर्थ! अनर्थ!! अनर्थ!!! पाप! पाप!! पाप!!! क्या कर रहे हैं आप—

"परिश्रम करो
पसीना बहाओ
बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही
पुरुष की पहचान करो सही।" (पृ० २११-२१२)

जो वस्तु अपनी नहीं उसे लेने का प्रयास कर रहे हो। मेहनत करो, पसीना बहाओ। दो हाथ मिले हैं। उनमें शक्ति मिली है तुम्हें, हे पुरुष! सही-सही पुरुषार्थ करो और पहचान करो अपनी। मक्खन का गोला भले ही सीधे निगल लो किन्तु

मेहनत किए बिना वह पच नहीं सकता। यदि पेट में रह गया तो जीवन खतरे में भी पड़ सकता है।

> **''पर-कामिनी, वह जननी हो,**
> **पर-धन कंचन की गिट्टी भी**
> **मिट्टी हो, सज्जन की दृष्टि में!'' (पृ० २१२)**

सज्जनों की नजरों में दूसरों की स्त्री, अपनी माता के समान आदरणीय होती हैं तो दूसरों का धन-वैभव, सोने की डली भी मिट्टी के समान मूल्यहीन होती है। लगता है सारे संसार से शिष्टाचार कहीं दूर चला गया, दुराचार ही शेष रह गया।

१७. आँसू : कुम्भकार की आँखों में

कर्ण कटुक, अप्रिय वचन सुनकर भी मण्डली मोती लेने झुकती है किन्तु मोतियों को हाथ लगाते ही सबके शरीर पापड़ जैसे सिकने लगते हैं। लगा बिच्छु ने डंक मार दिया हो अंग-अंग में तड़फन होने लगी। सब धरती पर गिर पड़े, करवटें बदलने लगे। कुछ ही देर में सबके पूरे शरीर में विष फैल गया। शरीर नीले-नीले पड़ गये। मोही मन्त्री सहित सारी की सारी मण्डली मूर्च्छित हो गई।

यह सब देख राजा भी भयभीत हो चुपचाप खड़ा रहा। उसे लगा, किसी ने उसे स्तम्भित कर दिया हो। हाथ, पैर, कान, मुख सब शून्य से हो गये। आँखों के सामने अंधेरा-सा छा गया। मन में प्रतिकार का भाव होते हुए भी राजा किंकर्त्तव्य विमूढ़-सा खड़ा है। ऐसा माहौल क्यों बना, कुछ समझ नहीं आ रहा।

इस अवसर पर दुनिया भर का जमघट (मनुष्यों की भीड़-भाड़) इकट्ठा हो

गया। इसी समय कुम्भकार का भी वापस आना हुआ। प्रांगण के बाहर एकत्रित भीड़ तथा राज मण्डली की दशा देख शिल्पी की आँखों में आश्चर्य, खेद और वैराग्य–ये तीनों भाव एक साथ झलकने लगे।

पहली बार उपाश्रम के पास इतनी भीड़ आश्चर्य का कारण बनी, राजमण्डली की मूर्च्छा, राजा का कीलित होना खेद का कारण बना तथा **स्त्री और धन के वशीभूत हुए कभी भी दुख से दूर नहीं हो पाते।** यह जो साक्षात् दिखा सो वैराग्य का कारण बना। जिससे कुम्भकार की आँखों में आँसू आ गये। स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला यह स्थान इस दुर्घटना का माध्यम बना।

इस मंगलमय स्थान में दंगल, अनर्थ क्यों हो रहा है प्रभो! यूँ विचारता है शिल्पी। लगता है पूर्व पुण्य के फलस्वरूप प्रांगण में मोतियों की वर्षा हुई और यह वर्षा ही इस उपसर्ग का कारण बनी।

१८. मूर्च्छा दूर हो : बाहरी-भीतरी भी

स्व–पर की चेतना के विकास हेतु प्रभु से प्रार्थना करता है शिल्पी –

> **"जीवन का मुण्डन न हो**
> **सुख-शान्ति का मण्डन हो,**
> **इनकी मूर्च्छा दूर हो**
> **बाहरी भी, भीतरी भी**
> **इनमें ऊर्जा का पूर हो।" (पृ॰ २१४)**

हे भगवन्! यह जीवन विषय–कषायों के वशीभूत हो यूँ ही नष्ट न हो जाये, बल्कि सुख–शान्ति से विभूषित हो और इन सबकी बाहरी शरीर सम्बन्धी बेहोशी तथा भीतरी पर–पदार्थों के ग्रहण की इच्छा रूपी मूर्च्छा शीघ्र ही दूर हो। आत्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु उत्साह से इनका जीवन भरा हो, इनमें शान्ति का संचार हो।

फिर कुछ पलों के लिए आँख बन्द कर, शान्त भावों से प्रभु की वन्दना में डूब जाता है शिल्पी। फिर ओंकार के उच्च उच्चारण के साथ ही मौन खोलता हुआ हाथ की अँजुलि में पानी भरकर मन ही मन मंत्र जपता हुआ, मन में मंगल–कुशलता का अभिप्राय ले मन्त्रित जल को मूर्च्छित मंत्रीमण्डल के मुख पर डालता है। फिर क्या कहना ? क्षण भर में सबकी मूर्च्छा दूर हुई, सूर्य किरणों के स्पर्श से खिलती कमलिनी के समान सबके नेत्र खुलने लगे। मूर्च्छा दूर होते ही मण्डली मोतियों से दूर भाग गई, राजा ने भी अपना स्थान परिवर्तित किया। कहीं पुनरावृत्ति न हो जाये इसी भय से।

उत्सुकता नहीं रही जिस कण्ठ में, दुख से भरा रुका हुआ स्वर है जिसका, दबी-दबी कंपती वाणी से, आँखों में आँसू लिए, दोनों कर जोड़े विनम्र हुआ शिल्पी कहता है राजा से-अपराध क्षमा हो स्वामिन् ! मेरी अनुपस्थिति के कारण आप लोगों को कष्ट हुआ। आप तो हमारे स्वामी हैं दया के सागर, हम प्रजा आपकी दया के पात्र हैं। आप पालक हैं, हम बालक हैं। यह सब वैभव, मुक्ता राशि आपकी ही है। हमें बस आपका सान्निध्य ही पर्याप्त है। आप निर्भय रहें। अब पुनरावृत्ति नहीं होगी। यूँ कहते हुए बिना किसी भय के कुम्भकार ने स्वयं ही अपने हाथों से मोतियों की राशि बोरियों में भर दी। यह दृश्य देख मंत्री समेत राजा के मुख से निकली ध्वनि-सत्य धर्म की जय हो! सत्य धर्म की जय हो!!

१९. उल्लंघन : मर्यादा का

धरती पर सूखने रखा अपक्व (कच्चा) कुम्भ सब घटना देख रहा है, अतः वह चुप न रह सका और राजा से कहता है-बड़ी आपत्ति में पड़ते-पड़ते बच गये राजन्! बड़े ही पुण्य का उदय समझिये। वरना, आपका और सबका जीवन समाप्त होकर आकाश में खो गया होता और फिर जलती अगरबत्ती को हाथ लगाना कौन-सी बुद्धिमानी थी ? यदि अगरबत्ती अपनी सुगंध स्वयं ग्रहण करती तो अलग बात थी। वह अपनी सुगंध आपकी नासिका तक भेज ही रही थी अर्थात् शिल्पी मोती स्वयं रखता ही नहीं, वह तो आपको ही भेंट करता। दूसरी बात यह भी है-

''लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन
रावण हो या सीता हो
राम भी क्यों न हों
दण्डित करेगा ही !'' (पृ० २१७)

मर्यादा का उल्लंघन रावण और सीता ही नहीं, यदि राम भी करेंगे तो उन्हें भी दण्ड भोगना ही पड़ेगा। अधिक धन की चाह रूपी आग में जो जल रहा है–अर्थ ही प्राण और अर्थ ही रक्षक बना है, ऐसा मानकर जो धन से प्रभावित हो रहा है वह सही-सही अर्थ नीति को नहीं जानता है। इस कलिकाल में बढ़ती हुई विषयों की चाह से विश्व ने यही ग्रहण किया है कि व्यापार की आड़ में, किसी भी तरह न्याय-अन्याय से धन अर्जित करना ही लक्ष्य बन गया है। सारी लोकलाज को छोड़कर, तन का ही व्यापार होता जा रहा है यह कलिकाल का ही प्रभाव लगता है।

२०. परिचय : कुलीनता का

कुम्भ की व्यंग्यात्मक भाषा को सुन राजा का माथा भी एक साथ तीन भावों से भर गया। प्रथम लज्जा में डूब गया, दूसरा क्रोध कम-ज्यादा होने लगा और घटना की सत्यता पर चिन्ता मिश्रित चिन्तन चलने लगा।

राजा की मुख मुद्रा को देख शिल्पी ने राजा के मन की स्थिति को जाना और कुम्भ की ओर तिरछी नजर करते हुए विचारता है–आत्मबोध में कारण, किन्तु हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले, मर्मभेदी, आगामी समय में मधुरता देने वाले, किन्तु आज कटुक, कुम्भ के वचनों को विराम मिले। और राजा के प्रति अपने अच्छे विचार व्यक्त हों, इसी उद्देश्य से कुल परम्परा से चली आयी कुलीनता, अच्छे आचरण, विचारधारा का परिचय मिलता है, कुम्भ को कुम्भकार से–**छोटे होकर भी अपने से बड़ों को उपदेश देना महा अज्ञान का ही फल है, दुख का कारण**। परन्तु बड़ों से अच्छे गुण ग्रहण कर, मोक्षमार्ग में चलेंगे हम, ऐसा वचन देना महा वरदान है–सुख का अमृत पेय। और–

''गुरु होकर लघु जनों को
स्वप्न में भी वचन देना,
यानी
उनका अनुकरण करना
सुख की राह को मिटाना है।'' (पृ० २१९)

बड़े होकर छोटों को स्वप्न में भी वचन देना, उनका अनुकरण करना सुख को छोड़कर दुख के मार्ग में जाना है। हाँ, इतना जरूर है कि यदि कोई विनय, अनुनय सहित आत्महित की बात पूछता हो तो बिना स्वार्थ के, एकान्तपक्षीय हठाग्रह से दूर, हितकारी, सीमित और मीठे-मीठे वचनों से प्रवचन देना दुख को दूर करता है।

२१. मुक्ता : राज प्रासाद[१] की ओर

कुम्भकार की बात सुन थर्मामीटर में उतरते पारे के समान जल की कुछ बूँदें पड़ते ही शान्त होते दूध के समान, राजा की मति की उद्वेगता (उफान) भी कम हुई। राजा शान्त और स्वस्थ्य हुआ ऐसी स्थिति देख पुनः कुम्भकार ने निवेदन किया राजा से कि हे तलवार को धारण करने वाले कृपा-प्राण! इस निधि को स्वीकार कर मुझ पर कृपा करो, यह उपहार नहीं किन्तु आपका ही शृंगार है, जीत है। इसका उपयोग करना हमारी पराजय है स्वामिन्!

कुम्भकार की प्रार्थना को बोरियों में भरी उपरिल मुक्ता-राशि देख-सुन रही है और राजा के मन की गुदगुदी (अन्दर की प्रसन्नता) को समझ रही है मन्द मुस्कान के बहाने—मानो कह रही है कि हे राजन्! यह आपके पद के अनुकूल है स्वीकार करियेगा। कुम्भकार के निवेदन, मुक्ता और माहौल का समर्थन पा राजा स्वीकृति प्रदान करता है और सानन्द मोतियों की दुर्लभ (जिसका मिलना कठिन हो) राशि ले राजकोष को समृद्ध करता है।

परन्तु इतना सब होने पर भी मुक्ता अपने नाम के अनुसार ही ना राग करती और ना द्वेष, मद-ईर्ष्या-अहंकार इन सबसे परे है वह। आकाश से गिरी, बोरियों में भरी राजप्रासाद की ओर जा रही है वह। सब उसकी प्रशंसा कर रहे हैं पर वह उन्हें सुनती कहाँ, प्रसन्न मुखी महिलाओं के गले का हार बनती, तो कभी तारणहार, तोरणद्वार बनती। इतना सब होने पर भी अहंभाव से मुक्त ही रहती है वह मुक्ता।

'**मू**कमाटी' आधुनिक हिन्दी कविता की शैली में लिखी हुई 'गीता' है।

डॉ॰ राजमल बोरा

पूर्व प्रोफे॰ एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)

---

१. राजप्रासाद = राजमहल, राजभवन।

सोपान १७
बादलों का प्रयास : अन्त में हार

धरती की बढ़ती कीर्ति, सागर द्वारा लौटी बदलियों को डाँट, स्त्री जाति का स्वभाव बताना। सागर का धरती के प्रति वैर-वैमनस्क भाव देख प्रभाकर ने सागर तल के रहवासी तेज तत्त्व को सूचित किया। परिणामस्वरूप बड़वानल द्वारा सागर पर आक्रोश व्यक्त, धमकी, बदले में सागर का जवाब। पुनः सागर द्वारा तीन बादलों को प्रशिक्षित कर गगन में भेजना, तीनों के तन-मन की मीसांसा, रूप-स्वरूप की व्याख्या।

बादलों का प्रभाकर से भिड़ना तथा सागर का पक्ष लेने हेतु सलाह देना अन्यथा शीघ्र ही ग्रहण की व्यवस्था होगी, धमकी देना। प्रभा-मण्डल द्वारा जवाब–गन्दा नहीं बन्दा ही संसार से भयभीत होता है। तेज हुए सूर्य को देख सागर ने राहु को याद किया, मनचाही-मुँह माँगी राशि दे राहु को गुमराह कर दिया। राहु ने साबुत ही सूर्य को निगल लिया। सूर्य ग्रहण होने पर पृथ्वी-पृथ्वीवासियों की दशा।

प्रलयकारी वर्षा की पूरी सम्भावना देख माँ धरती से आशीर्वाद ले, बादलों से संघर्ष करने हेतु धरती के कण-कण आकाश में ऊपर उड़ जाते हैं, जल-कणों को सुखाने का प्रयास, जल-कण एवं भू-कणों का टकराव, इन्द्रधनुष का अवतरण, लेखनी की भावना, इन्द्र का पुरुषार्थ, बिजली का काँपना, ओला वृष्टि, लेखनी द्वारा सौर-मण्डल और भू-मण्डल की तुलना, अन्त में बादलों-ओलों की हार तथा भू-कणों की जीत।

२२. स्वभाव : स्त्री जाति का

इसी प्रकार धरती की उज्ज्वल कीर्ति, चन्द्रमा की किरणों को तिरस्कृत करती हुई दशों दिशाओं को पार कर अनन्त आकाश में फैलती ही जा रही है। धरती पर रहने वाले शूरवीरों, श्रीमानों, धीमानों, ऋषि, असि, मसि, पर्वत, सरिताओं इत्यादि अनेक प्रकार की आभाओं/प्रतिभाओं का धरती से सहज प्रेम बढ़ता ही जा रहा है। इधर दूसरी ओर धरती के बढ़ते यश को देखकर सागर की कुटिल मनोवृत्ति कुढ़ती ही जा रही है। यह सब शत्रुता का ही परिणाम है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

कुम्भ को मिटाने के लिए जिन बदलियों को भेजा था, उनके द्वारा बदला लेने की जगह उल्टा पर-पक्ष का समर्थन, मोतियों की वर्षा कर वापस लौटती देख सागर का क्रोध चरम सीमा को छूने लगा।

आँखें लाल हुईं, भौंहें टेढ़ी हो गईं। सागर की गम्भीरता, कायरता, भयता में बदली। भविष्य धूमिल दिखता है, यूँ सोचता हुआ वह कुछ मन के विचार व्यक्त करता है कि अपनी हो या दूसरों की स्त्री, **स्त्री जाति का स्वभाव ही है कि वह किसी एक पक्ष की होकर नहीं रहती** अन्यथा जिस भूमि में जन्म लिया, ऐसी मातृभूमि और जिसने जन्म दिया ऐसी माँ तथा अपने सगे भाई-बहिन एवं परिवार-जन को छोड़कर अन्यत्र ससुराल चले जाना हँसी-खेल, सहज है क्या ? और वह भी बिना संक्लेश, बिना आना-कानी किए। यह कार्य पुरुष समाज के लिए टेढ़ी खीर अर्थात् अत्यन्त कठिन ही नहीं असंभव ही है। इसलिए भूलकर भी-

''कुल-परम्परा-संस्कृति का सूत्रधार
स्त्री को नहीं बनाना चाहिए।
और
गोपनीय कार्य के विषय में
विचार-विमर्श-भूमिका
नहीं बताना चाहिए...।'' (पृ० २२४)

कुल या वंश परम्परा, सभ्यता की सुरक्षा का भार स्त्री को नहीं सौंपना चाहिए, ना ही प्रधान बनाना चाहिए। और गुप्त कार्य के विषय में स्त्रियों से विचार-विमर्श करना, सलाह लेना, भूमिका (वक्तव्य विषय की पूर्व सूचना/चित्त की विशेष अवस्था की बात) इत्यादि नहीं कहना चाहिए।

२३. खौल उठा : बड़वानल

सागर के मन में धरती के प्रति बढ़ती ईर्ष्या, वैर भाव, गुरुजनों के प्रति अहंकार युक्त दृष्टि, सबको वश में रखने की प्रबल आकांक्षा, दुनिया को भक्षण करने की प्रवृत्ति देख, प्रभाकर से सहा नहीं गया यह सब। और उसने अपनी जाति वाले, अपने द्वारा शासित, सागर की गहराई में रहने वाले अग्नि तत्त्व को जागृत किया। परिणाम स्वरूप समुद्र में बड़वानल[१] पैदा हुआ, भयंकर रूप ले खौल उठा।[२] और वह सागर से कहता है-अरे खारे सागर! क्या तुझे पता नहीं मैं एक क्षण

---

१. बड़वानल = समुद्र के भीतर की अग्नि या ताप।

२. खौल उठा = तेज गरम होना, उबलना।

में तेरे सारे जल को पीकर तुझे सुखा सकता हूँ। तू अपनी विपरीत चाल को छोड़, धरती का सम्मान कर। सो बड़वानल ने उचित समय पर ठीक ही किया, क्योंकि–

"आवश्यक अवसर पर
सज्जन - साधु पुरुषों को भी,
आवेश-आवेगों का आश्रय लेकर ही
कार्य करना पड़ता है।
अन्यथा,
सज्जनता दूषित होती है
दुर्जनता पूजित होती है
जो शिष्टों की दृष्टि में इष्ट कब रही...?" (पृ० २२५)

सात्त्विक आचरण को धारण करने वाले सच्चे सरल पुरुषों को, हमेशा शांत रहते हुए क्षमा भाव धारण करना ही चाहिए, ऐसी एकान्त धारणा बनाना ठीक नहीं, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें भी उद्‌वेग एवं क्रोध का सहारा लेकर ही कार्य करना पड़ता है, तभी धर्म और धर्मात्मा की रक्षा हो पाती है।

यदि आवश्यक समय पर भी सज्जन पुरुष शान्त ही बने रहे तो सज्जनता पर भी दोषारोपण हो सकता है और दुष्टों की दुर्जनता भी निर्दोषता को प्राप्त हो पूज्यता को प्राप्त हो सकती है, जो कि आत्मानुशासन में रहने वाले, शिष्टाचार का पालन करने वाले महापुरुषों के लिए कभी भी प्रिय अथवा वांछित नहीं हो सकती।

विशेष–विष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया ऋद्धि से शरीर बड़ा कर तीन पग धरती नापते हुए ७०० मुनियों की रक्षा की। बाली मुनिराज ने पैर का अँगूठा दबाकर रावण को सबक सिखा कर, ७२ स्वर्णमयी जिनालयों की सुरक्षा एवं असंख्यात जीवों को प्राण दान दिया। श्री अकलंक स्वामी ने छह माह तक बौद्धों से वाद-विवाद किया। समन्तभद्र स्वामी ने पिण्डी में से चन्द्रप्रभ भगवान् की प्रतिमा प्रकटाकर जिनशासन की प्रभावना की।

२४. मीसांसा : बादलों के तन-मन की

ज्यों ही सागर ने बड़वानल की बात सुनी, त्यों ही वह जोर से ठहाका मारकर हँसता हुआ बोला–**जो कहता है, वह करता नहीं और जो करता है, वह कहता नहीं।** करनी और कथनी में बहुत अन्तर हुआ करता है। ऊपर से सूरज क्रोधित हो रहा है, नीचे से तुम चिल्ला रहे हो किन्तु बीच में रहकर सागर न जला

और न ही उबला। इसने अपने शीतल स्वभाव को कभी नहीं बदला, किन्तु क्या करें ? शीतलता का योग पाकर भी तुम शीतल ना बन सके, ना ही तुमने उष्णता छोड़ी।

दूसरी बात तुम्हारा स्वभाव ही गरम है। पित्त सदा भड़का रहता है, चित्त (मन) सदा विचलित रहता है। अन्यथा पागलों के समान यद्वा-तद्वा कुछ भी क्यों बकते हो तुम ? मेरी मानो, पित्त के उपशमन हेतु मुझसे याचना कर, सुधा (अमृत) लेकर, चन्द्रमा के समान सुधा का सेवन किया करो तथा सूर्य का पक्ष ना लिया करो, समझे मेरी बात!

पृथ्वी पर प्रलय मचाना ही प्रमुख उद्देश्य है सागर का। अतः इस बार बहुत समय देकर तीन पुरुष बादलों को प्रशिक्षित किया गया है, बदलियों-स्त्रियों को नहीं, जो कि झट से बदलने वाली भी। बादल सघन घने हैं, प्रमुख कार्यों में विघ्न डालना ही इनका प्रमुख कार्य है। जघन्य परिणाम और जघन्य (बहुत बुरा या निंदनीय) ही इनका काम है। 'घन' सार्थक नाम है इनका। सागर से खारे जल को भर, वायुयान के समान अपने दलों सहित उड़ते-उड़ते आकाश में पहुँचते हैं बादल-दल ये।

पहला बादल इतना काला है कि अपने साथियों से बिछुड़ा भौंरों का समूह, इन्हें ही अपना साथी समझ कर बार-बार इनसे आ मिलता है और निराश हो लौट जाता है। दूसरा बादल महादेव के गले में क्रीड़ा करता हुआ महाविषैले नीले-नाग के समान नीला, जिसकी आभा से पीली फसल भी हरी दिखने लगी है और अन्तिम बादल कबूतर के रंग वाला है। तीनों तन के समान ही मन से भी दूषित हृदय वाले हैं। इनका दूषित मन कैसा है, सो आगे बताया जाता है।[१]

चाण्डाल सम विकराल रूप वाले, घमण्ड के अखण्ड पिण्ड, क्रूरता का आवास है जिनका हृदय, सदा कलह करने वाले, भूत भी डर जाये इतने डरावने, रात्रि इनकी बहिन लगती है, शशि (चन्द्रमा) से जिसका विवाह हुआ है, कारण कि

१. उपर्युक्त तीन बादल, जैनदर्शन में कथित तीन अशुभ लेश्या-कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या का प्रतीक है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-**कृष्ण लेश्या**-बुरे विचार करना, बात-बात में क्रोध करना, दूसरों से घृणा करना, दया धर्म से रहित होना, वैर भाव रखना, शोक संतप्त रहना, शत्रुता को न छोड़ना आदि। **नील लेश्या**-आलसी, बुद्धिहीन, कामी, भोगी, डरपोक, ठग, परवंचना में दक्ष, आहारादि संज्ञाओं में आसक्त, अतिलोभी, सदा मान-सम्मान पाने के भाव आदि। **कापोत लेश्या**-परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, बात-बात में नाराज होना, शोकाकुल होना आदि।

सागर से मित्रता होने से अपयश का पात्र बना, शशि को कोई कन्या नहीं देना चाहता था। अतः बादलों की बहिन रात्रि से ही शशि का सम्बन्ध कर दिया गया, सो सागर को इसका श्रेय जाता है।

किसी के वश में नहीं आने वाले, दुष्ट हृदयी, दूसरों को दुख देकर तृप्त होने वाले, दूसरों को देखते ही रुष्ट होने वाले, सदा प्रतिकार करने की प्रवृत्ति वाले, वैर–विरोध पालने वाले, निर्दोषों में दोष लगाने वाले, संतोषी–क्षमावान प्राणियों में भी क्रोध जगाने वाले, पूज्य पुरुषों की निन्दा करने वाले तथा अच्छे कार्यों से दूर रहने वाले हैं ये बादल–दल।

२५. व्यवस्था : उपाय, अपाय की

सत्कार्यों को करने में कभी आनंद नहीं लेते, विषय–भोगों में ही रस लेने वाले, कषाय को पैदा करने वाले इन बादलों का 'जलधर' नाम सार्थक ही है। अज्ञान को धारण करने से इनकी बुद्धि अत्यन्त मन्द हुई है, मद में अन्धे बने हैं। यद्यपि इनका एक नाम 'पयोधर' भी है, फिर भी वर्षा ऋतु में ये विष ही बरसाते हैं, लगता है, तभी तो भौंरे के समान काले होते हैं, अन्यथा वर्षा ऋतु के बाद हीरे के समान स्वच्छ रंग वाले क्यों होते ? ये बात अलग है कि पृथ्वी/धरती का समागम पा विष भी अमृत बन जाता है। किसी कार्य की सफलता के लिए–

"उपाय की उपस्थिति ही
पर्याप्त नहीं है,
उपादेय की प्राप्ति के लिए
अपाय की अनुपस्थिति भी अनिवार्य है
और वह
अनायास नहीं, प्रयास-साध्य है।" (पृ० २३०)

लक्ष्य की/ग्रहण करने योग्य वस्तु की प्राप्ति के लिए मात्र सहयोगी, साधक कारणों की उपस्थिति ही मात्र पर्याप्त यानी सामर्थ्यवान नहीं है, किन्तु अपाय यानी बाधक कारणों का अभाव होना भी अनिवार्य है। जैसे–दीप जलाने के लिए माचिस की काड़ी (तीली) के साथ-साथ तीव्र हवा का अभाव होना भी आवश्यक है। तेज हवा हो और कितनी बार भी तीली जलाकर लगाई जाये पर दीपक बुझ ही जायेगा। **बाधक कारणों का अभाव सहज ही अपने आप नहीं होता। उसके लिए पुरुषार्थ करना आवश्यक होता है।**

सो इस व्यवस्था को याद रखते हुए बादल, सर्वप्रथम अपने बाधक तत्त्व प्रभाकर से जा भिड़ते हैं और गंभीर गर्जना करते हुए कहते हैं–तू धरती का पक्ष ले सागर से क्यों चिढ़ता है ? अरे! तेज प्रभाकर, तुम भले ही सब ग्रहों में अग्र/श्रेष्ठ देवतारूप गगनमणि कहलाते हो, पर हो बड़े उग्र स्वभाव वाले, तुम्हारा शरीर धारण करना व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हें दिन भर दीन-हीन हो दर-दर भटकना पड़ता है। क्षण भर भी विश्राम के लिए तुम्हें कोई स्थान नहीं मिलता। फिर तू क्या समझकर सागर के साथ संघर्ष करने हेतु साहस करता है। मेरी बात मान वक्त है दिमाग से काम ले और समुद्र का पक्ष स्वीकार कर, अपने आप पर, उपकार कर, जीवन में सुख-शान्ति और यश को जोड़ ले, अपनी उल्टी बुद्धि को सीधी करले वरना कुछ ही क्षणों में ग्रहण की व्यवस्था होगी। क्योंकि–

" "अकीर्ति का कारण कदाग्रह है"
कदाग्रही को मिलता आया है
चिर से कारागृह वह!" (पृ० २३२)

कुत्सित (बुरा) आग्रह, हठाग्रह ही अपयश का कारण बनता है और हठाग्रही, एकान्त पक्षधारी को निश्चित ही अनादिकाल से शरीरादि बंधन रूप जेल मिलती आयी है।

२६. बात : रहस्य की

बादलों की कठोर, कर्कश, कर्णकटुक घोर गर्जना से दशों दिशाएँ बहरी हो गईं, आकाश का तेज फीका पड़ गया और सबको सहारा देने वाला प्रकाशवान सूर्य, बेसहारा बना बादलों में लीन हुआ। उससे प्रभाकर की किरणों का समूह भी प्रभावित हो फीका पड़ा। कुछ कहता है बादलों से–अरे ठगो! पापखण्ड का पक्ष लेने वालो, रहस्य की बात समझने में तुम्हें अभी समय लगेगा। समझना चाहो तो सुनो–

> **''गन्दा नहीं,**
> **बन्दा ही भयभीत होता है**
> **विषम-विघन संसार से–**
> **और,**
> **अन्धा नहीं,**
> **आँख-वाला ही भयभीत होता है**
> **परम-सघन अन्धकार से।'' (पृ० २३२)**

जिसका जीवन पाँच पापों के कीचड़ से लिप्त है वह नहीं, अपितु प्रभु भक्ति में लीन रहने वाला पवित्र मानव ही, संसार की बुराइयों से, नरकादि दुर्गतियों से डरता है। नेत्रहीन नहीं, किन्तु आँख वाला मनुष्य ही घोर अन्धकार से डरता है। सफेद स्वच्छ वस्त्र पहनने वाला ही गंदगी, दाग लगने से भयभीत होता है। जिसने गंदा, काला वस्त्र पहना हो, उसे गंदगी से क्या भय ?

हिंसा रूप परिणामों को नष्ट करना हिंसा नहीं, अपितु परम अहिंसा धर्म की पूजा करना-'अहिंसा' ही है और हिंसा करने वाले की हिंसा करना अथवा उसकी प्रशंसा, सराहना करना नियम से अहिंसा धर्म की क्रूर हत्या है। बुद्धि, ज्ञानपूर्वक कार्य करना ही धरती का पांडित्य है, प्रशंसनीय गुण है। मात्र जड़ में लीन होना, जड़ की चाह रखना ही समुद्र की कायरता, भीरूता है।

२७. अपार राशि : सौरमण्डल की ओर

इस प्रकार धरती की श्रेष्ठता को पूजा के फूलों से सम्मानित करता हुआ, समुद्र की नीचता को डाँट के कठोर काँटों से तिरस्कृत करता हुआ सूर्य फिर स्वाभिमान से भर गया और उसकी उष्णता और अधिक तेज हो गई। खून में लिप्त ऊपर उठी हुई, भय को पैदा करने वाली भृकुटियाँ मानो आग की बूँद टपकाती हुई कह रहीं हैं कि किसी को नहीं छोड़ूँगी और जंगल में लगी भयंकर आग-सी बनी धधक रही है। उसकी दोनों आँखों से मानो ज्वालामुखी ही फूट कर बाहर आ रहा है, जो अग्नि तत्त्व का मूल स्रोत है, सारे विश्व को प्रकाश और प्रताप देने वाला है, इसके अभाव में सारे संसार के चेतन-अचेतन सभी की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ समाप्त हो जायेंगी तथा चारों ओर मात्र अंधकार ही अंधकार छा जायेगा।

जो सदा दूसरों को निन्दा की ही नजरों से देखने में तल्लीन रहते हैं, ऐसे बादलों को जलाने की चेष्टा करने वाले सूर्य को देख, सागर ने राहू को याद किया और कहा—क्या सूरज तुमसे परिचित नहीं है जो इतनी उद्दण्डता कर रहा है ? सौरमण्डल की शालीनता को नष्ट करता हुआ, धरती की ही सेवा-प्रशंसा कर रहा है, क्या हिरण भी शेर के सम्मुख पहुँच मनमानी करता है ? क्या मेंढक भी सर्प के मुख पर जा खेल-खेल सकता है ? यदि नहीं, तो फिर सूर्य का यह कार्य धरती की सेवा के बहाने आपका मजाक तो नहीं है ? जितनी चाहो, जितनी माँगों, उतनी राशि सम्मान के साथ आपको भेंट की जायेगी। कारण—

> **"शिष्टों का उत्पादन—पालन हो**
> **दुष्टों का उत्पातन—गालन हो,**
> **सम्पदा की सफलता वह**
> **सदुपयोगिता में है ना!" (पृ० २३५)**

यह जो धन-सम्पदा हमने इकट्ठी कर रखी है, इसका सदुपयोग इसी में है कि सज्जनों की सुरक्षा हो और दुर्जनों की दुर्जनता नष्ट हो। सागर की बात सुनते ही राहु के मुख में पानी आ गया (लोभ जागृत हुआ) और उसने अपने गमन की दिशा

बदल दी। फिर क्या! इधर सागर ने भी विमानों में भर–भरकर चमचमाती असंख्य निधियाँ, हीरे, मोती, मूंगा, माणिक और पुखराजों की पट्टियाँ, राजाओं के मन को लुभाती नीलम के नग जड़ी चाँदी की छड़ियाँ इत्यादि सौरमण्डल की ओर भेजीं।

यह सब काम चुपचाप, दिन–दहाड़े चलता रहा। राहु ने राशि स्वीकार किया सो सागर का पक्ष मजबूत हुआ। **ज्यों ही उसके घर में बिना मेहनत किए रिश्वत का पैसा पहुँचा, त्यों ही उसका सिर भी पाप समूह से भर गया और बुद्धि भ्रष्ट हो गई।** लगता है इसलिए राहु इतना काला हो गया कि किसी को दिखाई नहीं देता और न ही कोई उसे छू सकता है।

अभी तक सागर अकेला था, अब राहु भी उसके साथ हो गया। गुरबेल तो स्वभाव से ही कड़वी होती है और नीम–वृक्ष पर चढ़ जाये तो फिर उसकी कटुता का कहना ही क्या ? कई गुनी अधिक बढ़ जाती है। भला–बुरा जो होगा सो भविष्य की गोद में ही देखा जायेगा, किन्तु उन दोनों के मन की आकुलता कई गुनी बढ़ गई, चैन (शान्ति) कहीं खो गई। दिन हो या रात, प्रकाश हो या अंधकार– आँखें बंदकर भी दोनों प्रलय की बात ही सोच रहे हैं, एक ही लक्ष्य पृथ्वी पर प्रलय मचे, अशांति फैले किसी तरह।

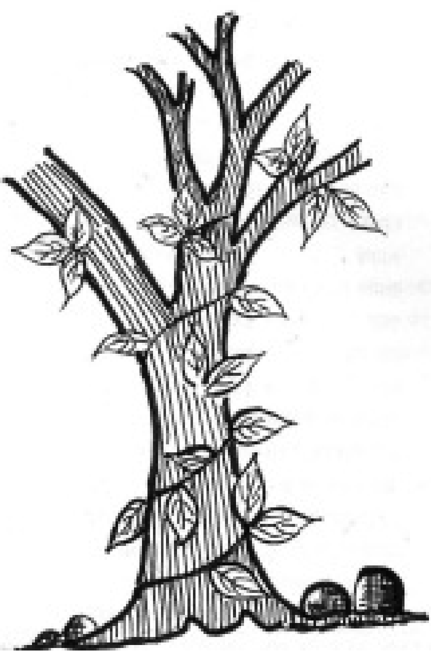

२८. भास्कर : राहु के गाल में

राहु इतना भी नहीं सोच पा रहा है कि धरती की गोद में सभी को अभय मिलेगा और यह बहुमूल्य जीवन सबका सुरक्षित रहेगा, किन्तु कुटिल सर्प की चाल वाला, क्रूर काल के समान गाल वाला सज्जनता को छोड़, मात्र बाहुबल के प्रयोग में लगा। जंगली सूकर के समान चाल चलने वाला, हिताहित विवेक रहित, स्वभाव से क्रूर राहु और अधिक क्रोधित हुआ। रौद्रता से भरा वह बिना हल्ला किए चुपचाप पूरा का पूरा साबुत सूर्य को निगल लेता है। सागर में बूँद, माँ की गोद में नन्हे शिशु के समान भास्कर राहु के मुख में प्रविष्ट हुआ। सूर्य के राहु के मुख में जाते ही दिन अस्त-सा होने लगा और दीन-हीन बना, गरीबी से घिरा गृहस्थ के समान दिखने लगा दिन।

यह सायंकाल है या अकाल में ही यमराज आ गया-पता नहीं। तिलक से रहित स्त्री के माथे के समान आकाश शोभित नहीं हो रहा है। दशों दिशाएँ भी जीर्ण-ज्वर से ग्रस्त क्षीण काया वाली दिख रही हैं। सूरज के न दिखने से कमल की पाखुड़ियाँ भी बंद हुई जा रही हैं। वन-उपवन की शोभा भी मिटती-सी नजर आने लगी और अपने मित्र अग्नि तत्त्व का जीवन लुटता-सा देख हवा (पवन) भी चलना बंद हो गई है।

आकाश में स्वतंत्र, परिग्रह से रहित हो उड़ने वाले, निरंतर श्रम करने वाले, वात्सल्य भावों से भरे, तामसिक-राजसिक वृत्ति से दूर, वैर रहित, ज्ञान सहित पक्षी गण भी आकस्मिक आने वाले अंधकार से भयभीत हो अपने विचरण को पूर्ण कर, थके हुए-से घौंसलों में वापस आ मौन बैठ जाते हैं। किन्तु उनका मन चिन्ता में डूबा हुआ है। तन अनुकम्पा से काँप रहा है और भीतर करुणा से भीगे कण-कण पीड़ा के कारण बाहर आ-आकर रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं।

कान तो कल के ही है, किन्तु कल (बीता हुआ दिन) जैसा पक्षियों का कलरव सुनाई नहीं दे रहा है। सुनाई दे रहा है तो केवल वन-उपवन, बाग-बगीचों के हृदय में भरा करुण क्रन्दन-आक्रन्दन[१]! कौओ-कोयल-कबूतरों में, चील-चिड़िया-चातक पक्षियों के मन में, बाघ-भेड़-बाजपक्षी-बगुलों में, सारंग-हिरण-सिंह के शरीरों में, पक्षी-खरगोशों-गधों-खलिहानों में, सुन्दर कोमल-लताओं में, ऊँचे-ऊँचे पर्वत के शिखरों में, वृक्ष-पौधों-पत्तों में, फलों में निमेष (पलक झपकाने में लगने वाला समय) मात्र भी विरह से उत्पन्न वेदना का वातावरण देखा नहीं जा

१. क्रन्दन-आक्रन्दन = रोते हुए बोलना, दर्द भरा रोना और बोलना।

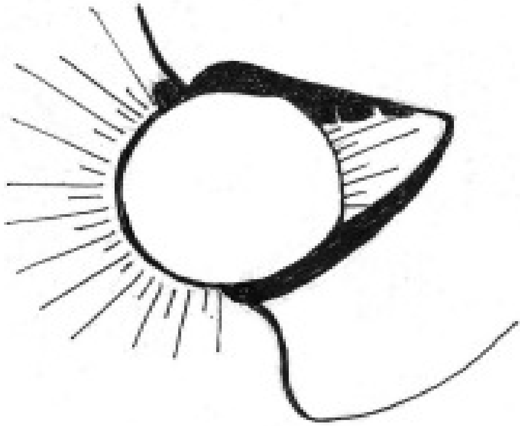

रहा सो पंछी दल ने मन ही मन संकल्प लिया कि जब–तक सूर्यग्रहण का संकट नहीं टलेगा, तब तक के लिए भोजन–पान, तन के श्रृंगार, मनोरंजन, मिष्ठान आदि सबका त्याग।

२९. रक्षा हो : माँ के मान की

इधर बादल ने भूमि में रहने वाले, आकाश में उड़ने वाले पक्षियों का हा–हाकार सुना और राहु के मुख में छटपटाते सूर्य को देखा तो उसके मन को अत्यधिक संबल मिला तथा कई गुणा खून बढ़–सा गया उसका। अज्ञानता का ही यह परिणाम है कि दूसरे पक्ष की हार में अपना खून बढ़ जाता है और अपनी पराजय में दिल का दौरा पड़ता है (लेकिन ऐसा होना नहीं चाहिए)। अब बादलों की वर्षा और प्रशंसा, मन के उल्लास को रोकने वाला कौन है ? प्रलयकारी वर्षा की पूरी–पूरी भूमिका बन चुकी है। इस प्रकार के माहौल को देखकर धरती सोचती है–

''जब हवा काम नहीं करती
तब दवा काम करती है,
और
जब दवा काम नहीं करती
तब दुआ काम करती है
परन्तु,
जब दुआ भी काम नहीं करती

तब क्या रहा शेष ?
कौन सहारा ? सो...सुनो!
दृढ़ा-ध्रुवा-संयमालिंगिता
यह जो चेतना है–
स्वयंभुवा काम करती है।'' (पृ० २४१-२४२)

जब हवा से स्वास्थ्य लाभ न हो तो दवा का प्रयोग किया जाता है। जब दवा भी कार्यकारी न रहे तो प्रभु-प्रार्थना की जाती है, किन्तु जब प्रभु की प्रार्थना से भी काम ना बने, तो फिर शेष क्या बचा, कौन सहारा ? तो सुनो, संयम से जुड़ी, दृढ़-स्थायी जो चेतना (आत्म शक्ति) है स्वयंभुवा (स्वयं से ही उत्पन्न) काम करती है।

यूँ सोचती हुई धरती माँ से विनयपूर्वक प्रार्थना करते हुए धरती के कण आज्ञा माँगते हुए कहते हैं कि माँ के मान की रक्षा के लिए हम भी राघव वंश–के ही अंश हैं। यद्यपि निम्न से निम्न, छोटे से छोटे व्यक्ति की भी हम प्रशंसा-सेवा करते हैं, उन्हें सहारा देते हैं किन्तु अहंकार में डूबे, मानी वंश को नष्ट करने वाले भी हम हैं माँ। जिस श्रेष्ठ परम्परा में ऋषि, मुनि, अर्हन्त हुए हैं उनकी स्मृति नष्ट न हो जाये, अब वंश की रक्षा हेतु हमें कर्त्तव्य करने दो माँ। मात्र चर्चा पर चर्चा, जो श्रम का कारण है उसे रहने दो। अब मीठे-मीठे भाषणों की अपेक्षा कर्त्तव्य का नीरस भोजन ही स्वास्थ्य वर्धक और स्वादपूर्ण लग रहा है।

और वे कण जगहितकारी माँ धरती के चरणों में अपना माथा रखते, नमस्कार करते हैं। फिर सुनते हैं माँ के मुख से मंगलकारी आशीर्वाद–

''पाप-पाखण्ड पर प्रहार करो
प्रशस्त पुण्य स्वीकार करो!'' (पृ० २४३)

अधर्म, दुष्कर्म, छल-कपट, दिखावटी आडम्बर पर आघात/वार करो, क्योंकि पाप को नष्ट करना ही प्रशंसनीय पुण्य को प्राप्त करना है। जाओ कर्त्तव्य करो, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।

३०. इन्द्र नहीं : इन्द्रधनुष

माँ का आशीर्वाद पाते ही दृढ़मना मुनियों के समान कार्य करने में संकल्पित हो, भरपूर उत्साह के साथ अनगिन कण आकाश की ओर उड़ते हैं। युद्ध के बिगुल को सुनते ही, रणांगन में कूदते देश-प्रेमी योद्धाओं के समान अथवा तपाये हुए लोहे के पिण्ड पर पड़ते घन प्रहार से उठती हुई चिनगारियों के समान लाल-लाल धरती के कण, बरसने की आकांक्षा लिए आकाश में डोल रहे जल-कणों

को सोखते जा रहे हैं। वे जल-कण भूकणों की राशि को हटाकर नीचे धरती पर नहीं आ पा रहे हैं। नीचे गिरते जलकणों से ऊपर उड़ते भू-कण जोर से टकराते हैं। परिणामस्वरूप एक-एक जल-कण कई कणों में विभाजित हो बिखर जाते हैं।

सौरमण्डल में चारों ओर जोरदार आवाज गूँजने लगती हैं एवं धुआँ-धुआँ सब ओर फैल गया है। ऐसा लग रहा है कि बादलों के ऊपर विघ्न-संकट आ गया है। भू-कण सघन होकर भी पाप से रहित हैं, जबकि जल-कण पाप से भरे, भयभीत हो भाग रहे हैं। जल-कणों के पीछे भू-कण भाग रहे हैं। लगता है उन्हें नष्ट करके ही विश्राम लेंगे।

इस अवसर पर देवों का स्वामी इन्द्र भी स्वर्ग छोड़कर आया है, किन्तु वह किसी को दिखाई नहीं दे रहा है। केवल उसका धनुष ही कार्य करता हुआ दिख रहा है इन्द्र धनुष। इसका कारण–

''महापुरुष प्रकाश में नहीं आते
आना भी नहीं चाहते,
प्रकाश-प्रदान में ही
उन्हें रस आता है।
यह बात निराली है, कि
प्रकाश सबको प्रकाशित करेगा ही
स्व हो या पर, 'प्रकाश्य' भर को...!'' (पृ० २४५)

महान् व्यक्ति कभी भी सबके सामने प्रमुख बन आगे आते नहीं और आना भी नहीं चाहते। दुनिया को सुखी बनाने, सन्मार्ग दिखाने में ही उन्हें आनंद आता है। यह बात अलग है कि प्रकाश सबको प्रकाशित करता ही है स्वयं हो या अन्य, प्रकाशित होने की योग्यता हो बस उसमें। फिर संसार में सभी वस्तुएँ सत्ता को लिए हैं ही। जिनमें प्रकाश्य होने की योग्यता है वे सभी प्रकाशित होंगे ही। आज नहीं तो कल। और यह भी संभव कहाँ कि सत्ता हो और प्रकाशित ना हो अर्थात् जो व्यक्ति परोपकार, दया, दान, सेवा आदि सत्कार्य करता है उसकी महानता इसी में है कि वह अपने कर्त्तव्यों के बदले ख्याति, पूजा, लाभ की चाह न रखे। यदि रखता है तो वह सही पुण्य-फल को प्राप्त नहीं कर पाता।

विशेष–आचार्य जयसेन ने श्री समयसार ग्रन्थ की टीका में लिखा है–जो व्यक्ति ख्याति, पूजा की चाह रखकर दान, पूजा, तप आदि करता है वह धागे के लिए हीरों का हार तोड़ता, तक्र (छाछ) के बदले में रत्न देता, कोदों धान की रक्षा

के लिए चंदन की बाड़ी लगाता तथा बर्तन माँजने की भस्म प्राप्ति के लिए मोतियों को भस्म करता हुआ मनुष्य के समान मूर्ख माना जाता है अथवा दान को व्यर्थ गँवाता है।

३१. चाहना और भावना

इतना भी निश्चित है जो परोपकारादि सत्कार्य करता है उसकी ख्याति, स्वयमेव ही जगत् में फैलती जाती है और वह प्रशंसा का पात्र बनता है। इन्द्र के समान ही कवि भी यह चाहता है कि मैं जैसे ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला हूँ वैसा ही ज्ञाता-दृष्टा, राग-द्वेष परिणाम रहित बन सकूँ। संसार के प्रपंच में न फँसूँ, न ही किसी के दुख में कारण बनूँ और मैं मात्र कहने वाला ही नहीं किन्तु कथनी के समान ही करनी अर्थात् करने वाला बनूँ। इस लेखनी की भी यही भावना है–

''कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक
जागृत...जीवित...अजित!'' (पृ० २४५)

कर्त्तव्य भावना से लिखी गई यह कृति (रचना) और श्रमण संस्कृति (संस्कारित परम्परा) भविष्यकालीन अनन्तकाल तक सबका हित करती हुई जीवित और अपराजित (जिसे हराया न जा सके) रहे, क्योंकि कृति और संस्कृति से ही सहज स्वभाव की उपलब्धि, सुन्दर शाश्वत मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हो सकती है किन्तु–

''कर्त्ता न रहे, वह
विश्व के सम्मुख कभी भी।'' (पृ० २४५)

कर्ता (करने वाला) कभी भी विश्व के समक्ष न रहे, क्योंकि कर्तापन की बुद्धि ही खारे अर्थात् दुखी संसार को बढ़ाने वाली है। इससे अपना और दूसरों का दोनों का ही हित नष्ट होता जा रहा है।

३२. उद्घाटन : अपार भण्डार का

इस अवसर पर इन्द्र भी धरती के स्वाभिमान की रक्षा करने हेतु तीखे-नुकीले बाणों को बादलों के शरीर पर छोड़ रहा है। इससे बादल दल का रूप छिन्न-भिन्न हो बिगड़ता जा रहा है। उनकी अशोभनीय, दीन-हीन स्थिति बन पड़ी है। इस दयनीय-सी दुर्दशा को देख रोना आता है। सम्पूर्ण आकाश में जहाँ देखो वहाँ भू-कण ही भू-कण दिखाई दे रहे हैं। जल-कण नाम मात्र के शेष बचे हैं। यही कारण है कि सागर ने पुनः अग्रिम कार्य की जानकारी देकर जल से भरे और

बादलों को आकाश में भेजा।

सागर के निर्देशानुसार बादलों ने बिजली पैदा की। क्रोध से भरी बिजली भी चमकने लगी। बिजली की चमक से सबकी आँखें बन्द हो गईं, स्वभाव से अनिमेष इन्द्र की भी पलकें झपकने लगीं तभी इन्द्र ने अमोघ अस्त्र वज्र निकाल कर बादलों पर फेंका। वज्र की मार खा बादलों के मुख से पीड़ा सूचक 'आह' ध्वनि निकली, जिसे सुनते ही सौरमण्डल भी बहरा हो गया।

रावण की भाँति मेघों का रोना, चीखना सागर के लिए अपशकुन सिद्ध हुआ और इधर धूल के कण चमकती बिजली की आँखों में घुसकर उसे दुख देने लगे। ऐसी विपरीत परिस्थिति में बिजली भी काँपने लगी, शायद इसी कारण से वह चंचल क्षणिक आयु वाली बनी है। सागर ने पुनः आदेश दिया बादलों को कि इन्द्र ने अमोघ अस्त्र चलाया तो तुम रामबाण चलाओ, किन्तु पीछे हटने का नाम नहीं लेना। ईंट का जवाब पत्थर से दो और शीघ्र ही पत्थरों के समान बड़े-बड़े ओलों की वर्षा करो।

सागर की बात सुनते ही बादलों में नई चेतना आयी, स्वाभिमान जागृत हुआ और ओलों का उत्पादन मानो ऐसा लगा जैसे कहीं भरे हुए अपार भण्डार का उद्घाटन ही हुआ हो। हल्के-भारी, छोटे-बड़े, त्रिकोण, चतुष्कोण, पञ्च पहलूदार अनेक आकार, अनेक भार वाले गोल-सुडौल ओलों से सारा आकाश भर गया।

३३. शक्ति : अणु की और मनु की

सो यह लेखनी तुलना करने लगी सौरमण्डल और भूमण्डल की। ऊपर सौरमण्डल में अणु की शक्ति काम कर रही है, पौद्गलिक यन्त्र आवाज कर रहा है—जो मारक है विज्ञान का उत्पादक, जिसका जीवन ही तर्क-वितर्क से चलता है, अधर में लटका है। यही कारण है कि ऊपर वाले (देव, धनवान, ओले आदि) के पास दिमाग तो है किन्तु चरण-आचरण नहीं। लगता है उनके चरणों को दीमक खा गई है।

नीचे (मनुष्य, सामान्य व्यक्ति, भूकण आदि) भूमण्डल में मानव की संकल्प शक्ति विद्यमान है, मन्त्रोच्चारण चल रहा है जो जग से उस पार उतारने वाला है। आस्था से भरा जीवन है, आजीविका की चिन्ता नहीं इसे, धरती की शरण मिली है जिससे वह चलता भी है और कार्यवशात् ऊपर चढ़ता भी है, किन्तु ऊपर वाले का तो दिमाग ही चढ़ सकता है जिससे उसका विनाश और पतन ही संभव है। यह सभी जानते हैं—

> "**प्रश्न-चिह्न ऊपर ही**
> **लटका मिलता है सदा,**
> **जबकि**
> **पूर्ण-विराम नीचे।**
> **प्रश्न का उत्तर नीचे ही मिलता है**
> **ऊपर कदापि नहीं...**
> **उत्तर में विराम है, शान्ति अनन्त।**
> **प्रश्न सदा आकुल रहता है।" (पृ० २४९-२५०)**

प्रश्नचिह्न (?) सदा ऊपर लटका हुआ ही मिलता है प्रश्न में सदा आकुलता, घबराहट मिलती है किन्तु पूर्ण विराम (।) नीचे ही मिलता है इसी प्रकार प्रश्न का उत्तर ऊपर नहीं, नीचे ही मिलता है। उत्तर में हमेशा-हमेशा के लिए विश्राम, शाश्वत शान्ति मिलती है। सही उत्तर मिल जाने के पश्चात् प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता। सागर में बूँद के समान उत्तर में प्रश्न विलीन हो, नष्ट हो जाता है सदा के लिए।

३४. जीत हुई : भू-कणों की

इस तरह लेखनी के मुख से भू-कणों की प्रशंसा और अपनी मूल्यहीनता सुन ओले निर्दयी बन भू-कणों पर टूट पड़े। फिर भू-कणों ने भी, ओलों को टक्कर दे आकाश में बहुत दूर फेंक दिया। जिस प्रकार प्रक्षेपास्त्र द्वारा 'आर्यभट्ट[१]', 'रोहिणी[२]' आदि उपग्रहों को धरती-कक्ष के बाहर उछाल दिया जाता है। इस टकराव से कुछ ओले तो पल भर में टूट-फूट कर छिन्न-भिन्न हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों देवों द्वारा परिमल पारिजात पुष्प की पाँखुरियाँ ही बिखेरी गई हों, जो मन्द मुस्कान के साथ नीचे उतर रही हों। नीचे उतरते ओलों के टुकड़ों को अपने

---

१. आर्यभट्ट = भारत का पहला उपग्रह, जिसे इसी नाम के महान् भारतीय खगोलशास्त्री के नाम पर नामित किया गया है। यह सोवियत संघ द्वारा १९ अप्रैल, १९६५ को कॉसमॉस-३ एम प्रक्षेपण वाहन द्वारा कास्युतिनयाद से प्रक्षेपित किया गया था।
यह भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) द्वारा निर्माण और अंतरिक्ष में उपग्रह संचालन में अनुभव प्राप्त करने के लिए बनाया गया था।

२. रोहिणी = भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) द्वारा शुरू की गई उपग्रहों की एक श्रृंखला है। रोहिणी श्रृंखला में चार उपग्रह थे, जो सभी भारतीय उपग्रह प्रक्षेपण वाहन द्वारा प्रक्षेपित किए गए थे और जिसमें से तीन सफलतापूर्वक कक्षा में स्थापित हो गए। चारों उपग्रह सन् १९७९ से १९८३ के बीच सतीन धवन अंतरिक्ष केन्द्र से प्रक्षेपित किए गए थे।

मस्तक पर लिए उड़ते हुए भू-कण ऐसे लग रहे हैं जैसे हनुमानजी अपने माथे पर हिमालय पर्वत ले उड़ रहे हों।

घण्टों तक चल रहे इस घटना-क्रम को देख इन दिनों (१९८४ में) चर्चा का विषय बनी 'स्टार वार[१]' की बात भी महत्त्वहीन फीकी लग रही है। ऊपर घटती इस घटना को कुम्भ भी खुली आँखों से देख रहा था, किन्तु उसके मुख पर जरा-सा भी भय नहीं झलक रहा है। वह साक्षीभाव (राग-द्वेष, हर्ष-विषाद किए बिना मात्र देखते रहना) से सब देख और जान रहा है। इस पर भी आश्चर्य की बात तो यह है कि एक भी ओला गिरकर कुम्भ को फोड़ ना सका। भूकणों की जीत और ओलों की हार हो चुकी है, फिर भी क्रोध की हार होना सहज नहीं।

मूकमाटी हिन्दी का कदाचित् पहला ऐसा महाकाव्य है, जिसमें अध्यात्म, धर्म, दर्शन, संस्कृति, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति आदि को अतिसूक्ष्म एवं रोचक कथा के रूप में उपस्थित किया गया है। गहन चिन्तन, प्रभावक वर्णन, अभिनव काव्य सौष्ठव, मुक्त छन्द एवं सरल भाषा-शैली में निधि के रूप में समादृत होगी, इसमें सन्देह नहीं।''

डॉ० सीताराम झा 'श्याम'

पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं शोध निदेशक,

पटना विश्वविद्यालय, पटना

आचार्यजी की दार्शनिक पहुँच, चिन्तन की सूक्ष्मता, कल्पनाशक्ति की विराटता, कवित्वशक्ति की विपुलता, भावशक्ति की महानता, अभिव्यक्ति की आशयगर्भता तथा दृष्टि की वर्तमानकालिकता के एक साथ दर्शन इस कृति में होते हैं।

डॉ० सुधाकर गोकाककर

पूर्व हिन्दी विभाग अध्यक्ष

शिवराज कॉलेज, कोल्हापुर

---

१. स्टार वार = अमरीकी सेना ने पहली बार एक तोप को गोला लेजर के जरिए मार गिराने में कामयाबी हासिल की। लेजर ने पहले इस गोले को ढूँढ़कर उस पर निशाना साधा और फिर ऊर्जा कणों की बौछार कर उसे नष्ट कर दिया। सन् १९८३ में अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति रोनाल्ड रैगन ने अंतरिक्ष में मिसाइल छतरी की योजना बनाई थी, जिसे स्टार-वार कहा जाता था। उसमें भी लेजर के इस्तेमाल का इरादा था।

सोपान १८
शिल्पी की मनोदशा : कुम्भ की दृढ़ता

माँ पृथ्वी की प्रतिष्ठा के विषय में सोचता हुआ शिल्पी डूबता है प्रभु की उपासना में, अर्थ नहीं परमार्थ की चाह। गुलाब पौध की स्मृति, प्रभु से प्रार्थना, संकट का अन्त हो। काँटे का रोष-संकट पर, फूल द्वारा मित्र पवन को याद करना। पवन का आना, गुलाब द्वारा मित्र का सम्मान। पवन ने पूछा याद करने का कारण, सहयोग की भावना। फूल की भिन्न-भिन्न भाव-भंगिमा देख प्रासंगिक कार्य करने हेतु पवन की कटिबद्धता, नभमण्डल में पहुँच बादलों के प्रति सरोष कथन, साथ ही जोरदार ठोकर लगाना, बादलों-ओलों का सागर में जा गिरना। निरभ्र नील आकाश का दर्शन।

शिल्पी की उदासीनता दूर कर उसे बाहर लाने का प्रयास, स्वस्थ्य दशा की ओर लौटता कुम्भकार। अपक्व कुम्भ की परिपक्व आस्था की बात, शिल्पी ने कहा-आग की नदी को भी पार करना है अभी तुम्हें तो कुम्भ जवाब देता है-आग-अनल में अन्तर नहीं साधक की दृष्टि में।

३५. असह्य अभाव : परमार्थ का

जन्म भूमि की लाज, माँ पृथ्वी की प्रतिष्ठा दृढ़ श्रद्धान के बिना स्थिर रह नहीं सकती और इस प्रतिकूलता में भी भूकणों का अद्‌भुत साहस, त्याग देख शिल्पी प्रभु की आराधना में लीन हो जाता है। शिल्पी ने आज तक प्रभु से कुछ माँगा नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि उसे किसी प्रकार की पीड़ा अथवा अभाव की अनुभूति नहीं। हाँ, धन की कमी, कोई कमी नहीं और प्रभु से इसकी माँग भी व्यर्थ है, क्योंकि जो प्रभु के पास ही नहीं उसकी क्या माँग करना ? किन्तु परमार्थ का अभाव शिल्पी को असहनीय हो रहा है। शीघ्र ही परमार्थ (मोक्ष, सत्य, ईश्वर) का सद्‌भाव हो इसमें प्रभो !

भले ही बालक हाथ-पैर न पटक रहा हो, कपड़े नहीं फाड़ रहा हो, न ही क्रोध करता हुआ रो रहा हो। इसका यह अर्थ नहीं की वह दुखी नहीं है। ऐसा निर्णय लेना भी ठीक नहीं है। किसी कारणवश सिसकते हुए बालक के दुख, पीड़ा को माँ ही जान सकती है। शिल्पी की अन्तर्वेदना का दर्शन यदि अन्तर्यामी (मन की बात जानने वाला) प्रभु को भी नहीं होगा तो किसे होगा ? किसकी आँखें

सजल हो सांत्वना दे सकेंगी ?

हे भगवन्! किसी भी तरह धरती की गरिमा बनी रहे, जल का (बादलों का) अहंकार समाप्त हो जाये बस। परीक्षा की भी सीमा होती है। अति परीक्षा भी प्रायः पात्र को मार्ग से च्युत कर देती है, पाथेय यानी सहयोगी के प्रति भी आस्था कमजोर पड़ती जाती है। बार-बार विघ्न आने से धीरज दृढ़ता भी हिलती है और मन भयभीत होने लगता है। क्या अकाल में ही कुम्भ को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ेगा अर्थात् नष्ट हो जायेगा ?

३६. प्रभु भक्ति में लीन : मति शिल्पी की

दिन पर दिन कई दिन व्यतीत हुए, शिल्पी दिखा नहीं। सो गुलाब के पौधे के समक्ष पुरानी यादें झलक आने लगीं–प्रेम भरी मुस्कान, लाड़-प्यार की बात, कोमल हाथों से पौधों के तन को सहलाना, मधुर संगीत सुनाते हुए शीतल जल का सिंचन करना, यह सब अतीत की बातें हो गईं।

पौधे ने देखा–विषयभोगों के सेवन से उदासीन भक्ति-योग में लीन सुदूर प्रांगण में बैठा हुआ है शिल्पी वह। उसकी मति प्रभु-भक्ति में लीन है, किन्तु मुख पर हल्की-सी उदासी छाई है। अपने स्वामी को धर्मसंकट में पड़ा देख गुलाब का पौधा बोल पड़ा–हे भगवन्! –

''इस संकट का अन्त निकट हो,
विकट[१] से विकटतम संकट भी
कट जाते हैं पल भर में;
आपको स्मरण में लाते ही
फिर...तो...प्रभो!
निकट[२]-निकटतम निरखता
आपको हृदय में पाते भी
विलम्ब क्यों हो रहा है,
आर्य के इस कार्य में...?'' (पृ० २५५-२५६)

आपको स्मरण में लाते ही संसार के सारे संकट क्षण भर में दूर हो जाते हैं, जैसे सूर्य की किरणों द्वारा अंधकार समूह पल में भाग जाता है। फिर जिसने आपको सदा अपने हृदय में ही बैठा रखा है, ऐसे मेरे स्वामी, सज्जन पुरुष–आर्य के कार्य में देरी क्यों हो रही है ? यह संकट शीघ्र ही दूर हो प्रभो!

---

१. विकट = कठिन, २. निकट = पास।

३७. समयोचित बात

इस संकट की परिस्थिति को देख दाँत कटकटाते हुए गुलाब के काँटे भी कुछ कहते हैं कि अरे संकट! समस्त इच्छाओं से परे रहने वाले निर्दोष, निश्छल पथिकों के पथ में काँटा बनकर फैल नहीं, अपना हठ छोड़ और कहीं दूर चला जा। अन्यथा तुझे पता नहीं काँटे से ही काँटा निकलता है, फिर कुछ ही पलों में पता न चलेगा तेरा। इसी बीच डाल पर लटकता फूल काँटे की बात काटे बिना, डाँटे बिना ही विशेष सक्रिय हो काँटे की उत्तेजना को शान्त करने हेतु समयानुकूल बात कहता है–

''जब सुई से काम चल सकता है
तब तलवार का प्रहार क्यों करें ?
जब फूल से काम चल सकता है
तब शूल का व्यवहार क्यों करें ?
जब मूल में भूतल पर रह कर ही
फल हाथ लग रहा है
तब चूल पर चढ़ना वह
मात्र शक्ति-समय का अपव्यय ही नहीं,
सही मूल्यांकन का अभाव सिद्ध करता है।'' (पृ० २५७)

हे काँटे भाई! चिन्ता न करो संकट शीघ्र ही नष्ट होने वाला है और जब सुई से ही काम निकल जाये तो तलवार की क्या आवश्यकता ? तथा जब फूल यानी प्रेम-व्यवहार से ही सफलता मिलने लगे तो शूल यानी कठोरता का व्यवहार क्यों किया जाये ? जब नीचे जड़ के पास ही रहकर फल प्राप्त हो रहा हो तो पेड़ के ऊपर चढ़ना, शक्ति और समय को व्यर्थ ही नष्ट करना है। साथ ही साथ परिस्थिति को सही-सही नहीं समझ पाना ही माना जायेगा। यूँ सुगन्ध के कोष फूल ने नीति-न्याय का तरीका बतलाते हुए, प्रेम-वात्सल्य का खजाना दिखाते हुए अपने अनन्य मित्र पवन (हवा) को याद किया।

३८. आगमन : पवन का

कुछ समय व्यतीत हुआ कि विनयशील, प्रकृति के अनुसार स्वभाव से वन-उपवन विचरने वाला, मौसम के अनुकूल रहने वाला, जीवन के प्रत्येक पल में मित्रता निभाने वाला, अपने पूर्वजों की परम्परा का निर्वाह करने वाला पवन आता है। सो ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में सन्तों का कहना है-

''जिसकी कर्त्तव्य-निष्ठा वह
काष्ठा को छूती मिलती है
उसकी सर्वमान्य प्रतिष्ठा तो...
काष्ठा को भी पार कर जाती है।'' (पृ० २५८)

जो कर्ता-बुद्धि से रहित सदा अपने कर्त्तव्य निर्वाह में, चरम सीमा तक

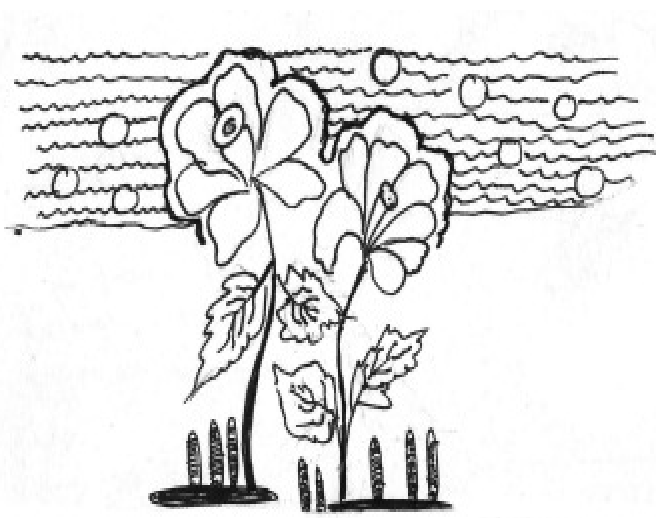

लगा रहता है, उसका सभी सम्मान करते हैं और उसकी लौकिक प्रतिष्ठा भी सीमा को लाँघ अनन्त आकाश को छू जाती है। फूल के स्मरण मात्र से पवन का आना हुआ। गुलाब का फूल अत्यधिक प्रसन्नता से भर गया, नाचने लगा। परिणाम स्वरूप स्वयमेव मित्र का स्वागत हुआ (चेहरे की मुस्कान, प्रसन्नता ही सबसे बढ़िया स्वागत का साधन है)। फूल ने आत्मीयता से भरे भावों से पवन को नहला दिया तो बदले में पवन ने भी फूल को प्रेम से हिला दिया।

फिर पवन ने विनयपूर्वक पूछा—मुझे याद किया, सो कारण जानना चाहता हूँ, जिससे कि प्रासंगिक कर्त्तव्य पूर्ण कर पुण्य से अपने को पवित्र कर सकूँ। पर के लिए सहयोगी, उपयोगी बन सकूँ, यही एक भावना है या कहूँ तो एक बहाना है, क्योंकि समता की ओर बढ़ने का सबसे सरल उपाय यही है और दूसरों को माध्यम बना, अपने भीतर भरी गंदगी को दूर करना है।

३९. कृतज्ञता : धरा के प्रति

पवन की बात सुन फूल कुछ न बोला। केवल उसने अपनी दृष्टि सुदूर बैठे शिल्पी की ओर कर दी, जो उदास बैठा हुआ, औरों को क्या अपने तन को भी नहीं देख पा रहा है—प्रभु भक्ति में डूबा हुआ है। कुछ पल बाद ही क्रोधित हो ऊपर बादलों की ओर नजर की फूल ने, जो बादल कलह करने में लीन हैं, विघ्न की मूर्ति बने हैं। भिन्न-भिन्न पात्रों को देखकर भिन्न मुखाकृति, परिणामों की बदलाहट पर्याप्त थी पवन के लिए, क्योंकि—

''अनुक्त भी ज्ञात होता है अवश्य
उद्यमशील व्यक्ति के लिए
फिर...तो...
संयमशील भक्ति के लिए
किसी भी बात की अव्यक्तता
आकुलित करेगी क्या ?
सब कुछ खुलेगी-खिलेगी
उसके सम्मुख...अविलम्ब!'' (पृ० २६०-२६१)

जो पुरुषार्थशील होता है वह बिना कहे ही इशारे से सब कुछ समझ जाता है फिर जो संयमित हो, भक्ति-भाव से भरा हो, वह कैसे न समझ पायेगा। सहज ही सारा का सारा विषय, अपना कर्त्तव्य उसे समझ में आ गया।

प्रासंगिक कार्य पता चलते ही, उसे पूर्ण करने के लिए सानन्द तैयार होता है पवन। धरती द्वारा किए उपकार को चुकाने हेतु भयंकर रूप धारण करता हुआ पवन बादलों से कहता है—सन्मार्ग से च्युत हुए हे बादलो! अपनी शक्ति का सदुपयोग करो, छल-कपट छोड़ो, क्योंकि इससे जीवन में कभी भी तुम्हें सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। अब कुछ करो अथवा न करो, तुम्हारा अन्तिम समय निकट आ ही गया है। मति की गति से भी तीव्र गति वाला होता हुआ पवन आकाश में पहुँचता है, बादलों को अपनी चपेट में ले उनका मुख समुद्र की ओर मोड़ देता है। फिर पूरी ताकत लगाकर एक ठोकर लगा देता है, जैसे बालक गेंद को पैर से ठोकर लगा दूर फेंक देता है। फिर क्या कहना ? बादलों सहित अनगिनत ओले एक साथ सागर में जा गिरते हैं। जैसे पापकर्म के वशीभूत हो पापी जीव नरकों में जा पड़ते हैं।

४०. अप्रभावित : शिल्पी

इधर कई दिनों बाद स्वच्छ नीले आकाश का दर्शन हुआ। पवन भी कर्त्तव्य कर आनन्दित हो उठा तथा उत्साह-उल्लास से भरा सौरमण्डल कहता है—धरती की कीर्ति बनी रही और हम सबकी माँ धरती के प्रति अटूट आस्था बनी रहे बस यही भावना है। धरती के कण-कण, वन-उपवन, पवन सभी सूर्य की आभा से नहा गये हैं। कलियाँ खुल-खिल गई हैं। नयी उमंग, नये रंग, नया उत्साह सब कुछ नया-नया-सा प्रतीत होने लगा है।

वातावरण में नव-नूतन परिवर्तन दिखा, किन्तु मौन बैठे हुए शिल्पी पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। मन्द-मन्द सुगन्धित बहती हुई हवा भी उसे प्रभावित ना कर सकी। उसके रोम-रोम रोमांचित गद्‌गद् भी कहाँ हुए ? सो ठीक ही है, जो अस्पर्श[१] को छूना चाहता है उसे पुद्‌गल का स्पर्श क्या प्रभावित करेगा ? गुलाब की महक शिल्पी की नासा तक पहुँच कर भी उसकी नासा को जगा न सकी। सच है, भोगों में लीन भोक्ता को भी जब वह तृप्त न कर सकी तो फिर योगी को बुलाना, बाहर लाने का प्रयास करना, कठिन तो होगा ही। घोंसलों को छोड़ आकाश में उड़ते पक्षियों की चहचहाहट भी चाह रहित शिल्पी के कानों को लुभा न सकी।

ऐसी स्थिति में स्वयं दूर जन्म लेने वाले सूरज ने अपनी किरणों के माध्यम

१. अस्पर्श = शुद्ध आत्म तत्त्व, जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है।

से कमलों की पाँखुड़ियों की भाँति शिल्पी की आँखों को सहलाना शुरू किया। इस सहलाव से शिल्पी को अनुभूत हुआ माँ की ममता का स्नेह भरा स्पर्श, आँखें पूरी खुलीं उसकी और उसने किया दिनकर का दर्शन। दूर से दर्शन पाकर भी नेत्रों से खुशियों के आँसू टपकने लगे। धरती के कण-कण प्रभु-भक्ति में डूबने की इच्छा करने लगे। इसी तरह पूरा का पूरा वातावरण छूना, देखना, प्रसन्न होना और कुछ पाने की चाह में डूबने लगा, लीन हो गया।

४१. नदी आग की : बिना सहारे

कुम्भकार को प्रसन्नता से भरा हुआ देख कुम्भ ने कहा–

''परीषह-उपसर्ग के बिना कभी
स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी
त्रैकालिक सत्य है यह!'' (पृ० २६६)

आज तक जिन्होंने ने भी स्वर्गीय सुख व मोक्ष सुख प्राप्त किया अथवा आगे करेंगे उन्होंने समता पूर्वक आगत[१] बाधाओं, संकटों को सहर्ष स्वीकार किया है। क्योंकि यह त्रैकालिक सत्य है कि परीषह[२]-उपसर्गों[३] को सहन किए बिना किसी को भी सच्चे सुख की प्राप्ति न हुई और न होगी।

कुम्भ की बात सुन कच्चे कुम्भ की परिपक्व दृढ़ आस्था पर कुम्भकार को आश्चर्य हुआ और वह कहता है–

मुझे उम्मीद नहीं थी कि इतने थोड़े समय में तुम्हारी आस्था इतनी दृढ़ बनेगी, समता-सहनशीलता का विकास हो पायेगा, क्योंकि कठिन साधना-पथ पर बड़े-बड़े साधक भी हार मान जाते हैं, किन्तु अब मुझे पूरा विश्वास हो चुका है कि आगे भी तुम्हें पूर्ण सफलता मिलेगी। फिर भी तुम्हारी यात्रा अभी प्रारम्भिक घाटियों से गुजर रही है। आगे घाटियाँ ही घाटियाँ आने वाली हैं और सुनो, आग की नदी भी पार करनी है तुम्हें, वह भी बिना किसी नौका अर्थात् सहारे के। स्वयं अपने बाहुबलों से तैरकर इसके बिना किनारे का मिलना संभव नहीं।

''इस पर कुम्भ कहता है कि–
जल और ज्वलनशील अनल में

---

१. आगत = आने वाली।

२. परीषह = भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदि की बाधा, कष्ट आना।

३. उपसर्ग = तिर्यञ्च, मनुष्यादि द्वारा किया जाने वाला उपद्रव।

अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।'' (पृ० २६७)

आत्म तत्त्व/निर्वाण (मोक्ष/दुखों से मुक्ति) की उपलब्धि हेतु निरन्तर साधना करने वाले साधक की अन्तर दृष्टि में पानी और आग में अन्तर दिखता ही नहीं। उसके लिए सब समान हैं, जो मिले उसे स्वीकार। **साधक की यात्रा निरन्तर एकत्व की ओर, परमात्मपने की ओर बढ़ती है बढ़नी ही चाहिए अन्यथा यात्रा नाम मात्र की मानी जायेगी।** सही यात्रा की शुरूआत तो अभी हुई ही नहीं साधना की, ऐसा समझना चाहिए। कुम्भ की ये पंक्तियाँ जोश भरी, प्रभावशाली साबित हुई हैं।

❑ ❑ ❑

आध्यात्मिक आधार वाला पहला महाकाव्य : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) विजेन्द्र स्नातक

खड़ी बोली और मुक्त छन्द में आध्यात्मिक आधार देकर लिखा गया 'मूकमाटी' पहला महाकाव्य है। धरती पर यद्यपि कवियों ने लिखा है और कुछ रचनाओं में माटी का उल्लेख भी आया है, पर इस महाकाव्य में माटी को आत्मा का प्रतीक मानकर वर्णन हुआ है। इसलिए इसका अध्ययन साहित्यिक कृति के रूप में नहीं बल्कि आध्यात्मिक और दार्शनिक महाकाव्य के रूप में करना चाहिए। काव्य की भाषा यद्यपि बहुत सरल है किन्तु अर्थ बहुत गूढ़ और मर्मस्पर्शी है। जैनदर्शन का अध्ययन किए बिना इसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता। यह एक अनूठा ग्रन्थ है।

अब तक धरती पर ही कविताएँ लिखी गईं। मिट्टी पर किसी का ध्यान ही नहीं गया। दिगम्बर जैनाचार्य विद्यासागरजी ने मिट्टी पर यह महाकाव्य लिखकर साहित्य के क्षेत्र में महान् योगदान दिया है।

बौद्ध और जैनदर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है, परन्तु यह धारणा बिल्कुल मिथ्या है। जैनदर्शन अन्य सभी धर्मों से अधिक आस्तिक है। केवल जैन ही सबसे अधिक आस्तिकता से पूजा-पाठ तथा अन्य धार्मिक कार्य करते हैं। जैनधर्म कभी भी पड़ोसी की तरफ ईर्ष्या से नहीं देखता, इसलिए यह आज तक अडिग खड़ा है।

(नवभारत टाइम्स (दैनिक) नई दिल्ली २१ जनवरी, १९८९ एवं 'दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका' (पाक्षिक) जयपुर, राजस्थान, १ फरवरी, १९८९)

चतुर्थ खण्ड

अग्नि की परीक्षा

चाँदी-सी राख

बिखरे कण

१.	अन्तिम अन्तर्वेदना : लकड़ियों की	१८७
२.	बलवानों का बल	१८९
३.	जलती हुई अग्नि	१९०
४.	जीवन दान	१९१
५.	लुटता स्वाद	१९३
६.	धर्म : साधक का	१९५
७.	तामस : विश्व का	१९६
८.	मुक्ति : विकल्पों से	१९७
९.	मीमांसा : दर्शन और अध्यात्म की	१९९
१०.	गहरी निद्रा : स्वप्न की मुद्रा	२०१
११.	उतावला उर : शिल्पी का	२०३
१२.	काया कुम्भ की : काली रात-सी	२०४
१३.	प्रसन्नता : मुक्तात्मा-सी	२०५
१४.	पात्र हो तो : ऐसा	२०६
१५.	न बरसते - न हरसते	२०८
१६.	अग्नि परीक्षा : अग्नि की	२०९
१७.	भाँति-भाँति के बोल	२११
१८.	सम्मान दीपक का या ज्योति का	२१२
१९.	अतिथि की प्रतीक्षा में : सुसज्जित कलश	२१३
२०.	प्रयोजन : प्रभु पूजन का	२१५
२१.	चर्चा : दाताओं के बीच की	२१६
२२.	दयनीय शब्द : दाता के	२१८
२३.	अधर में दोनों : दाता और पात्र	२१९
२४.	नवधाभक्ति : दाता द्वारा	२२०
२५.	भूख : तन और मन की	२२२
२६.	महावृत्ति : श्रमण की	२२४
२७.	पाणिपात्र ही : उत्तम पात्र	२२६
२८.	उलझन में उलझे : कुण्डल	२२८
२९.	मनमाना मन : असंयमी का	२३०
३०.	प्रार्थना सेठ की : गुरुवर से	२३१
३१.	रोना : रुक न सका	२३२
३२.	नियति और पुरुषार्थ	२३३
३३.	सेठ घर की ओर	२३४
३४.	सार्थकता : सन्त समागम की	२३६
३५.	उबलता : स्वर्ण कलश	२३९
३६.	रचना : आँखों की	२४०
३७.	श्रमण कोश के या होश के	२४१
३८.	स्वर्ण में बोया बीज	२४२
३९.	मिशाल : दीपक और मशाल की	२४४
४०.	प्रार्थना - कुम्भ की : चिढ़ती झारी	२४६
४१.	असीम भोगाभिलाषा : स्फटिक की	२४७
४२.	लाल हुआ : अनार का रस	२४९
४३.	तपा शरीर : सेठ जी का	२५१
४४.	प्रशिक्षित हुआ मन : खटमल द्वारा	२५३
४५.	वैद्य : एक से बढ़कर एक	२५५
४६.	खेल : पुरुष और प्रकृति का	२५६
४७.	प्रयोजन : कलाओं का	२५८
४८.	मिट्टी का टोप	२६०
४९.	परम्परा : वैखरी की	२६२
५०.	अतुलनीय उपचार : माटी का	२६३
५१.	सम्मान : काँच-कचरे का	२६६
५२.	व्यवस्था : आय-व्यय की	२६७

५३. आमंत्रित हुआ : आतंकवाद २७०
५४. एक नेक सलाह : झारी की २७२
५५. पलायित हुआ परिवार २७३
५६. आया दल : आतंकवाद का २७४
५७. अपराध : एक प्रकार का २७६
५८. पदों की बात : अपदों के मुख से २७७
५९. प्रारम्भ हुई : मूसलाधर वर्षा २७९
६०. संकल्प : कुम्भ का २८१
६१. पानी में डूबा : पूरा परिवार २८२
६२. क्षमता : गागर में सागर की २८४
६३. मत्स्य-मुक्ता : बिन माँगे २८५
६४. पुनरावृत्ति : आतंक की २८७
६५. वर्षा : पत्थरों की २८९
६६. डूबते प्राण : आतंक के २९१
६७. जन्मदाता : चोरों के २९१
६८. नाच नचाती : नाव २९२
६९. गले उतरी : बात २९४
७०. माँ की गोद में आतंक : शिशु सम २९५
७१. आकुलित तट : स्वागत हेतु २९७
७२. उपादान का सच्चा मित्र २९८
७३. सृजनशील जीवन २९९
७४. वचन दिया : गुरुदेव को ३००
७५. डूबे सन्त : महामौन में ३०२

मूकमाटी का छन्द

डॉ॰ महेन्द्रसागर प्रचण्डिया

मूकमाटी महाकाव्य में जिस छन्द का प्रयोग हुआ है वह छन्द शास्त्र में गिनाया नहीं गया। राग अथवा रागिनी से मिलकर किसी शब्द को ही वह पद की संज्ञा देता है, ऐसा भी नहीं है। भावों की स्वतन्त्रता की नाईं छन्द भी मुक्त है। इस छन्द मुक्ति में लय है, गति है और है यति भी। महाकवि निराला की भाँति कवि 'रबड़ छन्द' का सफल प्रयोग किया है। भावों को बखूबी व्यक्त करने की इस छन्द की में पूरी ताकत है। पढ़ने में कोई अवरोध नहीं, निर्विरोध काव्य पाठ करने में आनन्द की अनुभूति होती है। छन्द की यही मंशा होती है और कवि ने अपने नये छन्द प्रयोग से अपनी छन्दशास्त्रीय शक्ति को प्रमाणित किया है।

मानस तरंग से उद्धृत

यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर श्रृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं; अलंकार अब अलं का अनुभव कर रहा है, जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ; जिसमें नूतन शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष, लोचन दिए हैं, जिसने सृजन के पूर्व ही हिन्दी जगत् को अपनी आभा से प्रभावित-भावित किया है, प्रत्यूष में प्राची की गोद में छुपे भानु-सम; जिसके अवलोकन से काव्य कला कुशल कवि तक स्वयं को आध्यात्मिक काव्य सृजन से सुदूर पायेंगे; जिसकी उपास्य-देवता शुद्ध चेतना है, जिसके प्रति प्रसंग पंक्ति से पुरुष को प्रेरणा मिलती है, सुषुप्त चैतन्य-शक्ति को जागृत करने की, जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। इसीलिए 'संकर-दोष' से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव जीवन का औदार्य व साफल्य माना है; जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है, जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है... और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।

आचार्य विद्यासागर

सोपान १९
अवा में कुम्भ की अनुभूति

अपक्व कुम्भ को पकाने हेतु कुम्भकार अवा को साफ-सुथरा करता है। नीम, इमली आदि की लकड़ियों के बीच कुम्भ समूह को व्यवस्थित करता है। बबूल की लकड़ी कुम्भकार को अपनी अन्तर्वेदना कह, कुम्भ को जलाने के लिए मानसिक अस्वीकारता जताती है, किन्तु शिल्पी के समझाने पर स्वीकारता प्रकट करती है।

शिल्पी णमोकार मन्त्रोच्चारण के साथ ही अग्नि जलाता है, किन्तु वह झट से बुझ जाती, अनेक बार यही होने पर शिल्पी को ज्ञात हुआ लकड़ी से कि अग्नि भी जलाना नहीं चाहती। कुम्भकार को किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ देख कुम्भ स्वयं निवेदन करता है अग्नि से कि मुझे नहीं मेरे दोषों को जलाना है। कुम्भ की बात सुन सुरसुराती सुलगती अग्नि। अवा के बाहर काला अंधकार छा जाता है। भीतर धूम ही धूम। वमन का कारण अन्तरंग अरुचि, निर्धूम अग्नि का दर्शन, अग्नि में रस गुण, गंध गुण का अनुभव। अग्नि को जन्म दे अग्नि में लीन हुई लकड़ियाँ। अग्नि की अति पर कुम्भ की भावना–विश्व भर का तामस, समता में बदले।

अग्नि का कथन–ध्यान की बात और ध्यान से बात करने में अन्तर है। कुम्भ अध्यात्म की अगाधता और दर्शन की अबाधता पाने निवेदन करता है सो अग्नि द्वारा इन दोनों की मीमांसा–अध्यात्म स्वाधीन नयन है तो दर्शन पराधीन उपनयन इत्यादि।

१. अन्तिम अन्तर्वेदना[१] : लकड़ियों की

कुम्भ को अग्नि में पकाना है, पकाने हेतु प्रांगण में अवा[२] है। कुम्भकार ने नीचे से लेकर ऊपर तक, अच्छी तरह से अवा को देखा और शीघ्रता से बिना देर किए, निर्धारित समय-सीमा के अन्दर कुम्भ को अवा के भीतर पहुँचाने हेतु, उसे झाड़-पोंछ कर साफ-सुथरा, जीवजन्तु रहित बनाता है वह। अवा के निचले भाग में बबूल की लकड़ियाँ एक के ऊपर एक रखी गईं, जिन्हें लाल-पीली नीम की पतली-पतली लकड़ियों का सहारा दिया गया। बीच-बीच में देवदारु[३] जल्दी से आग पकड़ने वाली लकड़ियाँ भी बिछाई गईं। इमली की चिकनी लकड़ियाँ। जो

१. अन्तर्वेदना = मन की पीड़ा। २. अवा = कुम्भ को पकाने के लिए तैयार किया भट्टा।

३. देवदारु = एक प्रसिद्ध पहाड़ी पेड़, जिसकी लकड़ी कड़ी, हल्की और पीले रंग की होती है।

धीरे-धीरे जलने वाली हैं, अवा के किनारे चारों ओर खड़ी की गई हैं और अवा के बीचों-बीच कुम्भ समूह को अच्छी तरह से एक के ऊपर एक, आजू-बाजू में जमाया गया है सावधानी पूर्वक।

अवा में सजाई गई सभी लकड़ियाँ अन्तर मन से दुखी हैं और उन सबकी तरफ से बबूल की लकड़ी, रुन्धे हुए गले से अपनी अन्तिम वेदना कुम्भकार को दिखाती हुई, शोकाकुल मुद्रा सहित कुछ कहने की हिम्मत करती है–

''जन्म से ही हमारी प्रकृति कड़ी है
हम लकड़ी जो रहीं
लगभग धरती को जा छू रही हैं
हमारी पाप की पालड़ी, भारी हो पड़ी है।'' (पृ० २७१)

धरती की कोख से उत्पन्न होते से ही हमारा शरीर, सख्त कठोर रहा है। अभी भी हमारा जीवन पाप से भरता जा रहा है। हम ऊपर उठने के बजाय नीचे धरती, जमीन को ही छूती जा रही हैं। पुण्य और इस पतित-पापी जीवन के बीच में क्षेत्र की ही नहीं, अपितु काल की भी दूरी बढ़ती जा रही है अर्थात् दूर-दूर तक आत्मकल्याण होने, धर्ममय जीवन बनने की बात समझ में नहीं आ रही है।

स्वभाव से ही हम कड़ी हैं और कभी-कभी अपराधियों को पीटने के लिए हमें और कड़ी बनाया जाता है। खेद की बात तो यह है कि प्रायः अपराधी बच जाते हैं और निरपराधी ही पिटते हैं, जिन्हें पीटते-पीटते हम टूट भी जाती हैं। ऐसी

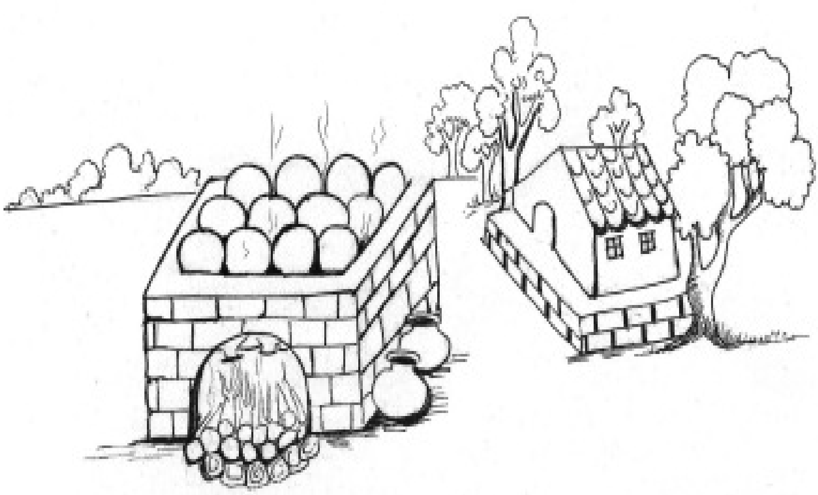

व्यवस्था को, सत्ता को हम सही प्रजातन्त्र–प्रजा की हितकारी कैसे कहें ? यह तो साफ–साफ धन की शक्ति का दुरुपयोग अथवा अपनी मनमानी करना ही है।

और किये गये अनर्थ का फल कालान्तर (भविष्य में) में हमें भी मिलेगा ही, किन्तु अब जो हमें साधन बनाकर कुम्भ को जलाने की योजना बनी है, उससे इस जीवन में हत्या की एक और कड़ी जुड़ी जा रही है। पाप रूप विष से भरे हुए इस जीवन में कण्ठ तक पीड़ा भर आयी है। विष हो या अमृत–कुछ भी अब भीतर नहीं जा सकता। कारण कि भीतर स्थान ही नहीं है और विष से भरे जीवन में कुछ समय तक अमृत का प्रभाव पड़ना भी संभव नहीं है तथा यह भी सत्य है–

''आशातीत विलम्ब के कारण
अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।'' (पृ० २७२)

निर्दोषता के निर्णय हेतु अदालत की शरण ली जाये और ठीक समय पर निर्णय हो जाये, उचित बात समझ आ जाये तो ठीक है। अन्यथा उम्मीद से अधिक देरी होने पर सही निर्णय–न्याय भी अन्याय-सा लगने ही लगता है और इस कलिकाल (कलयुग, वर्तमान काल, प्रवाहमान काल) में हमारे साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हो रहा है।

२. बलवानों का बल

लड़खड़ाती लकड़ी की जिह्वा, रुकती–रुकती पुनः कुछ कहती है–निर्बलों को सताने, कष्ट देने से बलवानों का बल सफल नहीं होता, अपितु **जो बलहीन हैं उन्हें सहारा दे ऊपर उठाने में ही बल की सदुपयोगिता है।** लकड़ी की बात सुनकर मीठे–सरल शब्दों में शिल्पी कहता है–

''नीचे से निर्बल को ऊपर उठाते समय
उसके हाथ में पीड़ा हो सकती है,
उसमें उठाने वाले का दोष नहीं,
उठने की शक्ति नहीं होना ही दोष है।'' (पृ०२७२-२७३)

ऊपर उठने की भावना रखने वाले के हाथों में कमजोरी होने पर, उठाते समय यदि उसे कोई कष्ट हो तो उसमें उठाने वाले का कोई दोष नहीं, क्योंकि उठाने वाला तो अपना कर्त्तव्य ही कर रहा है और वर्तमान प्रसंग में भी यही बात है। कुम्भ के जीवन को ऊपर उठाना, उन्नत बनाना है और इस कार्य में तुम्हें ही सहयोगी बनना होगा और कोई बन भी नहीं सकता।

शिल्पी की बात सुन कुछ सकुचाती हुई, मन में स्वीकृति प्रदान करती हुई पुरुष के समक्ष स्त्री के समान, थोड़ी-सी गर्दन हिलाती हुई लकड़ी कहती है– आपकी बात कुछ समझ में आयी तथा कुछ नहीं भी, किन्तु आपकी उदारता देख बात टालने की हिम्मत नहीं होती और लकड़ी की ओर से प्रासंगिक कार्य[१] हेतु अनुमति मिलती है।

अवा के मुख पर दबा-दबाकर रबादार (दानेदार) राख और माटी इस तरह बिछाई गई की बाहरी हवा ही नहीं, हवा की आवाज भी भीतर ना जा सके। अवा के उत्तर दिशा की ओर नीचे के भाग में एक छोटा-सा द्वार है, जिस द्वार पर पहुँचकर कुम्भकार सिद्ध प्रभु को स्मरण कर नौ बार णमोकार मंत्र का उच्चारण करता है और एक छोटी-सी लकड़ी से अवा में अग्नि लगाता है, किन्तु जलती अग्नि कुछ ही पलों में बुझ जाती है।

अग्नि फिर से पुनः जलाई जाती है, किन्तु वह भी जल्दी से बुझ जाती है। इस जलने-बुझने की क्रिया को, कई बार होती देख कुम्भकार पुनः लकड़ी से कहता है–लगता है इस शुभ कार्य में सहयोग की पूरी स्वीकृति अभी नहीं मिली अन्यथा बार-बार आग बुझ क्यों रही है ? इस पर लकड़ी कहती है–नहीं-नहीं, यह बाधा मेरी ओर से नहीं है–

''स्वीकार तो...स्वीकार...
समर्पण तो...समर्पण...
बाहर...सो भीतर, भीतर...सो बाहर।'' (पृ० २७४-२७५)

मैंने तो मन, वचन, काय से आपकी बात स्वीकार की है, आपके कर्त्तव्य के प्रति समर्पण किया है। बाहर और भीतर एक रूप ही व्यवहार और एक ही परिणति, उपयोग की धारा यहाँ चल रही है।

३. जलती हुई अग्नि

यहाँ बाधक कारण[२] कोई और ही है और वह है स्वयं अग्नि। मैं तो जलना चाहती हूँ पर अग्नि ही मुझे जलाना नहीं चाहती। इसका कारण तो वह स्वयं जाने। लकड़ी की बात सुन, शिल्पी सोच-विचार में डूब जाता है कि प्रासंगिक कार्य को पूर्ण करने हेतु अग्नि से कैसे, क्या कहूँ ? क्या वह मेरे मन की बात समझ सकेगी ? क्या मेरी बात को पूर्ण करने के लिए, इच्छा रूपी प्यास बुझाने के लिए

१. प्रासंगिक कार्य = वर्तमान में जो कार्य प्रसंग चल रहा है, तत्सम्बन्धी।

२. बाधक कारण = विघ्न-बाधा उपस्थित करने वाला।

अग्नि जल के समान शीतल, मधुर बन सकेगी ?

यदि मेरी बातें सुनकर और क्रोधित हो उठी तो, यूँ शंका मन में रखता हुआ शिल्पी पुनः एक बार और अग्नि जलाता है लो जलती हुई अग्नि कहने लगी—इस बात को मैं भी मानती हूँ कि **अग्नि-परीक्षा के बिना किसी को भी आज तक मुक्ति का लाभ नहीं मिला और न ही भविष्य में मिलेगा।** जब यह नियम है तो अग्नि की अग्नि-परीक्षा नहीं होगी क्या ? मेरी परीक्षा कौन लेगा ?

मैं स्वयं अपने आपको पूर्णतः सफल परीक्षक नहीं कह सकती और फिर झूठा निर्णय लेकर ही अपने आपको प्रामाणिक मानना मुझे ठीक नहीं लगता क्योंकि—

''अपनी आँखों की लाली
अपने को नहीं दिखती है।'' (पृ० २७६)

अर्थात् अपने दोष स्वयं को देखने में नहीं आते और जो दूसरों के लिए परीक्षक बना हो वह स्वयं के लिए भी बन सके, कोई नियम नहीं है। अपने जीवन में सदा अच्छा उद्देश्य बनाए रखना एवं सात्त्विक आचरणमय जीवन बनाना ही, सही कसौटी समझती हूँ मैं। फिर कुम्भ को जलाना तो दूर रहा किन्तु जलाने का भाव भी मन में लाना, पाप समझती हूँ शिल्पी जी! तभी अग्नि और शिल्पी के बीच चल रही वार्ता को सुन रहा कुम्भ, अवा के भीतर से ही विनयपूर्वक अग्नि से कहता है—

''शिष्टों पर अनुग्रह करना
सहज-प्राप्त शक्ति का
सदुपयोग करना है, धर्म है।
और,
दुष्टों का निग्रह नहीं करना
शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म!'' (पृ० २७६)

सत् पुरुषों पर उपकार करना, पुण्योदय से प्राप्त बल का सदुपयोग करना ही धर्म है, सुख का साधन तथा दुर्जनों की दुर्जनता, बुराइयों को दूर नहीं करना भी प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करना, अधर्म है।

४. जीवन दान

मैं कहाँ कह रहा हूँ कि मुझे जलाओ, किन्तु मेरे भीतर जो दोषों का समूह है उसे जलाओ। क्योंकि दोष जले बिना मैं निर्दोष नहीं हो सकता हूँ। मेरे दोषों को

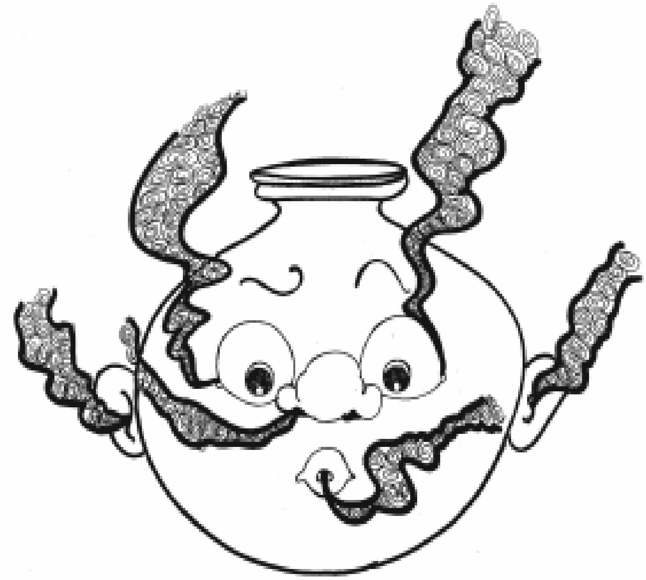

जलाना ही मुझे जीवन–दान देना है। **स्व–पर दोषों को जलाना ही परम धर्म माना है सन्तों ने,** क्योंकि दोष अजीव/पौद्गलिक हैं, कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होने वाले हैं, वस्तु का स्वभाव नहीं, कथंचित् बाहर से ही आते हैं। गुण जीव का स्वभाव है, अतः गुणों का स्वागत होना चाहिए। तुम्हारे इस जलाने रूप कार्य से तुम्हें परमार्थ मिलेगा तो मुझे अर्थ यानी जीवन। तुम्हारी कृपा से मुझमें जल धारण करने की शक्ति प्रकट होगी, इसलिए तुम्हारी स्वीकृति और सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

कुम्भ की बात अग्नि को समझ में आयी और इधर शिल्पी का मुख खिल गया। निराशा आशा, विश्वास में परिवर्तित हुई और अग्नि भी प्रमाद छोड़ निष्प्रमादी बनी अपने कर्त्तव्य में जुटी। देखते ही देखते सुरसुराती सुलगती हुई अग्नि विकराल रूप धारण कर सारी लकड़ियों को उदरस्थ करती हुई अवा को घेर लेती है। अवा अषाढ़ माह में उमड़ते, डराते हुए–से काले–काले घने बादलों की भाँति धुएँ को उगलने लगा। अवा के चारों ओर लगभग ३०–४० गज का क्षेत्र प्रकाश से रहित हो गया। ऐसा लग रहा है मानो नरक की तम:प्रभा महामही का अंधकार ही ऊपर आ गया हो।

धूम्र से घिरा अवा शिल्पी को नहीं दिखा तो वह सोचता है, जब बाहर ऐसी भयंकर दशा है तो भीतर क्या हो सकती है ? अनुमान ही लगाया जा सकता है।

तेज गति से धुआँ अवा में घूमने लगा, भीतर–बाहर बस धुआँ ही धुआँ दिख रहा है। कुम्भकार का माथा भी घूमने लगा है, फिर कुम्भ की बात क्या कहें ?

कुम्भ के मुँह में, पेट में, कान–नाक के छेदों में धूम ही धूम घुट रहा है, आँखों से आँसू नहीं किन्तु असु अर्थात् प्राण ही बाहर निकलने को हैं। लेकिन बाहर से भीतर जाने वाला धुआँ प्राणों को बाहर नहीं निकलने दे रहा है। धुएँ की तेज गन्ध से नासिका की नाड़ी भी मंद पड़ गई। फिर भी कुम्भ ने पूरी शक्ति लगाकर धूम्र को पेट में भरा। मानो कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम ही किया हो, जो कि योग का मूल और ध्यान की सिद्धि में श्रेष्ठ साधन माना जाता है।

५. लुटता स्वाद

इस धूम्र भक्षण का कारण यह भी है कि कुम्भ जानना चाहता था कि मुझमें अग्नि को पचाने की क्षमता है कि नहीं। धूम्र भक्षण करते हुए भी कुम्भ की जिह्वा ने अरुचि का अनुभव नहीं किया। अतः धूम्र का वमन (उल्टी) भी नहीं हुआ, क्योंकि–

> **''वमन का कारण और कुछ नहीं,**
> **आन्तरिक अरुचि मात्र।**
> **इससे यही ज्ञात होता है कि**
> **विषयों और कषायों का वमन नहीं होना ही**
> **उनके प्रति मन में**
> **अभिरुचि का होना है।'' (पृ० २८०)**

वमन/त्याग का मूल कारण मन में अरुचि, ग्लानि है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों का त्याग नहीं होना, कषायों का कम नहीं होना यह बात बताता है कि मन में अभी विषय–कषायों के प्रति राग, श्रद्धा बनी हुई है। विषय–कषायों का सही स्वरूप ज्ञात होते ही, उनमें अरुचि पैदा होनी चाहिए और अरुचि होते ही उनका त्याग भी होना ही चाहिए। अन्यथा वस्तु स्वरूप का ज्ञान, यथार्थ ज्ञान नहीं माना जा सकता है।

धीरे–धीरे धूम्र उठना बंद हो गया। अवा में धूम्र रहित अग्नि दिखाई पड़ने लगी, अग्नि की उष्णता उत्कृष्टता को प्राप्त हुई। अग्नि के स्पर्श होने से कुम्भ का शरीर जलता हुआ काला पड़ गया जबकि उसकी आत्मा निर्मल हो सहज शान्ति का अनुभव करने लगी।

अग्नि का स्पर्श होते ही कुम्भ की स्पर्शन इन्द्रिय ने कुम्भ से पूछा कि यह

कौन-सा स्पर्श है ? सो कुम्भ ने जवाब दिया यह वह शुद्ध स्पर्श है, जिसका अनुभव बिना जले, बिना तपे संभव नहीं। इस संदर्भ में कुम्भ की जिह्वा ने भी यह घोषणा कर दी कि जिन बुद्धिमानों की यह धारणा है कि अग्नि में रस गुण नहीं है, सो गलत है। क्योंकि मैंने इसका अनुभव/स्वाद लिया है और अनुमान से भी यह सिद्ध है कि जब धूम्र का स्वाद आ सकता है तो अग्नि का स्वाद जिह्वा को क्यों नहीं आयेगा ? इसका स्वाद उसी को आयेगा जो जीने की इच्छा से ही नहीं, किन्तु मृत्यु के भय से भी ऊपर उठा हो। क्योंकि–

''रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति
कभी भी किसी भी वस्तु के
सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता,
भात में दूध मिलाने पर
निरा-निरा दूध-भात का नहीं,
मिश्रित स्वाद ही आता है,
फिर, मिश्री मिलाने पर...तो–
तीनों का ही सही स्वाद लुट जाता है!'' (पृ० २८१)

जो जिह्वा इन्द्रिय का लोलुपी है, वह किसी भी वस्तु का सही स्वाद नहीं जान पाता है, क्योंकि वह एक वस्तु में दूसरी वस्तु मिलाकर ही खाता है। फिर

किसी एक वस्तु का सही स्वाद कैसे आवे ? जैसे भात में दूध मिला देने पर दूध और भात का अलग-अलग स्वाद नहीं आता अपितु मिला-जुला ही स्वाद आता है। फिर शक्कर और मिला दी जाये तो तीनों का असली स्वाद ही समाप्त हो जाता है।

६. धर्म : साधक का

धूम्र से मूर्च्छित-सी हुई कुम्भ की नासा ने भी घुटन न होने से रसना का ही समर्थन किया और अग्नि की शुद्ध गंध को सूँघने हेतु उतावली करती है वह। धूम्र के कारण कुम्भ की आँखें बंद हुईं थीं, सो वे भी खुल गईं, जैसे अंधकार के हटते ही सूर्योदय होने पर कमल खिल उठते हैं। आँखें खुलते ही कुम्भ ने सब ओर देखा निर्धूम अग्नि को, दूसरा दृश्य कहीं नहीं दिखा—बस चारों ओर अग्नि ही अग्नि।

अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न लकड़ियाँ अब लकड़ियाँ नहीं रहीं, अपितु अग्नि को पी लिया या इस तरह कहें कि अग्नि को जन्म देकर अग्नि में ही विलीन हो गईं वे।

''प्रति वस्तु जिन भावों को जन्म देती है
उन्हीं भावों से मिटती भी वह,
वहीं समाहित होती है।
यह भावों का मिलन-मिटन
सहज स्वाश्रित है
और
अनादि-अनिधन...!''(पृ० २८२-२८३)

बीज पेड़ को जन्म देकर, मिट्टी घट रूप परिवर्तित होकर, बूँद सरिता सागर बन स्वयं मिट जाती है अथवा उसी भाव रूप परिणत हो जाती है। नये रूप को पाना, पुराने रूप को छोड़ना यह प्रक्रिया सहज ही निज परिणामों पर आधारित है। ऐसा अनादिकाल (जिसका कोई प्रारम्भ न हो ऐसा काल) से होता आ रहा है और आगे भी अनंतकाल (जिसका कोई अन्त न हो ऐसा काल) तक होता रहेगा।

अग्नि को चखने, छूने, सूँघने और देखने से प्राप्त अपनी उन्नति की अनुभूति, मन की प्रसन्नता व्यक्त करने हेतु उद्यमशील (पुरुषार्थ करने के स्वभाव वाला) कुम्भ को देख संकोच करती हुई अग्नि कहती है कि अभी मेरी गति में अधिकता नहीं आयी है और जब तक मैं अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँचती हूँ तब तक

तुम्हारी परीक्षा पूर्ण नहीं हो सकेगी। मेरा जलाना शीतल ठंडे पेय की याद दिलाता है। मेरा जलाना कटु काजल का स्वाद दिलाता है अर्थात् मेरा सम्पर्क पाते ही कंठ सूखने लगता है, मुख का स्वाद कड़वा हो जाता है और ठंडे पानी की याद आती है। किन्तु नियम है–

''प्रथम चरण में गम-श्रम
...निर्मम होता है,
मेरा जलाना जन-जन को जल
...बाद पिलाता है
एतदर्थ...क्षमा धरना...क्षमा करना–
धर्म है साधक का
धर्म में रमा करना...!'' (पृ० २८३)

प्राथमिक दशा में किया हुआ पुरुषार्थ दुखी करता है, कठोर व कष्टदायी लगता है, किन्तु मेरे द्वारा जलाये जाने के बाद ही तुम्हारा जीवन सबको शीतल जल पिलाने में कारण बनेगा। इसलिए मुझमें अति आवे, इससे पहले ही मैं तुमसे क्षमा माँगती हूँ। तुम क्षमा धारण करना और मुझे क्षमा करना। क्योंकि **साधक का परम धर्म है क्षमा धारण करना और क्षमा रूपी धर्म में लीन रहना।**

७. तामस[१] : विश्व का

अग्नि की बात सुनकर कुम्भ के बल को और साहस मिला, उत्साह में नयी जागृति आयी और वह कह उठा–**इच्छित फल जब तक न मिले तब तक पुरुषार्थ करते रहना ही पुरुषार्थ की चरम सीमा है।** इस सूक्ति को मैं सदा स्मरण में रखता हूँ, इसलिए मार्ग में आराम नहीं करता मैं और न करूँगा। प्रभु से सिर्फ इतनी ही प्रार्थना है कि मुझमें अपूर्व शक्ति का उद्भव हो–

''भुक्ति की ही नहीं,
मुक्ति की भी
चाह नहीं है इस घट में
वाह-वाह की परवाह नहीं है
प्रशंसा के क्षण में।
दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ
परन्तु,

१. तामस = अन्धकार

आह की तरंग भी
कभी नहीं उठे
इस घट में...संकट में।
इसके अंग-अंग में
रग-रग में
विश्व का तामस आ भर जाय
कोई चिन्ता नहीं,
किन्तु, विलोम-भाव से
यानी
ता...म...स स...म...ता...!'' (पृ० २८४)

विषय-भोगों की ही नहीं किन्तु मुक्ति की भी चाह नहीं है इस मन में तथा न ही औरों के द्वारा की गई प्रशंसा की। बस इतनी इच्छा है कि अग्नि के बहाव में डुबकी लगाऊँ तो भी इन संकट के क्षणों में मुख से आह न निकले अर्थात् पीड़ा की अभिव्यक्ति न हो। इस तन के अंग-अंग में रोम-रोम में विश्व का अंधकार समा जाये, इसकी कोई चिन्ता/परवाह नहीं है, किन्तु विपरीत भाव से यानी तामस ...समता रूप में परिवर्तित हो जाये।

हे भगवन्! अब व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, ख्याति की चाह से पूरी तरह उदासी आ चुकी है। कर्त्तव्य मात्र करने का भाव मन में रहता है। अतः आपके मुख की मुस्कान-मात्र मेरे लिए पर्याप्त नहीं है, अब आपके मुख से कुछ वचन, प्रवचन सुनने मिलें। बस और कुछ चाह नहीं है। संसार के सभी बंधन, सभी सीमाओं से परे होना चाहता हूँ तथा रूप, रस, गंध, स्पर्श से परे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करना चाहता हूँ। समस्त परिग्रह से रहित कषाय रूपी जंग से दूर शुद्ध लोहे के समान बस ध्यान रूपी अग्नि में पचना अर्थात् लीन होना चाहता हूँ।

८. मुक्ति : विकल्पों से

प्रभु की प्रार्थना, प्रार्थना में लीनता, ध्यान रूपी अग्नि तथा ज्ञान मार्ग की बात कुम्भ के मुख से सुन अग्नि कहती है बीच में ही कि मुझे भवों-भवों की स्मृति है। बहुतों से मिली हूँ, साधु-संतों की संगति की है मैंने फिर यह अनुभव हुआ है कि ध्यान के केन्द्र खोलने मात्र से ध्यान में केन्द्रित/लीन होना संभव नहीं है। **ध्यान की बातें करना और ध्यान से बात करना अर्थात् ध्यान धारण करना, इन दोनों में बड़ा अंतर है।** लो ध्यान के सम्बन्ध में ही आधुनिक चित्रण

प्रस्तुत है–

''इस युग के
दो मानव
अपने आपको
खोना चाहते हैं–
एक
भोग-राग को
मद्य-पान को
चुनता है;
और एक
योग-त्याग को
आत्म-ध्यान को
धुनता है।
कुछ ही क्षणों में
दोनों होते
विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना !
एक शव के समान
निरा पड़ा है,
और एक
शिव के समान
खरा उतरा है।'' (पृ० २८६)

इस युग के दो मानव ऐसे हैं, जिनमें एक भोगी तो दूसरा योगी। दोनों कुछ समय के लिए अपने आपको खोना चाहते हैं। संसार के विकल्पों से मुक्त होना चाहते हैं। इसके लिए भोगी भोग वस्तु, स्त्री आदि को तथा शराब आदि नशीली वस्तु को चुनता है, स्वीकार करता है और योगी भोग को त्याग कर आत्मध्यान में लीन होता है उसी ओर बार-बार पुरुषार्थ करता है कुछ ही समय में दोनों ही हो जाते हैं विकल्पों से मुक्त। कुछ समय पश्चात् परिणाम यह निकला, भोगी शव यानी मुर्दे के समान शक्तिहीन हुआ, चेतना शून्य पड़ा मिलता है तो योगी भगवान्

के समान, शुद्धत्व को प्राप्त हो, परम आनंद की अनुभूति में लीन-जागृत मिलता है।

९. मीमांसा : दर्शन और अध्यात्म की

ध्यान की बात सुनकर कुम्भ सोचता है-बड़े-बड़े विद्वानों, दार्शनिकों, तत्त्व ज्ञानियों से भी ऐसी अनुभूतिपरक (अनुभव के आधार पर कही गई) पंक्तियाँ प्रायः सुनने को नहीं मिलीं, जो आज अग्नि से सुनी। दर्शन[१] की गहराई और अध्यात्म की गंभीरता समझने हेतु वह अग्नि से निवेदन करता है-क्या दर्शन और अध्यात्म, सिक्के की तरह एक ही जीवन के दो पहलू हैं ? क्या इनमें पूज्य और पूजक भाव है ? यदि है तो कौन पुजता है और कौन पूजता है ? कार्य-कारण भाव है तो कौन कार्य, कौन कारण है ? इनमें बोलता कौन है, मौन कौन रहता है ? ध्यान का आनंद किससे आता है और उसका अनुभव कौन करता है ? मुक्ति और संतुष्टि किससे मिलती है ? इन दोनों की मीमांसा (विचार पूर्वक तत्त्व, निर्णय) सुनने मिले इस युग को बस।

कुम्भ की प्रार्थना पर अग्नि देशना[२] देना प्रारम्भ करती है, सो सुनियेगा- दर्शन और अध्यात्म[३] न ही एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं, न ही उनमें पूज्य-पूजक भाव है और न ही कार्य-कारण भाव। दोनों पृथक्-पृथक् अपनी सत्ता लिए हैं। **दर्शन का जन्म मस्तिष्क से होता है जबकि अध्यात्म का जन्म आत्म-कल्याण की भावना रखने वाले हृदय से।** जैसे, लहर के बिना सरोवर रह

१. दर्शन = वह शास्त्र जिसमें आत्मा, अनात्मा, जीव, ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष, जगत्, धर्म, मोक्ष, मानव-जीवन को उद्देश्य आदि का निरूपण हो।

२. देशना = उपदेश, प्रवचन।

३. अध्यात्म = आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला, निज स्वरूप में स्थिर ज्ञान।

सकता है, रहता है उसी प्रकार दर्शन के बिना भी अध्यात्म रह सकता है, किन्तु सरोवर के बिना लहर नहीं होती, उसी प्रकार बिना अध्यात्म ज्ञान के दर्शन भी संभव नहीं हैं। अध्यात्म स्वतंत्र नेत्र के समान है तो दर्शन पराधीन उपनयन (चश्मे) के समान है।

दर्शन में शुद्ध तत्त्व की बात नहीं किन्तु सत्य और असत्य के आसपास ही दर्शन घूमता रहता है, जबकि अध्यात्म सदा सत्य, चैतन्य रूप प्रकाशित रहता है। निर्विकल्प स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है तो अनेक संकल्प-विकल्पों में लीन दर्शन होता है। आत्म तत्त्व को छोड़ बाहरी पर-पदार्थों की ओर अभिमुख, बहुश्रुत-ज्ञानवान ही दर्शन का सेवन कर सकता है, करता है। जबकि अंतरात्मा में लीन, बाहरी सम्बन्ध से जिसकी दृष्टि हट गयी है ऐसे चैतन्य के प्रकाश, सिद्धत्व की अनुभूति अध्यात्म में होती है।

''दर्शन का आयुध शब्द है—विचार,
अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध - निर्विचार!
एक ज्ञान है, ज्ञेय भी
एक ध्यान है, ध्येय भी।'' (पृ० २८९)

दर्शन का शस्त्र विचार, सोचना-समझना है तो अध्यात्म शस्त्र रहित, विचार शून्य, निश्चल होता है। दर्शन ज्ञान है तो ज्ञेय (जानने योग्य) भी। अध्यात्म ध्यान है तो ध्याने योग्य भी। दर्शन उस तैरने वाले व्यक्ति के समान है जो सदा बाहर की ओर ही देखता है। अध्यात्म उस डुबकी लेने वाले व्यक्ति के समान है जिसका बाहरी सम्बन्ध छूट जाता है और वह सरोवर के भीतरी भाग का ही अनुभव करता है।

अग्नि के मुख से अध्यात्म और दर्शन की व्याख्या सुन कुम्भ कह पड़ा—अहा! हा!! वाह! वाह!! कितनी गहरी व्याख्या है यह। साधुवाद (शाबासी देना) अग्नि को। फिर क्या अग्नि साधुवाद को स्वीकार कर और तीव्रता से धधकने लगी। बाहर भले ही प्रातःकालीन शीतल, मधुर हवा बह रही है पर उसका अवा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। उसकी उष्णता बढ़ती ही जा रही है तब दिन हो या रात, प्रताप हो या प्रभात, भीतर कुछ भी अंतर नहीं रहा, अध्यात्म में लीन योगी (यति, मुनि, साधक) की तरह। रुक-रुक कर दिशा बदलते काल का, मौसम का परिवर्तन रुक ही गया। अवा के भीतर सदा एक जैसा ही मौसम (वातावरण) बना हुआ है अखण्डकाल की तरह।

सोपान २०
स्वप्न की निरर्थकता

बहती हवा द्वारा सत्ता का रहस्य, शिल्पी निद्रा में लीन–स्वप्न में कुम्भ की याचना, यातना और शीतल जल की माँग। जागने पर स्वप्निल दशा को याद कर शिल्पी की हँसी, अवा के निकट पहुँचने पर कोई आवाज नहीं स्वप्न अक्षरशः असत्य निकला। अवा की छाती पर से रेतिल राख अलग कर कुम्भ को देखा भविष्य भले ही पावन हो, पर पावन का अतीत, इतिहास अपावन ही। अवा से बाहर आया कुम्भ, कुम्भ के मुख पर तैरती प्रसन्नता, भीतरी संवेदन, धरती की गोद से छाती पर कुम्भ और कुम्भ के मन में अतिथि संविभाग के शुभ भावों की उमड़न।

१०. गहरी निद्रा : स्वप्न की मुद्रा

उपर्युक्त प्रसंग को देख अवा के भीतर बहने वाली हवा से ध्वनि निकलती है कि काल का प्रवाह, नदी प्रवाह की तरह सदा बहता रहता है और बहता–बहता कह रहा है–

''जीव या अजीव का यह जीवन
पल–पल इसी प्रवाह में
बह रहा
बहता जा रहा है,
यहाँ पर कोई भी
स्थिर–ध्रुव–चिर
न रहा, न रहेगा, न था
बहाव बहना ही ध्रुव
रह रहा है,
सत्ता का यही, बस
रहस रहा, जो
विहँस रहा है।'' (पृ० २९०–२९१)

जीव हो या पुद्गल–सभी का जीवन प्रतिक्षण इसी काल के प्रवाह में बह रहा है, बहता ही जा रहा है। यहाँ कोई भी स्थिर, बहुत काल तक ठहरने वाला नहीं है, न पहले था और न ही आगे रहेगा। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि

सभी आयु पूर्ण कर मरण को प्राप्त होते ही हैं। बड़े-बड़े महल, भवन, वन-उपवन, भोगोपभोग सामग्री सब कुछ तो नश्वर, बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर (शीघ्र ही नष्ट होने वाला) है। यह परिवर्तन होता आ रहा है, होता रहेगा—यही ध्रुव सत्य है। सत्ता का यही रहस्य है जो यहाँ प्रकट हो रहा है।

यह क्या ? अचानक पीड़ा का काल, कुछ माँगने की आवाज, कहाँ से आ रही है, किसकी है, किस कारण से, क्या खोजने निकली है ? पुरुष की है या स्त्री की ? पुरुष की तो नहीं लगती, क्योंकि अनुपात से पतली लग रही है कानों को। इसकी स्पष्टता प्रकट होती है—सो कुम्भ के मुख से निकली लग रही है कि ओ धरती माँ! तू सदा अपनी सन्तान के प्रति दया धारण करती है, मुझ शिशु की दुख भरी आवाज तुम्हारे कानों तक नहीं आ रही है क्या ? मंजिल मिलना तो दूर मार्ग में जल भी नहीं मिल रहा है, फल-फूल की क्या अपेक्षा रखूँ ? यहाँ तो छाया की भी गरीबी दिख रही है। हे माँ! मुझे मृत्यु के मुख में न ढकेलो, भविष्य में प्रकाश मिलेगा ऐसी आशा देकर जीवन में अँधेरा न फैलाओ। अब यह उष्णता सही नहीं जा रही है, सहनशीलता की धीरे-धीरे कमी आती जा रही है। इस जीवन को जलाओ मत, अब तो ठंडा जल पिलाकर जीवन दान दो इसे माँ!

याचना सुनकर भी जब धरती माँ की ओर से कोई आश्वासन और आशीष के वचन नहीं मिले तो कुम्भ ने कुम्भकार को स्मरण में ला कहा—क्या रक्षा के सभी स्थान/आश्रय कहीं दूर चले गये हैं ? कुम्भ के कर्ता और पालक होकर भी आप इसे भूल गये। बिना जल ग्रहण किए अब मेरे प्राण किसी का भी सम्मान नहीं कर पायेंगे यानी शरीर से बाहर निकल जायेंगे, किसी का सहारा नहीं बनेंगे। उज्ज्वल भविष्य की कोई इच्छा नहीं रही। ये प्राण अब अग्नि-परीक्षा[१] नहीं दे सकते, छोटा-सा नियम-संकल्प भी सुमेरु पर्वत जैसा बड़ा और कठिन लगने लगा है। मेरी श्रद्धा भी अस्त-व्यस्त-सी होती डगमगा रही है।

अपनी प्यास बुझाए बिना दूसरों की प्यास बुझाना, एक कल्पना-सा और जल्पना-सा अर्थात् मात्र वचनों की अभिव्यक्ति-सी लग रही है और कुम्भ की दशा लगभग रोने जैसी होने लगी कि उदारहृदयी[२] कुम्भकार कुछ गंभीर हो, कुम्भ के हृदय की पीड़ा दूर करने हेतु, कुम्भ में धीरज धारण करने की क्षमता प्रकट हो, उसकी भूख-प्यास मिटाने हेतु कुछ भोजन-पानी लेकर अवा की ओर पहुँचता है

---

१. अग्निपरीक्षा = आग में तपाकर शुद्ध होने की जाँच करना।

२. उदारहृदयी = जिसका हृदय निज-पर के उद्धार/कल्याण में लग रहता है, ऐसा व्यक्ति।

कि कुम्भकार जो गहरी नींद में सोया हुआ था, उसकी नींद टूटती है और उसकी स्वप्न दशा छूट जाती है।

जब चाहे, मन चाहे स्वप्न कहाँ दिखते हैं। तभी स्वप्न की दशा पर प्रथम तो शिल्पी को हँसी आयी, फिर उसकी आँखें गंभीरता से भर गईं। जिन आँखों में पुराना बीता हुआ जीवन ही नहीं, किन्तु भावी जीवन भी स्वप्न-सा लगने लगा और कुम्भ का भविष्य क्या होगा—अच्छा या बुरा ? यह शंका कुम्भकार के मन को भारी कर गई।

११. उतावला उर : शिल्पी का

प्रातःकालीन प्रभु प्रार्थना को पूर्ण कर कुम्भकार ने बाहर आ प्रांगण में देखा चारों ओर प्रभातकालीन सुनहरी धूप फैलने जा रही है। प्रत्यूष काल में ही उसका मन उतावला हो गया, आज अवा को खोलकर देखना है। कुम्भ ने अग्नि परीक्षा दी और अग्नि ने कुम्भ की परीक्षा ली। शत-प्रतिशत सफलता का विश्वास है फिर भी विपरीत स्वप्न दिखने से मन को धीरज कहाँ ?

अपनी ओर बढ़ते शिल्पी के कदमों को देख कुम्भ की ओर से अवा बोलता है कि हे शिल्पी महोदय! **प्रायः स्वप्न निष्फल ही होते हैं। उनका कुछ भी फल नहीं होता। इन पर अधिक विश्वास करना हानि-कारक है।** 'स्व' यानी अपना, 'प' यानी पालन संरक्षण तथा 'न' यानी नहीं अर्थ यह हुआ—

> **''जो निजी-भाव का रक्षण नहीं कर सकता**
> **वह औरों को क्या सहयोग देगा ?**
> **अतीत से जुड़ा**
> **मीत से मुड़ा**
> **बहु उलझनों में उलझा मन ही**
> **स्वप्न माना जाता है।'' (पृ० २९५)**

जो अपनी ही सुरक्षा, अपने भावों का रक्षण नहीं कर सकता वह स्वप्न दूसरों की क्या रक्षा करेगा, क्या सहयोग देगा ? भूतकालीन संकल्प-विकल्पों में डूबा, अपनी प्रिय वस्तु से बिछुड़ा, अनेक प्रकार की उलझनों में उलझा मन ही स्वप्न का रूप धारण करता है। स्वप्न दशा में जागृति छूटती है। आत्म-साक्षात्कार (सम्यग्दर्शन[१] में कारण) भी नहीं हो पाता और सिद्धमन्त्र भी अकार्यकारी हो जाते हैं।

---

१. सम्यग्दर्शन = श्रद्धा, आस्था की वह अवस्था जिसमें व्यक्ति निज आत्मा तथा उससे भिन्न पर वस्तु-पुद्गलादि के भेद को जानने लगता है एवं अनुभव भी करने लगता है।

यूँ अवा की बात सुन शिल्पी अवा के निकट पहुँचता है। वहाँ न कोई चीख, न कोई भीख, न कोई यातना (पीड़ा), ना कोई याचना (माँग), न प्यास से पीड़ित प्राण, न शोक, न रोग, न रोता हुआ मुख। वह तकलीफ भरा दृश्य कुछ भी तो नहीं, जो स्वप्न में इन आँखों ने देखा, कानों ने सुना और हाथों ने छुआ था। स्वप्न का फल पूर्णतः गलत निकला, स्वप्न का घातक फल टला।

१२. काया कुम्भ की : काली रात-सी

कुम्भ की कुशलता ही मेरी कुशलता है, यूँ कहता हुआ कुम्भकार अति निकट पहुँच फावड़े से अवा के ऊपर की राख हटाता है। ज्यों-ज्यों राख हटती जा रही है कुम्भ को देखने का कौतूहल भी बढ़ता जा रहा है कि कब दिखे वह कुशल कुम्भ। राख के समान ही काले रंग के कुम्भ का दर्शन हुआ। आग से जल-जल कर काली रात जैसी कुम्भ की काया (शरीर) बनी हुई है। कष्ट की चरम सीमा का अनुभव हुआ, अनिष्ट को दूर कर मृत्यु से बचकर आया है कुम्भ।

''कुम्भ की काया को देखने से
दुःख-पीड़ा का, रव-रव का
परीक्षा-फल को देखने से
सुख-क्रीड़ा का, गौरव का
और
धारावाहिक तत्त्व को देखने से
न विस्मय का, न स्मय का
कुम्भकार ने अनुभव किया।'' (पृ० २९७)

कुम्भ के शरीर को देखने से नारकीय दुख-पीड़ा का और परिणाम- परीक्षा का फल देखने से सुख की अनुभूति का, कुम्भ के आत्मीय गौरव का और प्रवाहमान तत्त्व, द्रव्यत्व की ओर दृष्टि जाने पर न आश्चर्य, न मद का ही अनुभव किया कुम्भकार ने, किन्तु भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में वस्तु का परिवर्तन, परिणाम भी उसे स्पष्ट समझ में आ गया–

''पावन व्यक्तित्व का भविष्य वह
पावन ही रहेगा।
परन्तु,
पावन का अतीत–इतिहास वह
इति...हास ही रहेगा
अपावन...अपावन...अपावन।'' (पृ० २९७)

जो पवित्र है उसका भविष्य निश्चित ही पवित्र होगा, किन्तु कोई भी पवित्र व्यक्ति या वस्तु हो उसका अतीत/इतिहास तो इति-हास यानी पतित अपवित्र ही रहता है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

१३. प्रसन्नता : मुक्तात्मा-सी

अवा से बाहर कुम्भ को निकाला गया, कृष्ण की काया के समान नीली-आभा उसमें से फूट रही है। ऐसा लग रहा है मानो उसके भीतरी दोष सभी जलकर बाहर आ गये हों, वह पूर्णतः पाप से रहित हो गया है। ठीक ही है पाप से भरा रहता तो क्या कभी भी प्यासे प्राणियों की प्यास बुझा सकता था वह।

कुम्भ के मुख पर संसार दुखों को पार कर मुक्त हुई सिद्धात्मा-सी प्रसन्नता झलक रही है। काया की ओर कुम्भ का उपयोग नहीं है। कारण, भीतर आनंद की अनुभूति जो चल रही है। भौंरा काला होता हुआ भी, कभी उदास नहीं दिखता। कारण, कि हमेशा सुधा का पान जो करता रहता है वह।

''काया में रहने मात्र से
काया की अनुभूति नहीं,
माया में रहने मात्र से
माया की प्रसूति नहीं,
उनके प्रति
लगाव-चाव भी अनिवार्य है।'' (पृ० २९८)

शरीर में रहने मात्र से शरीर जन्य सुख-दुख की अनुभूति नहीं होती और संसार के, धन के बीच में रहने मात्र से संसार वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। जब संसार के प्रति अपनापन मोह होता है, तभी संसार बढ़ता है, अन्यथा नहीं।

बहुत सावधानी के साथ शिल्पी अवा में से हाथ पर ले एक-एक कुम्भ को बाहर निकालकर धरती पर रखता जा रहा है। सच ही है माटी धरती की थी, है और रहेगी। अन्तर इतना ही आया है कि पहले धरती की गोद में थी अब धरती की छाती यानी हृदय पर है कुम्भ का रूप धारण कर। बाहर हो या भीतर कुम्भ के अंग-अंग में आनंद का संगीत गूँज रहा है और सारी धरती, सारा आकाश उसी गीत में लीन/मग्न हो रहा है।

दो-तीन दिन ही व्यतीत हुए कि कुम्भ के मन में अतिथि दान के शुभ भाव उमड़ने लगे। निश्चित ही यह भाव उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है। अब जीवन का पतन नहीं विकास ही होगा। अब कुछ ही दुर्लभ नहीं इस जीवन में सब कुछ सामने ही सामने मिलने वाला है।

सोपान २१
अतिथि का स्वागत : कुम्भ की भावना

अतिथि सत्कार हेतु पात्र की विशेषताएँ–करपात्री, पदयात्री, विनीत, निश्छल, सदाशयी इत्यादि। नगर के महासेठ ने सपना देखा–भिक्षार्थी महासन्त का स्वागत। कुम्भ लेने सेवक पहुँचता है कुम्भकार के पास, सेवक ने बतायी सपने की बात–सुनकर कुम्भकार की प्रसन्नता। सेवक द्वारा कुम्भ की परीक्षा, अग्नि की अग्नि परीक्षा, कुम्भ से उभरे स्वर सा... रे... ग... म...। सेवक चमत्कृत हुआ।

कुम्भ के बदले में धन देने की बात, कुम्भकार द्वारा अस्वीकार, यह कहकर कि आज दान का दिन है लेन-देन का नहीं, धन के बदले धन्यवाद दे, कुम्भ ले सेवक चला घर की ओर। सेवक से कुम्भ अपने हाथ में ले सेठ कुम्भ सजाता है स्वस्तिक, श्रीफल, पान। श्रीफल की कठोरता पत्रों की मृदुता–मुक्ति पथ की बात, कुम्भ चन्दन की चौकी पर।

१४. पात्र हो तो : ऐसा

भक्त की भावना भगवान् को भी अपनी ओर खींच ही लेती है और अतिथि संविभाग, पात्र-दान की भावना कुम्भ के मन में उत्पन्न हुई, किन्तु वह–

''पात्र हो पूत-पवित्र
पद-यात्री हो, पाणिपात्री हो
पीयूष-पायी हंस-परमहंस हो।'' (पृ० ३००)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय से निर्मल हो अर्थात् वीतरागी, निष्परिग्रही देव, शास्त्र और गुरु पर श्रद्धा रखने वाला, उनके द्वारा उपदिष्ट समीचीन तत्त्व को जानने वाला एवं तदनुरूप आचरण करने वाला हो। ईर्यासमिति का पालन करता हुआ चार हाथ नीचे जमीन देखकर, जीवों की रक्षा करते हुए पृथ्वी तल पर निराकुल पैदल विहार/गमन करने वाला हो। जिसने समस्त बर्तन आदि उपकरणों का त्याग कर दिया हो और अपने कर-पात्र यानी दोनों हाथों की हथेलियों को अँजुलि बनाकर उसमें ही भोजन-पानी ग्रहण करता हो, वह भी श्रावकों के निवास पर जाकर निर्दोष आहार ही ग्रहण करता है।

हमेशा अध्यात्म रूपी अमृत को पीने वाला हो, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहता हो, जो विशुद्ध संयम धारण करने हेतु निज आत्म तत्त्व में लीन, परमात्म पद

की उपलब्धि हेतु निरन्तर पुरुषार्थ करने वाला हो। अपने प्रति वज्र यानी हीरे के समान कठोर तथा दूसरों के प्रति नवनीत यानी मक्खन के समान मुलायम हो। दूसरों के दुख को अपना दुख मानने वाला अर्थात् दया, करुणा के भावों से भरा हो। अरिहंतादि पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति में लीन हो परम आनंद की अनुभूति करने वाला हो।

''पाप-प्रपञ्च से मुक्त, पूरी तरह
पवन-सम निःसंग
परतन्त्र-भीरु।'' (पृ० ३००)

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप इन पाँच पापों से पूर्णरूपेण अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से सदा दूर रहने वाला, हिंसादि में कारण आरम्भ-सारम्भ का भी पूर्ण त्यागी हो। हवा के समान निष्परिग्रही, मात्र पिच्छी-कमण्डलु और शास्त्र को उपकरण के रूप में स्वीकारने वाला तथा उपकरणों के प्रति भी मूर्च्छा भाव, संग्रह वृत्ति से रहित, स्वतन्त्र किन्तु आगम एवं गुरु की आज्ञानुसार अनियत विहार करने वाला हो। पराधीनता से सदा भयभीत रहने वाला अर्थात् असंयमी श्रावक आदि के बंधन में न रहकर आत्मानुशासन में

रहने वाला हो।

वह दर्पण के समान अहंकार-घमण्ड से रहित, जाति, कुल, पूजा, ज्ञान, ऋद्धि, तप आदि सम्बन्धी मदों से रहित हो। हरे-भरे, फूल-फलों से लदे वृक्ष के समान नम्र बुद्धि-विनय को धारण करने वाला हो, दर्शन-ज्ञान-चारित्र और उपचार विनय का यथाशक्ति पालन करता हो तथा नदी प्रवाह के समान ही अपने लक्ष्य शुद्धात्मानुभूति, केवलज्ञान की ओर बिना थके, बिना रुके निरन्तर पुरुषार्थ करने वाला हो।

१५. न बरसते - न हरसते

वो मान-सम्मान और अपमान-निंदा में सदा समान बुद्धि रखने वाला हो। जिनके मन-वचन-काय की स्थिरता सुमेरु पर्वत[1] के समान अचल[2] हो। अन्तःकरण गौ के समान छल-कपट से रहित, सहज वात्सल्य को धारण करने वाला हो। लौकिक ख्याति-पूजा-लाभ की चाह के बिना मात्र अपने शुद्ध-आत्म तत्त्व की खोज में लगा हो। दूसरों के दोषों को नहीं, किन्तु सद्गुणों को ग्रहण करने वाला हो।

''प्रतिकूल शत्रुओं पर
कभी बरसते नहीं,
अनुकूल मित्रों पर
कभी हरसते नहीं,
और
ख्याति-कीर्ति-लाभ पर
कभी तरसते नहीं!'' (पृ० ३००-३०१)

विपरीत आचरण करने वाले—शत्रु के समान प्राणियों पर भी कभी क्रोध करते नहीं, अनुकूल आचरण करने वाले-प्रशंसक मित्रों के समान जीवों पर कभी प्रसन्न होते नहीं अर्थात् सदा समता धारण करते हों और जीवन में कभी भी अपने यश की कामना ले पीड़ित नहीं होते हों। क्रूर नहीं, किन्तु सिंह के समान भय से रहित, अयाचक-वृत्ति को धारण करने वाला हो। सूर्य के समान दूसरों का उपकार करने वाला हो किन्तु उपकार का बदला कभी चाहने वाला न हो।

निद्रा को जिन्होंने वश में किया हो, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की हो, सरोवर

---

१. सुमेरु पर्वत = जम्बूद्वीप के बीचोंबीच स्थित पर्वत।

२. अचल = जो कभी भी चलायमान नहीं होता।

के समान हमेशा अच्छा उद्देश्य रखने वाला हो, सीमित मात्रा में भोजन करने वाला अल्पाहारी हो, जिससे प्रमाद रहित आवश्यकों का पालन हो सके। हितकारी और थोड़े वचन बोलने वाला हो, चैतन्य रत्न की इच्छा रखने वाला हो, अपने दोषों को धोने हेतु आत्मनिन्दा, आलोचना करने वाला हो। दूसरों की निन्दा करना तो दूर, निन्दा सुनने के लिए भी जिनके कान बहरे जैसे हो जाते हों।

यशस्वी, तपस्वी, मनस्वी होकर भी मुख से अपनी प्रशंसा करने में गूँगे जैसे हो जाते हों। समुद्र-नदी-तालाबों के किनारों पर जिनकी ठंड की रातें सहज कटतीं, पर्वतों पर कटते गर्मी के दिन तपते सूर्य की किरणों तले–ऐसे महाव्रती श्रमण रूप अतिथि का लाभ हमें हो, ऐसी भावना भाई कुम्भ ने। "**भावना भव नाशिनी**" सन्तों की यह सूक्ति सफल होनी थी, सो हुई और कुम्भ की भावना पूरी होने को है।

१६. अग्नि परीक्षा : अग्नि की

इधर नगर के महा सेठ ने सपना देखा, जिसमें उसने दिगम्बर मुनिराज का अपने ही प्रांगण में माटी का कलश ले पड़गाहन किया। वह सुबह निद्रा से उठा। उसने सपने को सराहा और परिवार को स्वप्न की बात बता दी। फिर हर्षित हो एक सेवक को कुम्भ लाने शिल्पी के पास भेजा। सेवक ने कुम्भकार को सेठजी के स्वप्न की बात सुनाई। सेवक की बात सुन हर्षित हो शिल्पी बोल उठा–

"दम साधक हुआ हमारा
श्रम सार्थक हुआ हमारा
और
हम सार्थक हुए।" (पृ० ३०२)

संयम की साधना, पुरुषार्थ सफल हुआ और हम भी सफल हुए। सेवक ने कुम्भ को अपने एक हाथ में उठाया और दूसरे हाथ में एक कंकर ले बजा-बजाकर देखने लगा।

इस क्रिया को देख कुम्भ आश्चर्य के स्वर में बोल पड़ा सेवक से–क्या अग्नि-परीक्षा देने के बाद भी, परीक्षा लेना शेष है ? पर की परीक्षा कर रहे हो अपनी परीक्षा करके देखो, बजा-बजाकर देखो तो सही-कौन-सा स्वर निकलता-कौवे का काँव-काँव या गधे का पंचम आलाप। **परीक्षक बनने से पहले स्वयं का परीक्षा में पास होना अनिवार्य है** अन्यथा योग्यता के अभाव में परीक्षक भी हँसी का पात्र बनेगा। इस पर सेवक शालीनता से कहता है–यह सत्य है कि तुमने

अग्नि परीक्षा दी है, किन्तु अग्नि ने तुम्हारी सही–सही परीक्षा ली है कि नहीं यह जानने हेतु तुम्हें निमित्त बनाकर अग्नि की ही अग्नि परीक्षा ले रहा हूँ।

दूसरी बात यह भी है कि मैं एक स्वामी का सेवक ही नहीं किन्तु जीवन में काम आने वाली कुछ वस्तुओं का स्वामी तथा उपयोग करने वाला भी हूँ। मात्र धन की ओर दृष्टि जाने से वस्तुओं का सही–सही लेन–देन, व्यापार नहीं हो सकता है, कारण, ग्राहक की दृष्टि में, **वस्तु का सही मूल्य उस वस्तु की उपयोगिता है।** वह उपयोगिता ही भोक्ता पुरुष को कुछ समय के लिए सुख प्रदान करती है।

सो यह सेवक ग्राहक बनकर आया और वह कुम्भ को हाथ में ले सात बार बजाता है। सो प्रथम बार में 'सा' शब्द उत्पन्न होता है फिर क्रमशः रे, ग, म, प, ध, नि शब्द नाश रहित स्वर के समान वीतराग परिणति का उद्घाटन करते उत्पन्न होते हैं। कुल मिलाकर भाव यह निकला –

''सा...रे ग...म यानी
सभी प्रकार के दुःख
प...ध यानी पद—स्वभाव
और
नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म
नहीं हो सकता।'' (पृ० ३०५)

संसार के सारे गम अर्थात् दुख अपनी आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। मोहकर्म से प्रभावित आत्मा का स्वभाव से विपरीत परिणमन मात्र है।

यह आत्मा अनंत सुख स्वभाव वाली हैं। असातावेदनीय आदि कर्मों से आत्मा (संसारी जीव) दुख प्राप्त करता है पर–निमित्त से उत्पन्न होने वाला परिणाम किसी अपेक्षा अर्थात् निश्चय नय से अपने से भिन्न पराये ही हैं। इन सप्त स्वरों का भाव समझना ही सही संगीत में लीन होना और सही जीवन साथी को प्राप्त करना है।

१७. भाँति-भाँति के बोल

सप्त स्वरों को सुन सेवक विचार करता है कि कुम्भ में ऐसी आश्चर्य-जनक शक्ति स्वर कहाँ से आये ? सो कुम्भ बोलता है–यह सब शिल्पी की शिल्पकला, अत्यधिक मेहनत, दृढ़ संकल्प और निरंतर साधना, संस्कार का फल है। और सुनो मेरा शरीर जो कृष्णजी जैसा काला दिख रहा है, सो जलने के कारण नहीं, अपितु शिल्पी ने मेरे अंग-अंग पर स्याही पोत दी है, जो भाँति-भाँति के बोल खोल देती है। जैसे–वाद्यकला कुशल शिल्पी मृदंग के मुख पर स्याही लगा देता है और भिन्न-भिन्न स्वर सुनता है। पुद्गल और चेतन आत्मा के भेद को ये स्वर स्पष्ट प्रकट कर देते हैं, हाथ की गादी और मध्यम अँगुलि के संघर्ष-स्पर्श होने पर जैसे–

> ''**धा...धिन्...धिन्...धा...**
> **धा...धिन्...धिन्...धा...**
> **वेतन-भिन्ना, चेतन-भिन्ना,**
> **ता...तिन...तिन...ता...**
> **ता...तिन...तिन...ता...**
> **का तन...चिन्ता, का तन...चिन्ता ?**
> **घूँ...घूँ...यूँ! (पृ० ३०६)**

धन, पैसा, स्त्री आदि परिवार जन भिन्न/पृथक् हैं और मैं चेतन–आत्मा पृथक् हूँ। इसी प्रकार से सदा मेरे साथ रहने वाला शरीर भी मुझसे पृथक् स्वभाव वाला ही है, नश्वर है, कर्मों के अधीन है। फिर ऐसे जड़ स्वभावी शरीर की क्या ज्यादा चिन्ता करना ? इसका सदुपयोग करो, धर्मध्यान में, आत्मसाधना में लगा दो।

कुम्भ की आकृति, शिल्पी द्वारा निर्मित कुम्भ के चमत्कार को देख सेवक का मन मन्त्रित हुआ, तन कीलित-सा हुआ। वह विचारता है यदि चेतन के चित्-

चमत्कार से मिलन हो जाये तो अनादिकालीन करुण पुकार और मन की चिन्ता क्षण भर में नष्ट हो जायेगी। कहीं बाहर नहीं, किन्तु जैसे तालाब में उठने वाली तरंग तालाब में ही लीन हो जाती है।

१८. सम्मान दीपक का या ज्योति का

अच्छी तरह से जाँच-परख कर सेवक ने एक-दो छोटे, एक-दो बड़े कुम्भ चुन लिए और वह मूल्य के रूप में शिल्पी के हाथों में कुछ राशि देने का प्रयास करता है। सो कुम्भकार बोल पड़ा-

> **''आज दान का दिन है**
> **आदान-प्रदान लेन-देन का नहीं,**
> **समस्त दुर्दिनों का निवारक है यह**
> **प्रशस्त दिनों का प्रवेश-द्वार!'' (पृ॰ ३०७)**

आज लेन-देन का नहीं, किन्तु दान का दिन है, जो समस्त संकटों को, दरिद्रता को दूर करने वाला है, पुण्य-भाग्यशाली जीवन का प्रवेश द्वार। अनादिकाल से निज आत्मा को भूलकर शरीर में रमने वाले, धर्म को दूर कर धन में ही सुख मानने वाले हम लोगों को अब बाहरी सीप का नहीं, भीतरी मोती का, मात्र दीपक का नहीं, ज्योति का सम्मान करना है। इस संसार में रहते हुए भी अविनश्वर निज चेतना को अपने निकट लाकर उसमें ही लीन होने का पुरुषार्थ करना है हमें बस!

सोना-चाँदी या अन्य पदार्थ अणु भर हो या बहुत अधिक-सभी वस्तुओं का मूल्य होता है, किन्तु धन का अपने आप में क्या मूल्य ? कुछ भी नहीं। **मूलभूत पदार्थ ही मूल्यवान होता है। धन कोई मूलभूत वस्तु नहीं है।** उसका जीवन पराश्रित[१] होता है दूसरों के लिए, कल्पना से निर्धारित। इतना अवश्य है कि धन से वस्तुओं का मूल्यांकन किया जा सकता है। वह भी धनिकों की आवश्यकता पर आधारित है, कभी कम, कभी ज्यादा तो कभी सामान्य।

धनिक और निर्धन दोनों ही वस्तु के सही-सही मूल्य को स्वप्न में भी नहीं समझ पाते हैं। कारण कि धनहीन प्रायः दीन-हीन बनता है और धनिक धन के मद में डूबा होता है। जब शिल्पी ने राशि स्वीकार नहीं की, तब सेवक ने धन के बदले धन्यवाद दिया और कुम्भ को हाथ में ले सेठ के घर की ओर चल दिया सेवक सानन्द!

सेठ ने ज्यों ही हाथ में कुम्भ लिए सेवक को देखा, त्यों ही उच्च आसन से

---

१. पराश्रित = दूसरों पर आधारित।

उतरकर, प्रसन्नचित्त हो, सेवक के हाथ से कुम्भ, अपने हाथ में ले लिया तथा ताजे शीतल जल से उसे धोकर स्वच्छ किया। फिर बाँये हाथ में कुम्भ ले दाँये हाथ की अनामिका[१] द्वारा मलयाचल[२] के चंदन से स्वयं का प्रतीक स्वस्तिक लिखा। स्व (निज शुद्धात्मा) की उपलब्धि हो सबको, इसी भावना से। केसर मिश्रित चंदन की चार बिंदियाँ स्वस्तिक की चारों पाँखुरियों पर लगाता है। वह जो यह बताती हैं कि चारों गतियों में कहीं भी सुख नहीं है अर्थात् गतियाँ सुख से शून्य हैं। स्वस्तिक के ऊपर चन्द्र बिन्दु सहित ओंकार लिखा गया, जो योग (मन-वचन-काय) और उपयोग (आत्मा का परिणाम) की स्थिरता का साधन है। योगी साधक अपना ध्यान प्रायः इसी पर एकाग्र करते हैं।

१९. अतिथि की प्रतीक्षा में : सुसज्जित कलश

कुम्भ के कण्ठ में हल्दी की दो पतली रेखायें खींची गईं, जिनके बीच में कुमकुम लगाया गया। हल्दी, कुमकुम और केसर की महक से वातावरण भी आकर्षित और प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला बना। सुन्दर मुलायम हरे-हरे भोजन पचाने में सहायक चार-पाँच पान कुम्भ के मुख पर रखे गये। बीचोंबीच श्रीफल रखा गया, जिसमें हल्दी, कुमकुम छिड़के गये। अब वे पान खुले कमल की पाँखुड़ियों के समान शोभित हो रहे हैं।

इस अवसर पर श्रीफल कहता है पानों से-हमारा शरीर कठोर है और तुम्हारा नरम-मुलायम। संभव है यह कठोरता तुम्हें अच्छी न लगे, लेकिन इतना विचार करना कि आज तक स्पर्शन इन्द्रिय मुलायम तन-वसन-शयन को ही चाहती रही, सो संसार का ही कारण बना, किन्तु यह पथ संसार से विपरीत मोक्ष का है। यहाँ आत्मा की पराजय नहीं जीत है। इस मोक्षपथ[३] का सम्बन्ध तन से नहीं है। यहाँ तन गौण होता है, चेतन-प्राप्ति की चाह ही मुख्य है। इसलिए मृदुता और काठिन्य में समानता पाई जाती है यहाँ। और फिर यह तो देखो हमारा भीतरी भाग जितना मुलायम है, उतना मुलायम तुम्हारा उपरिल तन है क्या ? बस बाहर ही बाहर नहीं हमारे भीतर भी झाँको, क्योंकि-

''मृदुता और काठिन्य की सही पहचान
तन को नहीं,

---

१. अनामिका = मध्यमा (बीच की) और कनिष्ठका के बीच की अँगुली।

२. मलयाचल = मलय पर्वत, जो भारत के दक्षिण में है।

३. मोक्षपथ = संसार के दुखों से मुक्त होने का साधन

हृदय को छूकर होती है।'' (पृ० ३११)

कोमलता और कठोरता का वास्तविक परिचय शरीर को छूकर नहीं अपितु हृदय अंतःकरण को स्पर्श कर ही किया जा सकता है। श्रीफल की सारी जटायें दूर कर दी गईं है, सिर पर एक चोटी बस तनी/खड़ी है, जिस पर खिला-खुला एक गुलाब का महकता फूल सजाया गया है। प्रायः सबकी चोटी नीचे की ओर लटकती हुआ करती हैं, किन्तु श्रीफल की ऊपर उठी हुई होती है। लगता है इसीलिए श्रीफल के दान को मोक्ष देने वाला कहा गया है।

कुम्भ के गले में स्फटिक की माला पहनाई गई जो कहती है कि निर्विकार, स्फटिक के समान निर्मल, शुद्ध प्रभु का जाप करो। इस प्रकार से सजाये हुए माटी के मंगल कलश को अष्ट पहलुदार (अष्टकोणीय) चंदन की चौकी पर अतिथि के इंतजार में रख दिया गया।

तुलसी, सूर, कबीर, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द की काव्यकृतियों के समकक्ष यह महाकाव्य सम्प्रदायातीत ही नहीं, कालातीत है, अतः कालजयी है। मेरा मन्तव्य है कि 'मूकमाटी' जैसी अलौकिक कालजयी कविता मूल्यांकन के अभाव में कालसागर में विलुप्त न हो जाये, क्योंकि हिन्दूवाद या छद्म प्रगतिशीलता दोनों ही काव्यालोचन के सही प्रतिमान नहीं बन सकते।

प्रो० (डॉ०) देवव्रत जोशी

पूर्व प्राध्यापक-शासकीय महाविद्यालय, रतलाम (मध्यप्रदेश)

'मूकमाटी' एक प्रकार से आचार्य विद्यासागर के समग्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, अपने समय को नया विकल्प देने का प्रयत्न है।

डॉ० प्रेमशंकर

पूर्व आचार्य-हिन्दी विभाग,
डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश)

सोपान २२
दाता पात्र की मर्यादा

सेठजी द्वारा गृह चैत्यालय में जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा का अभिषेक, प्रक्षालन, अष्ट मंगल द्रव्य से पूजन, प्रयोजन, भव का किनारा। अतिथि चर्या का समय, दाताओं के बीच वार्ता, सेठ परिवार का अतिथि पड़गाहन हेतु कलश, श्रीफलादि लिए खड़े होना, अतिथि का दर्शन, जय-जयकार, पीछे छूटे प्रांगणों की दशा, पात्र द्वारा दाता की परख, दाता का एक गुण विवेक भी।

कुम्भ ने सेठ को सचेत किया। दाता-पात्र की समीक्षा, बादल दल विमल क्यों ? सेठजी का संयत होना, पात्र का प्रांगण में आना, रुकना, प्रदक्षिणा, नवधाभक्ति का सूत्रपात, पात्राभिषेक माटी के कुम्भ से, गन्धोदक मस्तक पर, पूजन, पंचांग-प्रमाण, आहार-जल ग्रहण की प्रार्थना।

दोनों हाथ धो-अर्हन्त भक्ति में डूबता सन्त, आसन पर खड़ा होना, क्षुधा की मीसांसा, इन्द्रियाँ खिड़कियाँ तो पुरुष भोक्ता। माटी के कुम्भ से जल देने पर पात्र की अँजुलि खुलना। श्रमण की वृत्ति गर्तपूरण, गोचरी, अग्निशामक, भ्रामरीवृत्ति सब वृत्तियों में महावृत्ति। कुम्भ और करों की परस्पर कृतज्ञता, पाणि-पात्र ही सत्पात्र।

२०. प्रयोजन : प्रभु पूजन का

पूर्व पुण्य के फलस्वरूप, धर्म की कृपा से सेठजी को जो मिला उस महाप्रासाद[१] के पंचम खण्ड में एक चैत्यालय स्थापित है। उसमें चाँदी के सिंहासन पर, कर्म रूपी धूल से रहित वीतरागी प्रभु की अतुलनीय रजत प्रतिमा[२] विराजमान है। प्रतिदिन के समान ही सेठ प्रभु की पूजन करने चैत्यालय जाता है। सबसे पहले रुचिपूर्वक उत्साह से प्रभु की वंदना करता है। फिर प्रतिमा का अभिषेक[३] किया। पश्चात् जो स्वयं निर्मल है एवं दूसरों की निर्मलता का कारण बनता है, ऐसे गंधोदक को सेठजी ने विनयपूर्वक आनंद से अपने उत्तमांग (सिर) पर लगा लिया।

---

१. महाप्रासाद = विशाल भवन।

२. रजत प्रतिमा = चाँदी की प्रतिमा।

३. अभिषेक = शुद्ध जल की धारा प्रतिमा पर छोड़ना।

फिर जल से हाथ धोकर, स्वच्छ (साफ-सुथरे) श्वेत वस्त्र से प्रतिमा का प्रक्षालन किया। तत्पश्चात्–

"पाप-पाखण्डों से
परिग्रह-खण्डों से
मुक्त असंपृक्त
त्यागी वीतरागी की पूजा की
अष्ट मंगल द्रव्य ले
भाव-भक्ति से चाव-शक्ति से
सांसारिक किसी प्रलोभनवश नहीं,
प्रयोजन बस, बन्धन से मुक्ति!
भवसागर का कूल...किनारा।" (पृ० ३१२-३१३)

पाप-प्रपंचों से दूर, पूर्णतः अपरिग्रही, अलिप्त, वीतरागी प्रभु की जल चन्दनादि अष्ट द्रव्य[१] ले भाव-भक्ति से, यथाशक्ति उत्साह को प्रदर्शित करते हुए पूजा की। **पूजा का प्रयोजन किसी सांसारिक वस्तु की प्राप्ति नहीं, अपितु संसार सागर का किनारा, भव बंधन से मुक्ति मिले बस।**

२१. चर्चा : दाताओं के बीच की

इधर खेल-खेलती बालिकाओं द्वारा प्रांगण में सुन्दर चौक (रंगोली) पूरा गया। अतिथि के आगमन का समय निकट ही आ चुका है। सभी दाताओं के बीच इसी बात की चर्चा चल रही है। नगर के प्रतिमार्ग में आमने-सामने, अड़ोस-पड़ोस में, अपने-अपने प्रांगण में दाताओं की दूर-दूर तक लाइन (पंक्तियाँ) लगी हैं। प्रति प्रांगण में दाता प्रायः अपनी धर्मपत्नी के साथ खड़ा है। सबकी भावना और प्रभु से प्रार्थना है कि अतिथि का आहार निर्विघ्न हो और वह हमारे यहाँ हो बस!

सेठ भी पूजन कार्य से निवृत्त हो हाथ में माटी का कुम्भ ले प्रांगण में पड़गाहन हेतु खड़ा हो जाता है। शेष परिवार जन भी कोई चाँदी का कलश ले, कोई हाथ जोड़े, ताँबे का कलश ले, पीतल का कलश ले, आमफल ले, सीताफल ले, रामफल ले, जामफल ले, कलश पर कलश ले, सिर पर कलश, हाथ में केला, कोई अकेला, खाली हाथ तो कोई थाली साथ ले इत्यादि अनेक प्रकार से विधियाँ बनाये पड़गाहन के लिए खड़े हैं। विशेष बात यह है कि सभी के मस्तक पात्र के प्रति नम्रीभूत हैं और बार-बार दूर-दूर तक देखते हुए अतिथि की प्रतीक्षा

---

१. अष्ट द्रव्य = जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल।

कर रहे हैं।

प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई। लो सामने से आते हुए अतिथि का दर्शन हुआ कि दाताओं के मुख से जयकार की ध्वनि निकल पड़ी। अनियत विहार[१] वालों की, नियमित विचार वालों की, शान्त मन वाले सन्तों की, गुणवन्तों की, सौम्य-शांत छवि वालों की जय हो! जय हो! जय हो!

पक्षपात से दूर रहने वालों की, तुरन्त जन्मे बालक के समान निर्विकार यति वीरों की, दया धर्म को धारण करने वालों की, समता-धन रखने वाले धनिकों की जय हो! जय हो! जय हो! भवसागर के तट स्वरूपों की, शिवनगरी के शिखरों की, सहनशील-धैर्यवानों की, कर्ममल को धोने के लिए जल के समान ऐसे मुनियों की जय हो! जय हो! जय हो!

अतिथि का निकट ही आना हुआ तथा कई प्रांगण अतिथि पार कर चुका। कदम आगे ही बढ़ते जा रहे हैं कि पीछे छूटे प्रांगण के दाताओं के मुख का तेज-उत्साह नष्ट-सा हो गया, जैसे सूरज ढलने पर कमल म्लान-मुखी हो जाता है। फिर भी पात्र पुनः लौटकर भी आ सकता है, इतनी आशा बस जगी है उसमें और फिर सूर्य (पात्र) कल भी तो आ सकता है, आता ही है, परन्तु पूर्व से पश्चिम की ओर गये सूर्य की भाँति, पात्र मुड़कर आना तो दूर पलटकर भी नहीं देखता है। बिजली की चमक की भाँति पात्र, शीघ्रता से दाताओं, विधि-द्रव्यों की पहचान कर लेता है, पता भी नहीं चलता।

---

१. अनियत विहार = जिनके गमन-आगमन की तिथि, स्थान आदि निश्चित न हो।

२२. दयनीय शब्द : दाता के

इसी बीच एक दाता बोल पड़ा। पात्र का प्रांगण में आना और फिर बिना भोजन–पान पाये लौट जाना, घनी पीड़ा होती है दाता को, किन्तु तुरन्त ही सन्तों के वचन याद आये–

''परम–पुण्य के परमोदय से
पात्र–दान का लाभ होता है।'' (पृ० ३१६)

पूर्वोपार्जित विशेष पुण्य का उदय होने पर पात्र–दान का योग बनता है। हमारे पुण्य का उदय तो है किन्तु अनुपात से पर्याप्त पतला अर्थात् कम लगता है और फिर दुर्लभता इसी को तो कहते हैं। कुछ दाता तो मूक हुए कीलित (स्थिर किए हुए) से खड़े रह गये। कुछ विधि ही भूल गये। आकुल–व्याकुल हो कपाल पर बार–बार हाथ लगाते हैं, मानो प्रतिकूल भाग्य को डाँट रहे हों।

एक दाता ने तो सहज भाव से कह दिया कि महाराज! विधि नहीं मिली तो न सही, कम से कम हमारी ओर अच्छे से देख तो लेते। हम इसी में संतोष कर लेते।

''दाता के कई गुण होते हैं
उनमें एक गुण विवेक भी होता है।'' (पृ० ३१७)

किन्तु एक दाता ने विवेक ही खो दिया और पात्र के निकट मार्ग में ही पहुँच अति दयनीय शब्दों में कहने लगा। हे महाराज! इस जीवन में आज तक इसे पात्र–दान का सौभाग्य नहीं मिला। कई बार पात्र मिले, किन्तु भाव नहीं बने। आज भावना बलवती (मजबूत) हुई। फिर भी दर्शन हो, चरण–स्पर्श का मौका नहीं, चरण छूने मिले किन्तु आहारदान का सौभाग्य नहीं। क्या भावना अधूरी ही रहेगी ? हे भगवन्! आज का आहार हमारे यहाँ हो बस! इस प्रसंग में यदि कोई दोष लगेगा तो मुझे ही लगेगा आपको नहीं स्वामिन्, हे कृपासागर! कृपा करो अब दया करो, देर नहीं।

दाता की भावुकता पर मन्द मुस्कान ले मौनधारी मुनि चार हाथ जमीन देखता हुआ आगे बढ़ जाता है। तब तक दाता के मुख से पुनः निराशा मिश्रित पंक्तियाँ निकलीं–

''दाँत मिले तो चने नहीं,
चने मिले तो दाँत नहीं,
और दोनों मिले तो...
पचाने को आँत नहीं...!'' (पृ० ३१८)

अर्थात् जब पात्र मिले थे तब भाव नहीं बने। अब भाव बने तो पात्र-लाभ नहीं और जब दोनों मिले तो दान के योग्य पुण्य नहीं रहा अथवा कमजोर पड़ गया।

२३. अधर में दोनों : दाता और पात्र

इस प्रकार दाताओं की भिन्न-भिन्न दशाओं को देख कुम्भ ने सेठ को सचेत किया कि यही दशा हमारी भी हो सकती है। दान के समय विवेक कभी नहीं भूलना चाहिए। पात्र के सन्मुख विनय-अनुनय से प्रार्थना हो, किन्तु अतिरेक-अधिकता नहीं। मन-वचन-काय से लघुता, नम्रता प्रकट हो, किन्तु उदासता नहीं। **होठों पर मन्द-मन्द मुस्कान तो हो, किन्तु हँसी-मजाक नहीं। दान के प्रति उत्साह, उमंग हो पर जल्दबाजी नहीं।** दान के समय विनय की सुगंध, मधुरता तो झरे (प्रकट हो) किन्तु दीनता नहीं होनी चाहिए।

इसी संदर्भ में स्वीकारने योग्य, विद्वानों के द्वारा स्तुत (स्वीकृत) एक कविता प्रस्तुत है जो सन्तों के मुख से सुनी थी—सूरज की गरमी से तपी धरती को प्यास लगी है, जल पीने की इच्छा है। अतः धरती ने अपना मुख खोल रखा है (जगह जगह दरारें पड़ चुकी हैं) किन्तु धरती भी कृत संकल्पित है कि दाता का विशेष इंतजार नहीं करना और न ही अच्छी-बुरी मीमांसा तथा अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र भी नहीं जाना है। कारण—

''पात्र की दीनता
निरभिमान दाता में
मान का आविर्माण कराती है
पाप की पालड़ी फिर
भारी पड़ती है वह,
और
स्वतन्त्र-स्वाभिमान पात्र में
परतन्त्रता आ ही जाती है।'' (पृ॰ ३२०)

पात्र यदि दीन-हीन बनता है तो घमंड से रहित दाता में भी मान उत्पन्न हो जाता है, जिससे दाता को पुण्य के स्थान पर पाप का बन्ध होने लगता है और सिंह वृत्ति के धारक स्वतन्त्र, स्वाभिमानी पात्र में भी पराधीनता आने लगती है। इससे दाता और पात्र दोनों अपने-अपने कर्त्तव्य से दूर खिसकते जाते हैं, जिसका फल दोनों ही अधर में लटके रह जाते हैं। अर्थात् दाता दान के समीचीन फल को उपलब्ध नहीं कर पाता एवं पात्र असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा[१] के साधन रूप एषणा

१. निर्जरा = कर्मों का एकदेश (थोड़ा-थोड़ा) झड़ना/नष्ट होना।

समिति[1] का निर्दोष पालन नहीं कर पाता।

तभी तो पाप को पुण्य में बदलने सत्-पात्र की खोज में निकले काले-काले बादल, पृथ्वी रूपी पात्र को प्राप्त कर गड़गड़ाहट ध्वनि करते, उसके चरणों में मूसलाधार वर्षा करते हैं। फिर पृथ्वी ने भी सहज रूप से बादल की कालिमा को धो डाला। अन्यथा वर्षा के बाद बादल समूह चाँदी जैसे स्वच्छ दिखाई पड़ते हैं, क्यों?

२४. नवधाभक्ति : दाता द्वारा

कुम्भ के मुख से कम शब्दों में सारभूत कविता सुनी। सुनते ही दाता और पात्र का यथार्थ स्वरूप समझ में आया। सेठजी की आँखें खुलीं, सभी भ्रमों को छोड़, स्वयं को संयमित किया सेठ ने। आते हुए पात्र को लगा कोई विशेष पुण्य का फल उनके पदों को आगे बढ़ने से रोक रहा है, अपनी ओर खींच रहा है। और सेठ ने प्रांगण की ओर धीरे-धीरे आते कदमों को देखा सेठ जागृत हो, श्रद्धा सहित, न बिल्कुल धीरे, न बहुत तेज किन्तु मध्यम स्वरों में आगन्तुक का स्वागत शुरू करता हुआ कहने लगा–

''भो स्वामिन्!
नमोऽस्तु! नमोऽस्तु! नमोऽस्तु!
अत्र! अत्र! अत्र!
तिष्ठ! तिष्ठ! तिष्ठ!'' (पृ० ३२२)

हे स्वामिन् ! नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु ! यहाँ ठहरिये ! यहाँ ठहरिये! यहाँ ठहरिये ! दो-तीन बार इन स्वागत स्वरों को दोहराया गया। साथ ही साथ सेठ के कर्ण कुण्डल भी धीमे-धीमे हिलते हुए अतिथि को सादर बुला रहे हैं। अभय-प्रदाता अतिथि आकुलता, चंचलता रहित सेठजी के प्रांगण में आ रुकता है।

धन्य भाग्य मानता हुआ सेठ पत्नी एवं परिवार सहित अतिथि को दायीं ओर ले, दो-तीन हाथ की दूरी से पात्र की परिक्रमा लगाता है। यह दृश्य ऐसा लग रहा है मानो ग्रह-नक्षत्र-ताराओं सहित सूर्य-चन्द्रमा सुमेरु पर्वत की ही परिक्रमा[2] लगा रहे हों। जीवदया पालन करते हुए परिवार ने तीन परिक्रमा पूर्ण कीं। फिर नवधा

---

१. एषणा समिति = दिन में एक बार शुद्ध निर्दोष आहार लेना।

२. परिक्रमा = चारों ओर घूमना, चक्कर लगाना।

भक्ति[1] का प्रारम्भ होता है। मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि और आहार-जल शुद्ध है, पधारिये स्वामिन्! मम गृह, भोजनशाला में प्रवेश कीजिए, कहता हुआ बिना पीठ दिखाए आगे होता है पूरा परिवार।

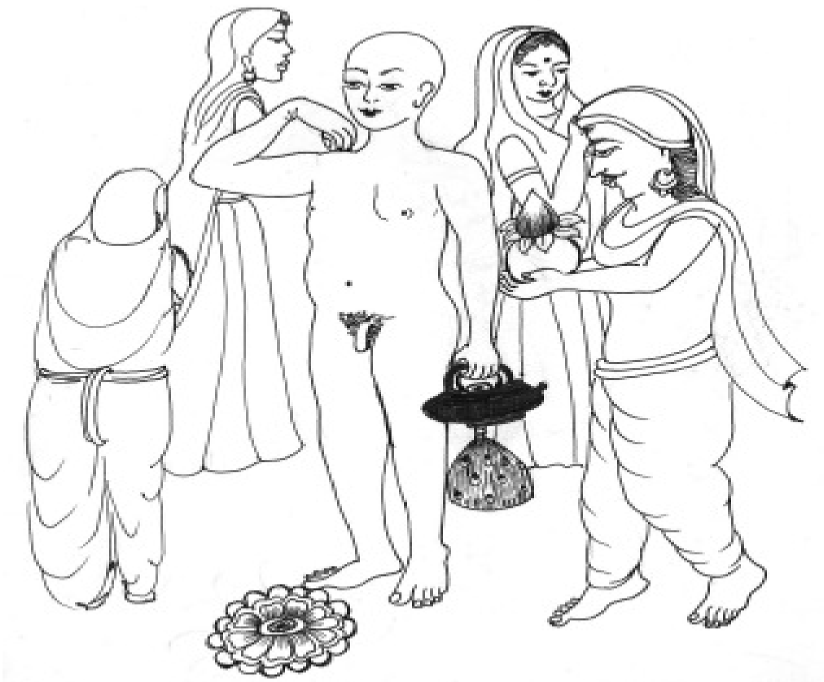

घर के भीतर पात्र के प्रवेश होने के पश्चात् आसन शुद्धि बताता हुआ उच्चासन पर बैठने की प्रार्थना करता है सेठ। पात्र का आसन पर बैठना हुआ, चरणाभिषेक हेतु पात्र से निवेदन किया गया, स्वीकृति मिली। पलाश पुष्प के समान रंगीन[2], अविरति (पाप) से भयभीत श्रमण के दोनों चरण-तल चाँदी के थाल पर रखे जाते हैं। गुरु के प्रति अनुराग व्यक्त करता हुआ रजत थाल भी कुमकुम- सम शुद्ध स्वर्ण-सा लाल बनता है। छानना, तपाये हुए समशीतोष्ण जल से भरे कलश को, दाता हाथ में ले, पात्र के पदों का अभिषेक करता है। झुके हुए

---

१. नवधा भक्ति = मुनियों के आहार के समय की जाने वाली नौ प्रकार की विनय-
१. पड़गाहन, २. उच्चासन, ३. पाद-प्रक्षालन, ४. पूजन, ५. नमोऽस्तु, ६. मनः शुद्धि, ७. वचन शुद्धि, ८. काय शुद्धि, ९. आहार-जल शुद्धि।

२. पलाश पुष्प का रंग पीले-लाल के मिश्रण सदृश, प्रातःकालीन सूर्यवत् होता है।

कुम्भ ने काम–वासना, मान–घमण्ड से दूर गुरु महाराज के चरणों की अँगुलियों के नख रूप दर्पण में अपना दर्शन किया और धन्य–धन्य, जय–जय गुरुदेव की, जय–जय इस घड़ी की कह उठा।

अतीत में अनुभूत पथ की पीड़ाएँ, कष्ट का वेदन, बचा–खुचा मन का मैल सब दूर हुआ। भावना साकार हुई। अपना सब कुछ गुरु–चरण में अर्पण किया।

''शरण, चरण हैं आपके,
तारण–तरण जहाज,
भव–दधि तट तक ले चलो
करुणाकर गुरुराज!' (पृ० ३२५)

संसार से पार लगाने वाले गुरु महाराज का गुणगान करते हुए, समस्त विघ्नों को नष्ट करने वाला, वैभव–सम्पन्नता को देने वाला (पाद) अभिषेक पूर्ण हुआ और स्वच्छ वस्त्र से पैरों का प्रक्षालन (पोंछना) भी। सेठ ने परिवार सहित गन्धोदक अपने मस्तक पर लगाया।

इसी क्रम में आगे विधि के अनुसार, योग्य मात्रा में जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इत्यादि अष्ट द्रव्य से स्थापना पूर्वक पूजन कार्य पूर्णकर, पंचांग नमस्कार करता हुआ नमोऽस्तु...नमोऽस्तु...नमोऽस्तु निवेदित करता है सेठ परिवार। पुनः दोनों हाथों को जोड़ पूरा परिवार पात्र से प्रार्थना करता है कि हे स्वामिन्! अँजुलि–मुद्रा छोड़कर आहार ग्रहण कीजिए। पात्र ने भी दान–विधि में कुशल दाता को जान, अंजुलि–मुद्रा छोड़ दोनों हाथों को स्वच्छ उष्ण जल से धो लिया। और वह नासाग्रदृष्टि करता हुआ अर्हन्तों की भक्ति में डूबता है अर्थात् कायोत्सर्ग[१] करता है वह महामना! कैसे हैं वे अर्हन्त प्रभु ? सो बताया जाता है।

अरिहन्त प्रभु मोह से रहित, राग रूप माया–लोभ एवं द्वेष रूप क्रोध–मान कषायमय भावों से दूर हैं। जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, क्षुधा, प्यास, मद, आश्चर्य, भय, निद्रा, पसीना, खेद आदि अठारह दोषों से रहित हैं। जिनमें अनन्त बल, अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन प्रकट हुए हैं। प्रभु सदा शोक से रहित अशोक हैं, सभी चिन्ताओं से दूर, एकाकी, परिग्रह और परिजन से रहित हैं।

२५. भूख : तन और मन की

श्रमण का कायोत्सर्ग पूर्ण हुआ कि श्रावक द्वारा दिए गये उच्चासन पर दोनों एड़ियों में चार अँगुल तथा पंजों के बीच ग्यारह अँगुल का अंतर दे खड़ा हो जाता

१. कायोत्सर्ग = शरीर से ममत्व का त्याग कर णमोकार मन्त्र का जाप करना।

है अतिथि वह। खड़े होकर भोजन करने का ही मात्र नहीं, अपितु एक ही बार भोजन करने का भी नियम है इनका। पात्र ने अपने दोनों हाथों को पात्र बना, दाता के सम्मुख-आगे बढ़ाया। श्रमण की यह भिक्षावृत्ति मन को मान-शिखर से नीचे लाने वाली अर्थात् मान कषाय को कम करने वाली है, यूँ कहती हुई लेखनी क्षुधा यानी भूख की मीमांसा करती है–

''भूख दो प्रकार की होती है
एक तन की, एक मन की।
तन की तनिक है, प्राकृतिक भी,
मन की मन जाने
कितना प्रमाण है उसका ?
वैकारिक जो रही,
वह भूख ही क्या, भूत है भयंकर,
जिसका सम्बन्ध भूतकाल से ही नहीं,
अभूत से भी है !'' (पृ० ३२८)

शरीर और मन की–इस तरह दो प्रकार की भूख देखी जाती है। इसमें शरीर की भूख तो थोड़ी-सी होती है जो स्वभाविक है, किन्तु मन की कितनी भूख है यह मन ही जान सकता है, कारण कि अपने ही विकारी भावों से उत्पन्न होने वाली जो रही। यह भूख ही भयानक भूत के समान कष्ट देने वाली है। तीन लोक की सम्पदा पाकर भी मिटती नहीं। मात्र अतीत काल से ही नहीं, किन्तु भविष्य से भी इसका सम्बन्ध है। यही कारण है कि आज तक यह संसारी प्राणी स्व-तत्त्व को उपलब्ध कर सुखी नहीं हो पाया है।

जहाँ तक इन्द्रियों की बात है तो बाहर से भले ही लगता है कि इन्द्रियाँ विषयों को चाहती हैं, किन्तु ऐसा है नहीं। कारण की इन्द्रियाँ[१] जड़ हैं और जड़ का उपादान भी संवेदन शून्य जड़ ही होता है। इतना अवश्य है कि इन्द्रियों के माध्यम से विषय रसिक भोक्ता पुरुष विषयों की चाह करता है। वस्तु स्थिति यह है–

''इन्द्रियाँ ये खिड़कियाँ हैं
तन यह भवन रहा है,

---

१. इन्द्रियाँ = संसारी जीव की पहचान के चिह्न को इन्द्रिय कहते है। वे पाँच होती है–स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण। ये क्रमशः छूकर, चखकर, सूँघकर, देखकर एवं सुनकर विषयों को ग्रहण करती हैं।।

भवन में बैठा-बैठा पुरुष
भिन्न-भिन्न खिड़कियों से झाँकता है
वासना की आँखों से
और
विषयों को ग्रहण करता रहता है।'' (पृ० ३२९)

विषयों को ग्रहण करने की इच्छा रखने वाला चेतन-आत्मा, इस शरीर रूपी भवन में बैठा हुआ इन्द्रिय रूपी खिड़कियों से विषयों को ग्रहण करता रहता है। वास्तव में देखा जाय तो पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को चाहती ही नहीं हैं और इन्द्रियों के विषय भी कभी यह नहीं कहते कि तुम हमें चखो, हमें छुओ, हमें सूँघों, हमें देखो और हमें सुनो। क्योंकि मधुरादि रस, शीतादि स्पर्श, सुरभि आदि गंध, पीतादि वर्ण और सा रे ग म इत्यादि शुभ-अशुभ शब्द—ये सब जड़ स्वभाव वाले, पुद्गल से उत्पन्न हैं।

इससे यही निर्णय निकला कि मोहकर्म और असातावेदनीय के उदय में क्षुधा-तृषा की वेदना होती है। मात्र इतना जानना ही पर्याप्त नहीं, किन्तु **साधुता के लिए पञ्चेन्द्रियों के इष्ट और अनिष्ट विषयों में समता परिणाम होना भी अनिवार्य है** और यह समता भाव ही श्रमणों का शृंगार है।

२६. महावृत्ति : श्रमण की

पात्र को दान देने का कार्य प्रारम्भ किया गया। सो सर्वप्रथम कर-पात्र में प्रासुक जल देने हेतु कलश बढ़ाया गया, किन्तु पात्र ने अंजुलि बंद कर ली। फिर तुरन्त दूध से भरा स्वर्ण कलश आगे लाया गया, फिर भी अंजुलि न खुली। तीसरे ने मधुर इक्षुरस से भरा रजत कलश दिखाया। चौथे ने अनार के लाल रस से भरी स्फटिक की झारी दिखाई किन्तु अंजुलि न खुली तो विवश होकर स्फटिक झारी भी निराशा में डूब गई।

अधिक देर होने से पात्र अन्तराय मानकर बैठ सकता है, बिना आहार-पान लिए वापस लौट सकता है—ऐसा भय परिवार के मुख पर छाने लगा कि मन ही मन भगवान् को याद करते हुए, धैर्य के साथ सेठजी ने माटी के कुम्भ को आगे बढ़ाया सो अतिथि की अंजुलि खुल पड़ी। जैसे स्वाति नक्षत्र में जल की उज्ज्वल बूँद को देखते ही सागर की छाती पर तैरती सीप अपना मुख खोलती है।

चार-पाँच अंजुलि जलपान किया, फिर इक्षु रस का सेवन। फिर जो कुछ भी मिलता गया, बिना किसी आकुलता के सहज भाव से चलता गया। वह भी

बिना माँगे, बिना संकेत। जब चाहे, मन चाहे नहीं और फिर जब भूख लगी हो तो कैसा भी भोजन हो, रसदार या रूखा-सूखा सब समान लगता है। जैसे एक बर्तन से दूसरे बर्तन में भोजन जाते समय बर्तन में कोई परिवर्तन नहीं होता, न ही कोई बर्तन रोता है और न ही कोई हँसता है, यूँ ही साम्य यहाँ चल रहा है–

''धन्य ! धन्य है यह नर
और यह नर-तन
सब तनों में, 'वर'–तन!'' (पृ० ३३२)

सभी देहधारियों में श्रेष्ठ यह मनुष्य का तन ही है जिसके द्वारा इस प्रकार समता की साधना की जा सकती है। धन्य! धन्य है यह अतिथि और अतिथि का तन, श्रेष्ठ तन! सभी तनों में वर-तन।

श्रमणों की अनेक वृत्तियाँ हुआ करती हैं, जिनमें अध्यात्म की झलक देखने मिलती है, जो इन कानों से सुनी थी। जो आज पास, बहुत पास से देखने को मिली हैं, सो इस प्रकार है–कृषक बीज बोने के पूर्व खेत की भूमि को कूड़ा-कचरा आदि डालकर गड्ढे को पूरा समतल बनाता है, उसी प्रकार पेट रूपी गड्ढे को भरना गर्तपूरण-वृत्ति है समताधर्मी श्रमण की। गाय के सामने घास-फूस डाला जाय तो डालने वाले के आभरण-आभूषणों, अंग-उपांगों को वह नहीं देखती। बस ऐसी ही आहार के समय प्रवृत्ति होना साधु की गोचरी-वृत्ति है।

घर में आग लगी हो तो खारा, मीठा, ठंडा, गरम जैसा मिले वैसा ही जल डालकर आग को बुझाया जाता है। उसी प्रकार पेट में भूख रूपी आग को बुझाते

समय रसादि, ठंडे-गरम का विकल्प नहीं करना सब वृत्तियों में महावृत्ति अग्निशामक-वृत्ति है श्रमणों की। जैसे भौंरा फूलों को बिना पीड़ा पहुँचाये उनका रस पीता है, उसी प्रकार दाता को कष्ट न हो अपितु दाता दान देकर प्रसन्नता से भर जाये, उसका अज्ञान अन्धकार मिट जाये ऐसी प्रवृत्ति सन्तों की भ्रामरी-वृत्ति कहलाती है। इन वृत्तियों को देखने का परिणाम यह हुआ की पूरा का पूरा परिवार अपार आनंद से भर उठा।

२७. पाणिपात्र ही : उत्तम पात्र

सेठ के गौर वर्ण वाले दोनों हाथों के मध्य माटी का कुम्भ, सोने के आभूषण में जड़े नीलम-सा सुशोभित हो रहा है। इसी बीच कुम्भ और करों की वार्ता चलती है आपस में। एक-दूसरे की प्रशंसा रूप में, सो कुम्भ ने करों से कहा–तुमने हमें ऊपर उठा बड़ा उपकार किया और इस शुभ कार्य में सहयोगी बनने का मुझे सौभाग्य मिला। इस पर तुरन्त करों ने भी कहा–यह तुम्हारी ही भक्ति-भावना का फल है। जो कुछ है वह तुम्हारा ही उपकार है। तुम्हारे बिना यह कार्य संभव ही नहीं था। हम तो ऊपर से निमित्त मात्र बने।

ऊपरी चर्चा को सुनता हुआ नीचे से पात्र का कर पात्र कहता है–

''पात्र के बिना कभी
पानी का जीवन टिक नहीं सकता,
और
पात्र के बिना कभी
प्राणी का जीवन टिक नहीं सकता
परन्तु
पात्र से पानी पीने वाला
उत्तम पात्र हो नहीं सकता,
पाणि-पात्र ही परमोत्तम माना है,
पात्र भी परिग्रह है ना !'' (पृ० ३३५)

बर्तन रूपी आधार के बिना पानी ठहर नहीं सकता और श्रमण आदि सत्-पात्र यानी पात्र-दान के बिना संसारी प्राणियों, मनुष्यों का जीवन उज्ज्वल / उन्नत बन नहीं सकता। परन्तु इतना जरूर ध्यान रहे कि कटोरे-थाली आदि पात्रों में भोजन करने वाला, पानी पीने वाला कभी भी उत्तम पात्र हो नहीं सकता, क्योंकि संतों ने पाणिपात्र (दोनों हाथों की हथेलियों को जोड़कर बनाया गया पात्र) को ही

उत्तम से उत्तम माना हैं। कारण, अन्य पात्र भी परिग्रह ही हैं ना!

और दूसरी बात यह है कि अतिथि के बिना तिथियों में पूज्यता आ नहीं सकती। कारण, अतिथि ही तो तिथियों को शुद्ध बनाने वाला, प्रसिद्ध करने वाला सम्पादक है। जैसे, आदिनाथ प्रभु को जिस दिन आहार मिला वह तिथि आज तक अक्षय तृतीया (आखा तीज) के रूप में प्रसिद्ध है। इस दिन सारे शुभ कार्य बिना मुहूर्त के भी सानन्द सम्पन्न किए जा सकते हैं। फिर भी **अतिथि तिथियों के बन्धन में नहीं बँधता। इनके बंधन में बँधना भी चारों गतियों में भटकना ही है।** कथंचित् यतियों, मुनियों द्वारा प्रतिपादित संयम, आगम की मर्यादा में बँधना ही, निज के रंग में रंगना–लीन होना है। इस प्रकार सत्पात्र की मीमांसा चलती रही।

हिन्दी के तीन अमर महाकाव्यों–'पदमावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' की उज्ज्वल परम्परा में एक महाकाव्य और आ जुड़ा है और वह है 'मूकमाटी'।

डॉ॰ सरजूप्रसाद मिश्र

पूर्व अध्यक्ष–हिन्दी विभाग, इस्माइल युसुफ कॉलेज, जोगेश्वरी (पूर्व) मुम्बई

सोपान २३
वैरागी हुआ सेठजी का मन

आहार-दान चल रहा है। सेठजी के वस्त्राभूषणों द्वारा पात्र के अंगोपांग से तुलना-अहंकार का पोषक। बच्चों द्वारा झाँकने का प्रयास, असंयमी का काम, सर को कसकर बाँधा, पर बाहर निकली लट कहती है, पात्र से—मुझे क्यों बन्धन में डालते ? सानन्द सम्पन्न आहार-दान पुनः परम तत्त्व में लीन साधक, संयमोपकरण कर-कमलों में, कमण्डलु में प्रासुक जल अतिथि दर्शन हेतु आँगन में अड़ोस-पड़ोस की जनता का आना एवं सेठ द्वारा उपदेश देने की प्रार्थना अतिथि से, पात्र के मुख से निकले कुछ शब्द और उपवन की ओर विहार, पीठ दर्शकों की ओर।

सेठ कमण्डलु ले, श्रमण के पीछे-पीछे चलता हुआ नसियाँ जी में पहुँचता है। गुरु चरणों को छोड़ वापस घर लौटने का उपक्रम, सेठ की आँखों में आँसू भर आते हैं, मन की शंका-प्रश्नावली गुरु सम्मुख कहता है—गुरु की गम्भीरता रहस्योद्घाटन करती है। नियति और पुरुषार्थ का सही स्वरूप जानकर भी उदासीन भावों के साथ ढलान में लुढ़कते-ढुलकते पाषाण खण्ड की भाँति घर पहुँचता है सेठ।

२८. उलझन में उलझे : कुण्डल

इधर बिना किसी बाधा के आहार-दान चल रहा है। सेठ भावना भा रहा है कि यह कार्य ऐसा ही सानंद-सम्पन्न भी हो। सेठ के कन्धों से नीचे की ओर लटकते उत्तरीय वस्त्र की छोर ऐसी लग रही है मानो कुम्भ की नीलिमा (नीले रंग की आभा) से पराजित हुई लज्जा का अनुभव करती धरती में ही छुपी जा रही है। सेठ के दायें हाथ की मध्यमा अँगुलि में स्वर्ण निर्मित अँगूठी है। उसमें लगा माणिक रत्न, श्रमण के लाल-लाल होठों से बार-बार अपनी तुलना करता है और अन्त में हार मानकर अतिथि के पद-तलों को छूता-सा प्रतीत हो रहा है। ठीक ही है—**पूज्य पुरुषों की पूजा से ही मनवांछित फल की प्राप्ति संभव है।** इसी प्रकार सेठ के बायें हाथ के तर्जनी की मुद्रा में लगी मुक्ता भी कर-पात्री के नखों की चमक देख पीड़ा का अनुभव कर दुखी हो, ज्वरग्रस्त-सी लग रही है। यही कारण लगता है उसकी काया रक्त रहित सफेद बनी है।

सेठ के दोनों कानों के कुण्डल भी पात्र के मांसल, गोल-गोल सुन्दर गालों

से अपनी तुलना कर रहे हैं कि इन गालों की कान्ति में और हममें इतना अन्तर क्यों? किससे पूछें ? कैसे पूछें ? तभी उलझन में उलझे कुण्डलों को मिलता है कपोलों (गालों) का उद्बोधन–तुम्हें देखते ही दर्शकों के मन में राग-भाव पैदा होता है तो हमें देखते ही वात्सल्य भाव उमड़ता है। रागी भी कुछ पल के लिए विरागता (वैराग्य) में खो जाता है। हमारे भीतर स्थित वात्सल्य-भाव वैरियों के पाषाण हृदय को भी फूल के समान मृदु मुलायम बना देता है। हममें अनमोल बोल/वचन पलते हैं जबकि तुममें केवल पोल यानी खालीपन ही मिलता है। एक बात और है–

''विकसित या विकास-शील
जीवन भी क्यों न हो,
कितने भी उज्ज्वल-गुण क्यों न हों,
पर से स्व की तुलना करना
पराभव का कारण है
दीनता का प्रतीक भी।'' (पृ० ३३९)

जीवन पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुका हो अथवा होने वाला हो, तथा अपने पास कितने भी अच्छे-अच्छे गुण क्यों न हों–औरों से अपनी तुलना करना –हार का, अपने सुख के विनाश का कारण बनता है और यह कार्य दीनता का प्रतीक भी है।

तुलना की क्रिया ही एक रूप से स्पर्धा है। स्पर्धा में जीवन आधा हो जाता है। और स्पर्धा के कारण ही सूक्ष्म अहंकार की सत्ता भी जाग जाती है, फिर जीवन में संतोष कहाँ ? संतोष रहित जीवन दोष पूर्ण ही माना जाता है।

यही कारण है कि प्रशंसा, यश की चाह रूपी आग में झुलसा सदोष जीवन सहज, सुखद गुणों की छाँव को प्राप्त नहीं कर पाता है। वैसे 'स्वयं' शब्द ही यह कह रहा है कि स्व यानी सम्पदा है, स्व ही विधि का विधान अर्थात् भाग्य की रेखा है और 'स्व' ही सुख का अनमोल खजाना है। **स्वयं को प्राप्त करना ही संसार की संपूर्ण उपलब्धियों को पाना है, फिर अतुलनीय निज की तुलना पर से क्यों** ? यूँ कपोलों से अपनी पोल खुलती देख स्वर्ण के कुण्डल भी कान्तिहीन हो गये।

सेठ ने पीले वस्त्र पहने हैं, जिस पहनाव में उसका मुख गुलाब के जैसा खिल रहा है। मन्द-मन्द बहते पवन के प्रभाव से लहराते हुए पीले दुपट्टे में कुम्भ

की नीलम छवि तैर रही थी, सो ऐसा लग रहा है कि पीताम्बर दुपट्टे की पीलिमा यानी पीली-पीली आभा कुम्भ की नीलिमा को पीने हेतु उतावली (जल्दबाजी) कर रही हो।

२९. मनमाना मन : असंयमी का

इधर घर के सब छोटे बच्चे-बच्चियों को भीतर रहने की आज्ञा मिली है और चुपचाप बैठने को बाध्य किया गया है। फिर भी बीच-बीच में चौखट के भीतर या खिड़कियों से एक दूसरे को आगे-पीछे कर बाहर झाँकने का प्रयास चल रहा है। सच ही है—

> **''सीमा में रहना असंयमी का काम नहीं,**
> **जितना मना किया जाता**
> **उतना मनमाना होता है**
> **पाल्य दशा में।'' (पृ० ३४१)**

नियम-संयम की सीमा में बँधे रहना असंयमी के वश की बात नहीं है। जितना मना किया जाता है मन उस दिशा में उतना ही स्वच्छंद होता है। अज्ञान दशा में त्यागने योग्य वस्तु का त्याग होना और ग्रहण करने योग्य वस्तु का स्वीकारना संभव नहीं हो पाता है। फिर जो कुछ भी पलता है जबरदस्ती, भय के कारण ही।

इधर बालों के उपद्रव से बचने हेतु सेठ ने सिर को भी कसकर बाँध रखा है। फिर भी सेठ के माथे पर काले-काले बालों की लट बार-बार बाहर आ आहार-दान के सुखद दृश्य को, अन्य ध्यान से विमुख हो देख रही है और वह निर्भीक होकर परम-पात्र अतिथि से कहती है कि—आप समता के धनी सन्त हैं और सेठजी दाता हैं, सज्जन पुरुष, ममता की खान, जो वैराग्य के प्रति अनुराग रखते हैं। आप दोनों का ध्येय बन्धन से मुक्ति पाना है। फिर भला मुझे बन्धन में क्यों डाल दिया ? मुझे भी बन्धन रुचता नहीं।

माना कि मेरा इतिहास गलत है और मेरा ही नहीं, किसका गलत नहीं है ? पतित, पाप पंक से लिप्त नहीं। परन्तु आज मैं भी सुधरना चाहती हूँ। पाप पुण्य से मिलने आया है, विष अमृत में ढलने आया है, हे प्रकाश पुंज प्रभाकर ! मुझ अन्धकार की प्रार्थना पर ध्यान दें। बार-बार भगाने की अपेक्षा एक बार इसे जगा दें, सत्य का बोध करा अपने चरणों में जगह दें, अपने समान बना लें। **प्रकाश का सही लक्षण यही है कि वह सबको प्रकाशित करे।** एक बात और कहता हूँ प्रभो!

''भाग्यशाली भाग्यहीन को
कभी भगाते नहीं, प्रभो!
भाग्यवान भगवान बनाते हैं।'' (पृ० ३४२)

जो पुण्यवान पुरुष होते हैं, वे भाग्यहीन पुरुषों को भी तिरस्कृत नहीं करते अपने से दूर नहीं भगाते अपितु अपनी कृपा से उसे भी पुण्यशाली बना, भगवान् तक बना देते हैं। यूँ कहकर लट झट (जल्दी) से पलटकर चुप हो जाती है।

३०. प्रार्थना सेठ की : गुरुवर से

आहार-दान की क्रिया सम्पन्न हुई। आसन पर बैठ पेट-छाती-हाथ आदि अंगों को अपने हाथों में जल लेकर स्वच्छ बना श्रमण पुनः कुछ समय के लिए पलकों को अर्धोन्मीलित कर परमात्मा की भक्ति (कायोत्सर्ग) में लीन हो जाता है।

कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर सेठ ने अपने हाथों से, मुनिराज के दोनों हाथों में मयूर पंख से बनी पिच्छिका प्रदान की, जो कि मृदु, कोमल, हल्की और मन को आकर्षित करने वाली भी है। प्यास बुझाने हेतु नहीं, किन्तु शास्त्र-स्वाध्याय के पूर्व और शौचादि क्रियाओं के बाद हाथ-पैरादि की शुद्धि हेतु कमण्डलु में प्रासुक जल डाला गया, जो कि २४ घण्टे तक उपयोग में लाया जा सकता है। इसके पश्चात् सदोष हो जाता है अर्थात् त्रस जीवों की उत्पत्ति की संभावना हो जाती है।

अतिथि के चरण छूने तथा पावन दर्शन हेतु अड़ोस-पड़ोस की जनता आँगन में आ खड़ी हुई। ज्यों ही अतिथि का आँगन में आना हुआ त्यों ही जय-जयकार के घोष से सारा आकाश गूँज उठा और भावुक जनता सहित सेठ ने प्रार्थना की गुरुवर से–

''पुरुषार्थ के साथ-साथ
हम आशावादी भी हैं
आशु आशीर्वाद मिले
शीघ्र टले विषयों की आशा,
बस चलें हम आपके पथ पर।'' (पृ० ३४४)

हे गुरुवर! हमारे विषयों की इच्छा शीघ्र ही दूर हो, ऐसा आशीर्वाद जल्दी ही प्रदान करें, क्योंकि पुरुषार्थ के साथ-साथ कुछ इच्छा भी रखते हैं हम। सो आपके जैसे बनें, आपके पथ पर चलें और जाते-जाते ऐसा सूत्र देते जाइए, जिससे बँधे हम अपने आपको जान सकें, क्योंकि जो सुई, सूत्र अर्थात् धागे से बँधी होती है वह

कभी गुमती नहीं। हमारा जीवन भी ऐसा ही बने।

इस पर अतिथि सोचता है कि उपदेश के योग्य न ही यह स्थान है और न ही समय। फिर भी भीतरी करुणा उमड़ पड़ी और सीप से निकलने वाले मोती के समान पात्र के मुख से निकलते हैं कुछ शब्द–

"बाहर यह
जो कुछ भी दिख रहा है
सो...मैं...नहीं...हूँ
और वह
मेरा भी नहीं है।" (पृ० ३४५)

इन दो आँखों से जो भी कुछ संसार में दिख रहा है यह शरीर, भाई–बन्धु, मकान, दुकान, नगर आदि वह मैं अर्थात् मेरा स्वरूप नहीं है और न ही वे मेरे अपने हैं। अर्थात् बाहरी सभी पदार्थ मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

ये आँखें मेरे वास्तविक स्वरूप को देख नहीं सकती, क्योंकि मैं तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित, अमूर्त हूँ। और ये आँखें रूपी पदार्थों को ही अपना विषय बनाती हैं, किन्तु मैं जीव हूँ। मुझमें ही देखने की शक्ति है। उस शक्ति का ही स्वामी मैं, था, हूँ और रहूँगा। यह मेरा त्रैकालिक स्वभाव है। भाव यह निकला कि **शरीर सो मैं नहीं, किन्तु शरीर के भीतर मैं हूँ।** यूँ कहते–कहते पात्र (मुनिराज) के पद चल पड़े उपवन की ओर तथा पीठ हो गई दर्शकों की तरफ।

३१. रोना : रुक न सका

हाथ में कमण्डलु लिए सेठजी छाया की भाँति श्रमण के पीछे–पीछे जा रहे हैं। नगर के पास में ही उपवन (बगीचा) है। उपवन में नसियाँ जी है, जिसमें नयनहारी नेमिनाथ भगवान् का जिन बिम्ब है, जो निजस्वरूप का ज्ञान कराता है। नसियाँ जी का गगन चूमता–सा ऊँचा शिखर है। शिखर पर स्वर्ण का कलश चढ़ा हुआ है, जो अपनी कान्ति से बता रहा है कि **संसार की सारी चमक–दमक भ्रम पैदा करने वाली और चतुर्गतियों में भटकाने वाली है।** इनसे सन्मार्ग नहीं मिलता। जिन बिम्ब के दर्शन करते ही तन रोमांचित हो, मन हर्षित हुआ।

एक बार पुनः गुरु चरणों को नमस्कार कर सेठ ने घर लौटने का उपक्रम किया, पर शरीर शक्ति हीन–सा लगा। आँखों में आँसू भर आए, पथ ओझल–सा हो गया, पैर भारी से लगने लगे। रोकने का प्रयास किया, किन्तु रोना रुक न सका। पूज्यपाद, गुरु चरणों में लोट–पोट होता हुआ सेठ जोर–जोर से रोने लगा। रोते हुए

मुख से निकले कुछ शब्द हे गुरुवर! यह जीव आपके चरणों की शरण को छोड़कर वापस घर लौटना नहीं चाहता है। जैसे, हंस मानसरोवर को छोड़ अन्यत्र कहीं जाना नहीं चाहता। फिर भी दुख की बात है कि शरीर को मन का साथ देना ही पड़ता है।

मेरा मन भी बहुत चंचल है प्रभो! जल्दी ही उद्वेग-आवेग (क्रोधादि की तीव्रता) से घिर जाता है। फिर ऐसी परिस्थिति में संसार के दुख, पापों से भयभीत हो, धर्म के प्रति रुचि रूप परिणामों के साथ सदाचरण–सम्यक् चारित्र का पालन कैसे संभव हो सकता है ? फिर समीचीन आधार के बिना यह जीवन कैसे टिकेगा ?

तीव्र कर्मोदय के कारण चाहकर भी धर्म का पालन, पहाड़-सा भारी और कठिन लग रहा है। आषाढ़ माह में आने वाली बाढ़ में, छोटे-छोटे ही नहीं बड़े-बड़े हाथी जैसे प्राणी भी बह जाते हैं, वही दशा मेरी भी हो रही है। कर्मों के आगे मैं कुछ भी नहीं कर पा रहा हूँ। मैं अपने-आपको बौना ही नहीं किन्तु अपाहिज भी महसूस कर रहा हूँ। लम्बा पथ है कैसे चलूँ, आकाश को छूता शिखर है–कैसे चढूँ और कुशल साथी भी तो नहीं है कैसे बढूँ अब आगे ?

३२. नियति और पुरुषार्थ

क्या पूरा-पूरा आशावादी बनूँ अर्थात् आज नहीं तो कल संयोग मिलेगा। ऐसा मानूँ अथवा नियति अर्थात् भवितव्यता पर ही सब कुछ छोड़ दूँ। जो होना होगा–सो होगा और छोड़ दूँ पुरुषार्थ करना। हे परम पुरुष! आप ही बताएँ, मैं क्या करूँ ? क्या सब कुछ काल पर छोड़ दूँ अर्थात् ऐसा कोई काल आयेगा जब स्वयमेव परिणमन होगा ? यदि ऐसा मान लूँ तो फिर प्रति पदार्थ स्वतंत्र है–अपना कर्ता स्वयं आप है क्या यह सिद्धान्त सदोष है ? जो होना होगा, वैसा ही होगा, ऐसी होने रूप क्रिया के साथ-साथ ही करने रूप क्रिया अर्थात् ऐसा करो, ऐसा मत करो रूप पुरुषार्थ का भी तो उपदेश जैन आगम में मिलता है ना!

सेठ के प्रश्नों की पंक्तियाँ सुन मौन तोड़कर माँ के समान गुरु ने वात्सल्य भाव से कहा कि ऊपर सिर उठाकर मेरी ओर देखो, इन सब प्रश्नों का उत्तर तुम्हें यहाँ मिलेगा। सेठ ने सिर उठाकर गीली आँखों से ऊपर देखा, मुनि की गम्भीर मौन मुद्रा दिखी, जिनकी आँखों में चंचलता का अभाव, माथे पर छल-कपट से रहित निश्छलता का दर्शन हुआ और वही मुद्रा प्रश्नों के उत्तर रूप रहस्यों का उद्घाटन करती है।

" 'नि' यानी निज में ही
'यति' यानी यतन - स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है
निश्चय से यही यति है,
और
'पुरुष' यानी आत्मा-परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य प्रयोजन है
आत्मा को छोड़ कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
सही पुरुषार्थ है।" (पृ० ३४९)

अपने स्वरूप में स्थिर होना ही नियति है, निश्चय से यहीं पर दुखों का विराम-विश्राम है और निज आत्मा को छोड़कर अन्य सभी पर-वस्तुओं को भूलना ही सही पुरुषार्थ है।

नियति और पुरुषार्थ का सही-सही स्वरूप ज्ञात हुआ, तो काल मात्र उपस्थित रहने वाला, उदासीन निमित्त है प्रेरक नहीं, यह विषय भी स्पष्ट हुआ। सेठ उत्तर पाकर निःशंक हुआ, फिर भी मन उदास है, अतः वर्षा होने के बाद फीके पड़े बादलों के समान छोटा-सा उदासीन मुख ले, सेठ घर की ओर जा रहा है।

तेल से बाती का सम्बन्ध टूट जाने के कारण अथवा थोड़ा-सा तेल बचने के कारण टिमटिमाते दीपक के समान अपने तन में प्राणों को सँजोय धीमी गति से चल रहा है सेठ। मन में, चिन्तन-मनन भी चल रहा है, अतः मूलधन ही समाप्त हो जाने पर खाली हाथ घर लौटने वाले, भविष्य की चिन्ता में किंकर्त्तव्यविमूढ़ बने व्यापारी के समान बना सेठ घर की ओर जा रहा है।

३३. सेठ घर की ओर

जिस दूध में से पूरा का पूरा घी का अंश निकाल लिया गया है, ऐसे नीरस दूध के समान संवेदन शून्य हुआ सेठ घर की ओर जा रहा है।

साथ में पढ़ने-लिखने वाले, खेलने-कूदने वाले सहपाठियों के बीच हार हो जाने से उत्पन्न होने वाली पीड़ा से कई गुनी अधिक पीड़ा का अनुभव सेठ को हो रहा है इस समय। डाल से मिलने वाले रस से छूटा, टूटकर धूल में गिरे फूल के समान, अपनेपन की दूरी का भाव साथ ले, थोड़े-बहुत साहस को बटोरकर

अपने घर की ओर सेठ जा रहा है। माँ के वियोग में रुक–रुक कर सिसकते हुए शिशु की भाँति लंबी श्वास लेता हुआ सेठ घर की ओर जा रहा है।

वसन्त ऋतु के समाप्त होने से शोभा रहित वन–उपवन के शरीर के समान सन्त संगति से दूर हुआ सेठ घर की ओर जा रहा है। मरुस्थलीय मरुभूमि में सागर से मिलने की आशा मात्र लिए बहती हुई पतली–सी नदी के समान हुआ सेठ घर की ओर जा रहा है। पूर्व दिशा की गोद में उदित हुआ और अस्ताचल की ओर जाते प्रकाश पुंज प्रभाकर के समान, आगामी अन्धकार से भयभीत, सेठ घर की ओर जा रहा है।

कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान हीन, शान्त रस से रहित कविता के समान, पक्षियों की चहचहाहट से रहित प्रभात काल के समान, शीतल चन्द्र–किरणों से रहित रात्रि के समान और बिन्दी से रहित नारी के माथे के समान, सब कुछ सेठजी को कोलाहल–उत्साह रहित लग रहा है। इस तरह ढलान में ढुलकते–ढुलकते पत्थर की भाँति सेठ घर आ पहुँचता है।

सोपान २४
ईर्ष्या से भरे स्वर्ण कलश की दशा

सेठ का परिवार अपार हर्ष में डूबा, सेठ को उदासीन देख कुम्भ सन्त समागम की सार्थकता, वैराग्य दशा की बात बताता है। लेखनी द्वारा सामयिक पंक्तियाँ दी गईं, जिसे सुन सेठ की आकुल-व्याकुलता मिटी और पाक्षिक संकल्प प्रभु पूजन को छोड़ माटी के बर्तनों का उपयोग परिवार का भी समर्थन।

परिवार की परिणति देख बहुमूल्य बर्तन चमत्कृत हुए। तमतमाते स्वर्ण-कलश के मुख से ज्वालामुखी-सी वचनावली फूटती है—सेठ ने सब कुछ शान्ति के साथ सुना। कलश की कुशलता की कामना। शान्ति के लिए कुछ बिन्दु प्रस्तुत करता है। आँख और चरण की शरण में धूलकणों की बात। हम पर श्रमण का प्रभाव सुन स्वर्ण-कलश द्वारा श्रमण पर भी आक्रोश। कुम्भ में भरे पायस ने स्वर्ण-कलश को माटी का उगाल कह, माटी का स्वभाव धर्म समझाया, उसके प्रति कृतज्ञ बनने की, अमाप मान देने की बात कही।

पायस के थकते साहस को देख लेखनी करने लगी, दीपक और मशाल का उदाहरण दे माटी और स्वर्ण कलश की तुलना। लेखनी द्वारा स्वर्ण-कलश को मशाल की उपमा दिये जाने पर कुम्भ ने स्वयं को धिक्कारते हुए प्रभु से प्रार्थना की, सब में साम्य हो। कुम्भ की प्रार्थना से चिढ़ती झारी ने कुम्भ को पापी कहा, सो कुम्भ ने पर-पदार्थ को ग्रहण करना ही पाप बताया। पारदर्शी झारी को वासना से भरी अप्सरा की संज्ञा प्रदान की, फिर अपना परिचय देते हुए सदा एक-सी दशा वाली समता के समान बताया। पाप की पुतली सम्बोधन सुन लाल हो उठा, अनार का रस, उसका समर्थन करता हुआ हलवा, केसर ने भी सर हिला श्रमण में श्रामण्य का अभाव बताया।

३४. सार्थकता : सन्त समागम की

सानन्द आहार-दान सम्पन्न हुआ, सो कुम्भ के साथ ही पूरा परिवार अत्यधिक हर्ष में डूबा हुआ है। सब एक साथ भोजन को बैठे हुए हैं, किन्तु सेठजी के गौर वर्ण वाले मुख पर उदासी देखकर कुम्भ ने कहा—

''सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है
संसार का अन्त दिखने लगता है,

समागम करने वाला भले ही
तुरन्त सन्त-संयत
बने या न बने
इसमें कोई नियम नहीं है,
किन्तु वह
सन्तोषी अवश्य बनता है।
सही दिशा का प्रसाद ही
सही दशा का प्रासाद है।'' (पृ० ३५२)

साधु संगति की यही सफलता है कि संगति करने वाला साधु बने अथवा न बने–नियामक नहीं, किन्तु उनके मन में संतोष अवश्य पैदा हो जाता है। वह संतोषी बन शान्ति, तृप्ति का अनुभव करने लगता है और सही दिशा के रूप में यह जो संतोष रूपी प्रसाद मिला है, यही जीवन को सही दशा यानी सिद्ध दशा रूपी भवन में बदलने का कारण बनता है।

जो स्वस्थ होना चाहता है, चिकित्सकों से सही निदान समझ औषध का सेवन करने वाला, विषय-भोगी नहीं हो सकता, क्योंकि रोग का कारण भोग ही तो है। औषध रोग का शोधन करती है किन्तु **निरोगता का सही कारण तो सही निदान यानी रोग की सही-सही पहचान है।** यदि सही रोग पकड़ में न आवे तो कितनी भी औषध दी जाये स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता। और आगे कुम्भ ने क्या कहा, सो सुनो–जैसे वृद्धावस्था में आभूषणों की बात तो दूर, हल्का-फुल्का मलमल भी भारी लगने लगता है, उसी प्रकार वैराग्य की दशा में वनवासी हो या गृहस्थ दोनों को स्वागत-सम्मान-आभार प्रदर्शन भी भार जैसा लगने लगता है।

सन्तों से सुनी कुछ पंक्तियाँ भी प्रासंगिक लगती हैं–आकाश का प्यार कभी पृथ्वी से नहीं हो सकता, काम-वासना का प्यार बुढ़ापे से नहीं हो सकता, सज्जन कभी सुरापान नहीं करता, विधवा को श्रृंगार अच्छा नहीं लगता और संसार से विपरीत चाल विरलों की होती है–सो वैरागी को राग-रंग अच्छा नहीं लग सकता।

वैराग्य से भरे सेठ को, ये पंक्तियाँ सुन साक्षात् साधुता का रस आने लगा। दुख रूपी क्षार से भरे इस खारे संसार में सारभूत सुख मिलेगा, इसकी भी आशा नहीं रही। सारभूत मोक्ष सुख का स्रोत क्या है, यह सब अब ज्ञात हो चुका है। अहो भाग्य! धन्य! ऐसा लगता है। कुम्भ का जीवन भी संत के समान बन चुका है और

कुम्भ का पूर्ण समर्पण भी संत के प्रति आभार व्यक्त करता-सा प्रतीत होता है। इस पर यह लेखनी भी कुछ पंक्तियाँ देती है–

''गम से यदि भीति हो
तो...सुनो!
श्रम से प्रीति करो
और
अहं से यदि प्रीति हो
तो...सुनो!
चरम से भीति धरो
शम धरो
सम वरो!'' (पृ॰ ३५५)

यदि दुखों से भयभीत हों तो सुनो–मेहनत से प्रेम करो अर्थात् आत्मोपलब्धि हेतु पुरुषार्थ करो। यदि निज को उपलब्ध करने की चाह, श्रद्धा मन में पैदा हुई हो तो सुनो–शरीर के स्वभाव को जान वैराग्य धारण करो, शरीर से डरो। कषायों को दबाओ, शमन करो और जीवन में समता परिणाम धारण करो।

सिद्ध मन्त्र की सामर्थ्य से शरीर में फैला हुआ विष जैसे दूर हो जाता है, उसी प्रकार लेखनी की बात सुन सेठ की आकुलता दूर हुई। और सेठ ने कहा कि इस पक्ष में प्रभु-पूजन को छोड़कर शेष कार्यों में माटी के ही पात्रों का उपयोग होगा। इतना कहकर सेठ रजत आसन से उतरकर लकड़ी के आसन पर बैठ गया। सो परिवार ने भी कहा–हमारी भी यही भावना है। परिवार की इस तरह से परिवर्तित परिणति देख स्वर्ण की थालियाँ, कलशियाँ, चाँदी के लोटे-प्याले, कटोरे, थालियाँ, स्फटिक मणी की झारियाँ और चम-चम चमकने वाली चमचियाँ यह सब क्या हो रहा है–यूँ सोचते हुए सभी आश्चर्यचकित हो गये।

३५. उबलता : स्वर्ण कलश

इस घटना से अपने आपको अपमानित-सा महसूस करता हुआ शीतल जल से भरा पीतल का कलश भीतर ही भीतर उबलने लगा। स्वर्ण के द्वार पर श्याम वर्ण (माटी) का स्वागत देख स्वर्ण-कलश क्रोधित हो आपे से बाहर हुआ। आक्रोश के साथ कुछ कहता है वह कि एक दिन भी पूर्ण नहीं हुआ और आगत माटी के कलश का इतना स्वागत! माटी को सिर-माथे पर लगाना और मुकुट को पैरों में पटकना, यह सब सभ्यता पूर्ण व्यवहार-सा नहीं लगता। अपनों के प्रति लोक-व्यवहार का भी यहाँ अभाव-सा लग रहा है और इस बात को मैं भी मानता हूँ-

''अपनाना-
अपनत्व प्रदान करना
और
अपने से भी प्रथम समझना पर को
यह सभ्यता है, प्राणी-मात्र का धर्म।'' (पृ० ३५७)

निम्न से निम्न व्यक्ति को भी स्वीकार कर अपनापन देना और अपने से पहले उसके हित के बारे में सोचना यह प्राणिमात्र का कर्त्तव्य है, सभ्यता है। परन्तु यह कार्य उचित क्रम से, उचित तरीके से किया जाये तो ठीक लगता है। इससे उसका हित भी संभव है।

इस विषय को और स्पष्ट करूँ तो **उच्चकुलीन, उच्च ही रहता है नीचकुलीन नीच ही रहता है, ऐसी भी मेरी धारणा नहीं है।** नीच कुल वालों को भी उच्चकुलीन बनाया जा सकता है। योग्य और अयोग्य सम्पर्क से सबमें परिवर्तन हो सकता है, किन्तु इतना भी ध्यान रखना होगा, मात्र शारीरिक विकास (स्वास्थ्य, भोजन, पानी), आर्थिक तथा शैक्षणिक (पुस्तक, शिष्यवृत्ति) सहयोग मात्र से नीच कुल वाला उच्च नहीं बन सकता।

उच्च बनाने का कार्य सात्त्विक संस्कार, मद्य-मांस आदि व्यसनों के त्याग से ही संभव है। यदि मठे में जीरे आदि का छौंक दिया जाये तो वह स्वादिष्ट के साथ-साथ पाचक भी बनता है, दूध में मिश्री मिला दी जाये तो दूध स्वादिष्ट के साथ-साथ बलवर्द्धक भी बन जाता है। इसके विपरीत मठे में मिश्री मिलाना कथंचित् थोड़ी मात्रा में लाभकारी भले हो जाये किन्तु दूध में जीरे आदि का छौंक लगाना तो बुद्धि का विकार ही माना जायेगा। यूँ कहकर धीरे-धीरे कलश शान्त हो जाता है।

३६. रचना : आँखों की

कलश के उबाल को शान्ति के साथ सेठजी ने सुना। फिर बदले में स्वर्ण-कलश की कुशलता की कामना करते हुए, शान्ति के लिए कुछ बिन्दु प्रदान करते हैं–आँखें ऊपर होती हैं तथा चरण नीचे सत्पुरुषों के चरणों का सम्पर्क पाते ही धूल भी पूज्य बन जाती है। वे चरण जो अपने लक्ष्य तक पहुँचाते हैं, ऐसे चरणों की पूजा आँखें करती हैं। सही आँखें वे ही मानी जाती हैं, जो चरणों का सही-सही मूल्य आँकती हैं। **चरणों की उपेक्षा करने वालीं स्वच्छन्द आँखें दुख ही पाती हैं।**

स्वयं 'चरण' शब्द ही हितकारी, हित चाहने वाली आँखों को आदेश और उपदेश दे रहा है कि चरण को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी, कभी भी चर न! चर[१]न! इतना ही नहीं विलोम रूप से भी ऐसा ही भाव निकलता है यानी च..र..ण न...र...च...। चरणों को छोड़कर अन्यत्र कहीं कभी भी न...रच[२]! न...रच! न...रच!

हे भगवन्! मैं समझना चाहता हूँ कि इन आँखों की रचना (निर्माण) ऐसे कौन से परमाणुओं से हुई है–

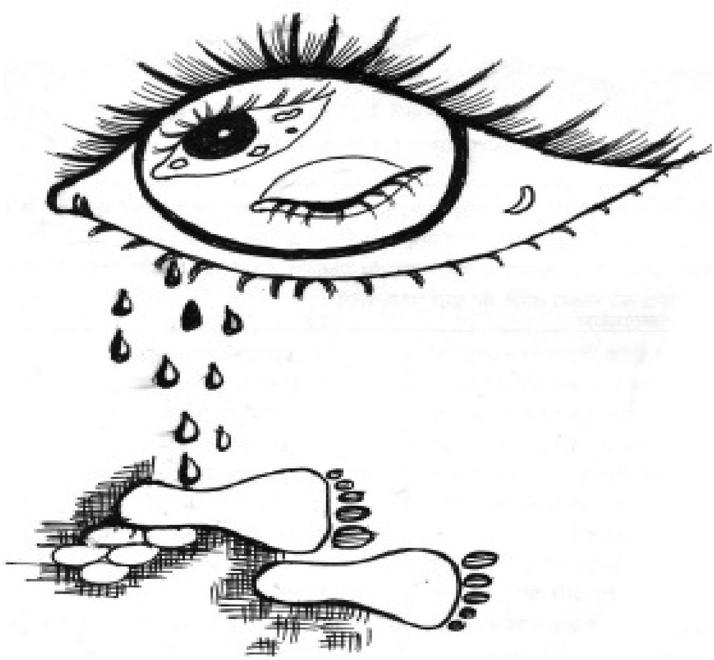

१. चर = घूमना, इधर-उधर भटकना। २. रच = अनुरक्त होना, लीन होना।

"जब आँखें आती हैं...तो
दुःख देती हैं,
जब आँखें जाती हैं...तो
दुःख देती हैं,
कहाँ तक और कब तक कहूँ,
जब आँखें लगती हैं...तो
दुःख देती हैं!
आँखों में सुख है कहाँ ?" (पृ० ३५९-३६०)

जब आँखें आती हैं (Eye Flue आता है) तो कष्ट देती हैं, जब आँखें चली जाती अर्थात् फूट जाती हैं तब दुख देती हैं तथा जब नजर लग जाती है तो भी दुख देती हैं। इन आँखों में कहीं भी तो सुख नजर नहीं आता। ये आँखें दुख की खान हैं और सुख को नष्ट करने वाली हैं।

इसलिए सन्त पुरुष इन आँखों पर विश्वास नहीं करते/रखते और सदा नीचे आँखें कर चरणों को देख विनम्र हो चलते हैं। पूज्य बनने हेतु अज्ञानता वश ऊपर वालों का आश्रय लेना श्रेष्ठ है, ऐसा विचार कर कुछ धूल-कण आँखों में पहुँच जाते हैं। परिणाम यह निकला, पूज्य बनना तो दूर रहा उनका स्वतन्त्र घूमना भी नष्ट हुआ। आँखों के बन्धन में बँधे, भीतर ही भीतर संघर्ष करते अपने अस्तित्व को ही खो देते हैं और घृणास्पद दुर्गन्ध गीड़ (आँखों का मल) का रूप धारण कर बाहर निकलते हैं, वे धूल के कण। फिर भी खेद की बात है कि आँखें ऊपर होती हैं और चरण नीचे।

३७. श्रमण : कोश के या होश के

यह सब प्रभाव समता के धनी श्रमण का है, जो हम पर पड़ा। अन्त में इतना कहकर सेठ भोजन प्रारम्भ करता है कि पुनः कलश की ओर से व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग प्रारम्भ होता है। जिसे आप समता के धनी कह रहे हैं, हमें तो नहीं लगता। कोश में रहने वाले 'श्रमण' शब्दधारी श्रमण तो बहुत बार मिले हैं, किन्तु होश के वास्तविक श्रमण कोई विरले ही होते हैं। और ऐसी कैसी समता, जिसमें इतनी भी क्षमता नहीं है कि वक्त पर भयभीत को अभयदान दे सके, आश्रय से रहित को आश्रय दे सके।

संसार से भयभीत हुए बिना श्रमण भेष धारण कर अभय का हाथ उठा आशीष देने की अपेक्षा अन्यायमार्गी रावण जैसे शत्रुओं पर राम जैसे श्रमशील बन

हाथ उठाना ही कलियुग में सतयुग ला सकता है, धरती पर स्वर्ग का अवतार किया जा सकता है। श्रम करे सो 'श्रमण'। कुछ काम-धाम न करने वाले ऐसे श्रमण के लाल-लाल गाल को तो पागल से पागल शृगाल भी खाने की बात तो दूर, छूना भी नहीं चाहेगा।

इतना सुनाने के बाद भी स्वर्ण-कलश का उबाल शान्त नहीं हुआ और खिचड़ी की भाँति खदबद-खदबद उबलता ही रहा। सन्त के नाम पर पुनः आक्रोश व्यक्त करता हुआ कहता है-कौन कहता है कि आगत सन्त में समता थी। हमें तो दश-प्रतिशत भी समता दिखी नहीं उसमें। पक्षपात की मूर्ति है वह। जिसकी दृष्टि में अभी भी ऊँच-नीच का भेद-भाव है, स्वर्ण और माटी का पात्र एक रूप नहीं है वह समता का धनी कैसे हो सकता है ? और फिर-

''एक के प्रति राग करना ही
दूसरों के प्रति द्वेष सिद्ध करता है,
जो रागी है और द्वेषी भी
सन्त हो नहीं सकता वह।'' (पृ० ३६३)

किसी एक से राग करना ही स्वयमेव दूसरों के प्रति मन में द्वेष भावों को व्यक्त करता है। जो रागी भी है और द्वेषी भी, सन्त हो नहीं सकता और ऐसे नामधारी 'सन्त' की उपासना से संसार का अन्त हो नहीं सकता। ऐसे सन्त को श्रमण कहने से सही सन्त का उपहास और होगा। ये वचन कटु हैं पर हैं सत्य, इसीलिए निष्पक्ष होकर सत्य का स्वागत हो।

फिर सेठ को हँसी की दृष्टि से देखता हुआ कलश कहता है-गृहस्थ अवस्था में नामधारी सन्त यह, अकाल में पला हुआ, अभाव के भूत से घिरा, बहुमूल्य वस्तुओं का भोक्ता कैसे हो सकता है ? तभी तो भिखारियों के समान स्वर्णादि पात्रों की उपेक्षा कर माटी के पात्र का स्वागत किया है सेठ ने।

३८. स्वर्ण में बोया बीज

स्वर्ण-कलश की उबाल भरी बातें सुन, मन को कलुषित किए बिना ही माटी के कुम्भ में भरे पायस यानी जल ने (जिसने पात्र-दान में सहयोगी बनने से यश प्राप्त किया था) शान्त भाव से स्वर्ण कलश से कहा-तुम में पायस जैसी पवित्रता नहीं है। तुम्हारा पैर पूरा का पूरा पाप रूपी कीचड़ में लिप्त है। पुण्य (धर्म) का तो परिचय भी नहीं है तुम्हें, इसलिए पावन की भक्ति, प्रशंसा तुम्हें अच्छी नहीं लगती। पावन को पाखण्ड (झूठा, गंदा) कहते हो। लगता है तुम्हारी

पापिन आँखों ने पीलिया रोग को पी लिया है, इसीलिए तुम्हारी काया भी पीली हो गई है।

पर की प्रशंसा तुम्हें काँटे-सी चुभती है। लगता है इसीलिए कुम्भ के स्वागत-सत्कार से आग-बबूला हो गये हो। फिर ठीक भी है, जिसने स्वयं मठा पिया है वो भले ही दूसरों को मीठे दूध का भोजन करावे, किन्तु जब कभी उसे डकार आयेगी तो खट्टी ही आयेगी और सुनो, तुम स्वर्ण हो जल्दी से उबलते हो, माटी स्वर्ण नहीं है किन्तु स्वर्ण को उगलती अवश्य है (माटी से ही स्वर्ण निकलता है) और तुम उसी के उगाल हो।

आज तक न सुना, न देखा और न ही पढ़ने में आया कि स्वर्ण में बोया गया बीज अंकुरित होकर पौधा बन फूला-फला लहलहाया हो। हे स्वर्ण-कलश-

''दुखी-दरिद्र जीवन को देखकर
जो द्रवीभूत होता है
वही द्रव्य अनमोल माना है।
दया से दरिद्र द्रव्य किस काम का?'' (पृ० ३६५)

जो दया से भीगता है, वहीं द्रव्य अनमोल माना जाता है दया से रहित द्रव्य किस काम का ? माटी स्वयं दया से भीगती है और औरों को भिगोती भी है, तभी तो माटी में बोया गया बीज समुचित हवा-पानी पा, पोषक तत्त्वों से भरा, हजार गुणित हो फलता है।

थोड़े से समय के लिए भी माटी के स्वभाव में अन्तर आना यानी संसार ही समाप्त, प्रलयकाल का आना सिद्ध होगा। एक बात और है, हे स्वर्ण-कलश! यदि वास्तव में तुम सवर्ण (अच्छी कुल परम्परा वाले) होते तो सूर्य का दुर्लभ दर्शन प्रतिदिन क्यों न होता तुम्हें ? हो सकता उल्लू के समान तुम्हें प्रकाश से भय लगता हो। इसीलिए तो तुम धरती में बहुत गहरे गाड़े जाते हो अथवा लोहे की तिजोरियों में बंद कर रखे जाते हो। लगता है नरकों में ही तुम्हें आनन्द आता है। तुम्हारी संगति करने वाला भी दुर्गति को प्राप्त होता है। यह बात गलत नहीं कही जा सकती।

तुम्हें देखने मात्र से बन्धन की अनुभूति होती है। तुम स्वयं बँधते हो और औरों को बाँधते भी हो। परतन्त्र जीवन के मूल आधार हो तुम, पूँजीवाद के अभेद्य, दुर्गम आवास और सदा अशान्ति को देने वाले हो। अतः हे स्वर्ण-कलश! एक बार तो मेरी बात मान लो और माँ माटी के उपकारों को समझो, उसके उपकार का बदला चुकाने का मन बनाओ, माँ माटी को अमाप (जिसे कोई नाप न सके) मान-सम्मान दो और मात्र माँ ही माँ नाम लो अब!

३९. मिशाल : दीपक और मशाल की

जल का साहस इससे आगे कुछ कहने का नहीं होता देख, लेखनी स्वयं कुछ कहने को उद्यमशील होती है कि गुणियों का गुणगान करना तो दूर निर्दोषों को सदोष बताकर अपने दोषों को छुपाना चाहते हो तुम। सन्त पर आक्रोश व्यक्त करना, समता का उपहास करना, सेठ का अपमान करना आदि ये सब तुम्हारे अक्षम्य अपराध हैं, फिर भी उन्हें गौण कर तुम्हारे सम्मुख माटी की महिमा ही नहीं किन्तु तुम्हारा भी कितना मूल्य, मूल्यांकन है इन दो उदाहरणों के द्वारा प्रस्तुत करती हूँ–

दीपक और मशाल सामान्य रूप से दोनों प्रकाश के साधन हैं, पर दोनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। बाँस के एक छोर पर कुछ चिंदियाँ बाँधी जाती हैं, नीचे पकड़ने हेतु स्थान होता है, यही है मशाल। मशाल के मुख पर माटी मली जाती है, कारण कि वह असंयत होता है इसीलिए। मशाल से प्रकाश तो कम मिलता है

किन्तु राक्षस की लाल–लाल जिह्वा–सी अग्नि की लपटें उठती हैं उससे और वह अपव्ययी भी है, क्योंकि उसके मुख पर बार–बार तेल डालना पड़ता है, वह भी मीठा, मूल्यवान।

कभी–कभी मनोरंजन के समय हाथ में मशाल ले चलने वाला पुरुष मुख में मिट्टी का तेल भर, मशाल के मुख पर फूँकता है। क्षण भर में सारा तेल जलकर शून्य में विलीन हो जाता है, थोड़ी–सी असावधानी होने पर हा–हा कार मच सकता है, हानि ही हानि। फूँक मारने वाले का जीवन भी बुझ सकता है, किन्तु मशाल नहीं। साधना के समय मशाल को देखकर कोई ध्यान–धारणा नहीं कर सकता। इसमें कारण मशाल की चंचलता ही है। **ध्येय (लक्ष्य) चंचल होगा तो ध्याता का मन भी चंचल होगा** ही और भी बहुत सारे दुर्गुण हैं इस मशाल में। कितनी मिशाल अर्थात् उदाहरण दूँ तुम्हें।

अब दूसरे उदाहरण की बात सुनो—दीपक संयमशील होता है। बढ़ाने से बढ़ता है और घटाने से घटता है। कम मूल्य वाले मिट्टी के तेल से पूरा भरा दीपक (डिब्बी) भी थोड़ा–थोड़ा कर जलता है, आदर्श गृहस्थ के समान सीमित व्यय करने वाला संयमित और निरीह होता है वह। छोटा–सा बालक भी अपने हाथों में दीपक ले चल सकता है प्रेम से, किन्तु मशाल को देखते ही भयभीत होता है। मशाल की अपेक्षा दीपक अधिक प्रकाश देता है। दीपक की संगति पा उच्छृंखल, प्रलय स्वभावी मिट्टी का तेल भी ऊर्ध्वगामी बनता है। अन्धकार से डरा हुआ एकाकी–पथिक भी दीपक को देखते ही भय रहित हो जाता है।

सुनते हैं भूतों के हाथ में मशाल होती है, जिसे देखते ही निर्भय की आँखें भी बन्द हो जाती हैं। जबकि दीपक की लाल लौ स्व-पर-प्रकाशिनी ज्योति है जो चंचलता से रहित हो, साधक के उपयोग को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाने में कारण बनती है अर्थात् स्पन्दन-हीन दीपक की लौ को अपलक देखने से-

''साधक का उपयोग वह
नियोग रूप से,
स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर
बढ़ता-बढ़ता, शनैः शनैः
व्यग्रता से रहित हो
एकाग्र होता है कुछ ही पलों में।
फिर, फिर क्या-
समग्रता से साक्षात्कार !'' (पृ० ३७०)

नियम रूप से साधक का उपयोग धीरे-धीरे सूक्ष्मता की ओर बढ़ता हुआ कुछ ही क्षणों में पूर्णतः निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप साधक पूर्ण आत्मस्वरूप का अनुभव करता हुआ पूर्ण दिव्यज्ञान, केवलज्ञान का स्वामी बन जाता है। दीपक की और भी कई विशेषताएँ हैं-कहाँ तक कहूँ ओर-छोर भी तो हो उसका।

अस्तु, हे स्वर्ण! तुम मशाल के समान मलिन अभिप्राय, इच्छा रखने वाले हो तो मिट्टी का कुम्भ दीपक के समान पथ प्रदर्शक, अंधकारनाशी, साहसी और हंस के समान क्षीर-नीर विवेक वाला, उज्ज्वल है।

४०. प्रार्थना - कुम्भ की : चिढ़ती झारी

एक आँख वाली इस लेखनी ने मेरी प्रशंसा के बहाने स्वर्ण कलश का अपमान किया। इस निन्द्य कार्य में मुझे निमित्त बनाया गया, इसीलिए इसमें मेरा भी अपराध सिद्ध होता है। यूँ स्वयं को धिक्कारता हुआ माटी के कुम्भ ने दीर्घ श्वास ली और फिर प्रभु से प्रार्थना प्रारम्भ करता है-हम जैसे पुण्यहीन भव्य जीवों को भव-भव में पराभव यानी अपमान का ही अनुभव हुआ है। परा भव यानी श्रेष्ठ भव, मोक्ष का लाभ कब होगा ? निकट भविष्य में संभव है या नहीं, शीघ्र ज्ञात हो भगवन्! जब तक प्रभुता प्राप्त नहीं होती, तब तक एक की प्रशंसा-एक की निन्दा, एक को उठाना तो एक को गिराना, एक धनी-एक निर्धन, एक गुणवान-एक निर्गुण, एक सुन्दर-एक बन्दर-यह सब विषमता देख बड़ी पीड़ा होती है

प्रभु इसे, यह सब देखा नहीं जाता। इसी कारण आँखों को बंद रखना पड़ता है। यदि सबमें साम्यता समानता हो सके तो बड़ी कृपा होगी स्वामिन्!

कुम्भ की प्रार्थना सुन स्फटिक की झारी और चिढ़ने लगी और चिढ़ती हुई कुम्भ से कहती है कि–अरे पापी!

''पाप-भरी प्रार्थना से
प्रभु प्रसन्न नहीं होते,
पावन की प्रसन्नता वह
पाप के त्याग पर आधारित है।'' (पृ० ३७३)

मन में पाप धारण कर भगवान् से कितनी भी प्रार्थना करो, वे प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। पावन **प्रभु तो पापों के त्याग और व्रतों के अंगीकार करने से ही प्रसन्न होते हैं।** मैंने अग्नि परीक्षा दी है, ऐसा बार-बार कहकर जो तुम अपने आप को निष्पाप सिद्ध करना चाहते हो, सो यह पाप ही नहीं महापाप है।

तुममें इतना पाप भरा है कि युगों-युगों तक जलाने से जल नहीं सकता, धुलाने से धुल नहीं सकता। प्रलयकाल में जल की ही नहीं, अग्नि की भी वर्षा मिट्टी (धरा) पर कई बार हुई, किन्तु तुम्हारी कालिमा में कोई अन्तर नहीं आया। श्रावण मास में काले-काले बादलों से घिरी अमावस्या की रात्रि के समान काली बबूल की लकड़ी भी तो अग्नि परीक्षा देती है और बार-बार नहीं, एक बार में ही अपने जीवन को पाप रहित कर चाँदी जैसी उज्ज्वल छवि वाली राख बनती है।

इस बात को सुन कुम्भ बीच में ही बोल पड़ा–अग्नि-परीक्षा के बाद भी सब कोयलों में बबूल के कोयले काले भी तो होते हैं, बताओ क्यों ? इस प्रश्न को सुन उत्तर देती है, झारी–अरे मति मन्द सुन। इतना भी नहीं जानता कि कोयला बनने में कारण अग्नि का पर्याप्त ताप न होना होता है, अथवा लकड़ी में रहा शेष जलांश होता है, अन्यथा वह राख में ढलती/परिवर्तित होती है। इसमें लकड़ी का थोड़ा-सा भी दोष नहीं है। जा-जा कहीं भी, तेरे साथ अधिक बोलना भी दोषों का सम्मान करना है और कुम्भ की ओर से झारी अपना मुख मोड़ लेती है।

४१. असीम भोगाभिलाषा : स्फटिक की

झारी की प्रतिक्रिया देख कुम्भ कहता है–यदि मेरे साथ बोलना भी पाप है तो मत बोलो, यदि देखने में ताप होता है तो मत देखो। परन्तु तुमने पाप के विषय में जो निर्णय लिया है, वह गलत है बस! यही बताना चाहता हूँ, कम से कम **सुन तो लो फिर तौलो** और कुम्भ अपनी बात सुनाता है–

“ ‘स्व’ को स्व के रूप में
‘पर’ को पर के रूप में
जानना ही सही ज्ञान है
और
‘स्व’ में रमण करना
सही ज्ञान का ‘फल’।” (पृ० ३७५)

मैं, मैं ही हूँ, जानना-देखना मेरा स्वभाव है। इस प्रकार स्वयं को स्वयं के रूप में जानना तथा मुझसे भिन्न शरीर आदि जड़ स्वभावी, सर्वथा पृथक् एवं अन्य है। इस प्रकार पर को ‘पर’ के रूप में जानना ही सही-सही ज्ञान है, और निज आत्म तत्त्व में लीन होना ही सम्यग्ज्ञान का उचित परिणाम है।

विषयों को चाहने वाला, भोगों का दास, तन-मन-इन्द्रियों का गुलाम ही पर-पदार्थों का स्वामी बनना चाहता है, यही पाप है, सब पापों का बाप। अरे झारी! जरा तू अपनी वृत्ति और प्रवृत्ति की ओर भी देख। कैसी है वह-वासना से भरी, पल-पल में हाव-भाव रंग बदलने वाली अप्सरा-सी तेरी पारदर्शिता, दूध भरने पर धवला-सफेद, घी भरने पर पीली, इक्षु-रस भरने पर हरी हो पलट जाती है। इतना ही नहीं, पास में पड़े काले, पीले, हरे या लाल गुलाब के भी गुण धर्मों को आत्मसात् कर लेती है तू। यह तेरी असीम भोगाभिलाषा ही तो है, हाय! जात-पात को तो तूने लात ही मार दी, लाज-लिहाज वाली कोई वस्तु तेरे पास नहीं रही। इसे तू समता नहीं कह सकती, न ही अपनी असीम क्षमता। कारण कि-

“दूसरों से प्रभावित होना
और
दूसरों को प्रभावित करना,
इन दोनों के ऊपर
समता की छाया तक नहीं पड़ती।” (पृ० ३७७)

पर निमित्त से झट से प्रभावित होना और दूसरों को प्रभावित करना, इन दोनों दशाओं में समता का अभाव ही माना जायेगा।

भले ही तू स्फटिक मणि की बनी उजली-सरली-सी दिखती है पर तेरे रग-रग में राग भरा है, मायाचारी छुपी है। तेरी इस प्रवृत्ति को बगुले ने भी सीख ली है। अरी झारी! तू इस रहस्य को कब तक छुपा सकेगी ? जहाँ तक मेरी प्रकृति की बात है। सो जैसी है सबके सामने प्रकट है। घट के ऊपर कोई आवरण नहीं

है। आच्छादन के नाम पर मात्र इस पर आकाश भर तना है। इसी से मेरी रक्षा है। यदि पाप पास हो तो छुपाऊँ, छुपाने का साधन जुटाऊँ।

मैं किसी की स्वतन्त्रता छीनता नहीं। किसी रंग-रोगन का मुझ पर प्रभाव पड़ता नहीं। सदा एक-सी ही दशा है मेरी। इसी का नाम समता है। इसी समता की सिद्धि के लिए ऋषि-मुनि माटी की शरण लेते हैं यानी भू-शयन मूलगुण अंगीकार करते हैं। इसीलिए समता की सहेली मुक्ति इन्हीं पृथ्वी में विचरण करने वाले ऋषियों को ही वरती है। समझी पाप की पुतली झारी, तू माटी को पागल समझ बैठी। इतना कहकर कुम्भ चुप हो जाता है।

४२. लाल हुआ : अनार का रस

झारी को पाप की पुतली संज्ञा मिलते ही उसमें भरा अनार का रस और अधिक लाल हो उठा, सो ठीक ही है। सच्चा सेवक क्या अपने स्वामी का अपमान देख तिलमिलाता नहीं, बेचैन नहीं होता ? होता ही है। आधार के हिलने से उसमें रखा पदार्थ, आधेय भी हिलता ही है और उत्तेजित हुआ अनार का रस कहता है–सेठ में शालीनता की मात्रा, श्रमण की श्रमणता, समता की बात किसमें कितनी है सब हमें ज्ञात है, पानी की गहराई किनारों को छूकर, तट-स्पर्श से भी जानी जा सकती है।

और इधर सीसम के श्यामल आसन पर रखी चाँदी की चमकती तश्तरी में पड़ा-पड़ा केसरिया हलवा और हलवे में एक चम्मच, जो कि शीर्षासन के बहाने अपनी निरुपयोगिता सिद्ध होने पर लज्जित हुआ मुख छुपा रहा था। अनार का समर्थन करता हुआ कहता है कि श्रमण की सही समीक्षा की तुमने और सन्त से उपेक्षित होने के कारण घी की अधिकता के बहाने डबडबाती आँखों से रोता-सा लगा।

इधर घी की सुगंध को भी श्रमण की नासा ने नहीं स्वीकारा तो वह भागती-भागती घृत के पास वापस आयी और कहती है–संत की शरण बिना आधार की है, उसके भीतर तो डरावना-सा वातावरण दिखता है। सन्त की नासिका सुख को नष्ट करने वाली है। मुझे यहीं रहने दो, वहाँ मत भेजो। इधर केशर ने भी सिर हिलाते हुए आश्चर्य प्रकट किया कि अशरण को शरण देना तो दूर मुस्कान की दृष्टि तक नहीं मिली। श्रमण हुए वर्षों हो गये। काले बाल सब सफेद हो गये, पर अभी भी श्रामण्य (साधुपना) का अभाव ही लगता है।

बुद्धि होते हुए भी अपने कर्त्तव्य को भूल चुका है वह, सर-दार का जीवन

अब असरदार यानी प्रभावशाली नहीं रहा। उसके तन-मन और चेतन में सरलता नहीं दिखती कहीं भी। समय बीत चुका है, अतीत के अनन्तकाल में खो चुका है। इस बात को मैं भी मानता हूँ कि सदा-सदा से-

''ज्ञान ज्ञान में ही रहता,
ज्ञेय ज्ञेय में ही,
तथापि
ज्ञान का जानना ही नहीं
ज्ञेयाकार होना भी स्वभाव है।'' (पृ० ३८१)

अर्थात् ज्ञान कभी ज्ञेय रूप में अथवा ज्ञेय कभी ज्ञान रूप में परिवर्तित नहीं होता, दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है। फिर भी ज्ञान के द्वारा पदार्थ का जानना ही नहीं, किन्तु ज्ञान में ज्ञेय का आकार झलक आना भी ज्ञान का स्वभाव है। अतः हमारी ओर देखने में सन्त को क्या हानि थी ?

लगता है नामधारी सन्त को ज्ञान के ज्ञेयों से भय लगता है। ऐसी स्थिति में वह स्वभाव, समता से दूर हुआ देवत्व को नहीं किन्तु संघर्ष, संग्राम को प्राप्त हुआ, मरणपने को ही प्राप्त होता लगता है और सुनो, पुनः उच्च स्वर में केशर कहता है-**जीवन को मात्र गुजारना ही नहीं, किन्तु कुछ नया करना ही नयापन है और नाव के समान उस पार उतारने वाला नैयापन है।**

यह कृति समसामयिकता के आधुनिक बोध की गाथा ही नहीं, अपितु भविष्यत् चेतना का भी महाकाव्य है-अधिक विराट् आत्मशक्ति तथा अधिक व्यापक भूशक्ति की प्रेरणामयी भावात्मक भूमिका तक पहुँचने का जयपथ है।

डॉ० महावीर सरन जैन
निवर्तमान निदेशक-केन्द्रीय हिन्दी संस्थान-भारत सरकार
हिन्दी संस्थान मार्ग, आगरा (उत्तरप्रदेश)

सोपान २५
बीमार हुए सेठजी, माटी का उपचार

सभी पात्रों द्वारा माटी के पात्र का उपहास, श्रमण और सेठ की अविनय, परिवार का भोजन पूर्ण हुआ। वाद-विवाद की बाहरी स्थिति शान्त हो गई। भीतरी बात अलग है। एक पक्ष व्यतीत हुआ और सेठ का तन बुखार से तप गया। तपे कपाल पर बैठने को एक मच्छर मचलता है किन्तु बैठ नहीं पाता। गुनगुनाहट के बहाने कुछ कहता है, जिसे सुन खटमल भी सही समय पर, सही दिशा समझ, पाणी ग्रहण को प्राण-ग्रहण का रूप देता मानव की बात कहता हुआ अपना मन्तव्य रख, छोटे से छिद्र में प्रवेश होता मत्कुण वह।

एक से बढ़कर एक अनुभवी वैद्यों का आना हुआ, सेठजी का निरीक्षण, दाह रोग की घोषणा करते हुए साधना की सही रीत की बात, पुरुष के जीवन में प्रकृति की उपयोगिता, पुरुष का पागलपन और प्रकृति का पावनपन। परिवार द्वारा वैद्यों से आरोग्य प्राप्ति का निवेदन, कला की सही व्याख्या, माटी के कुम्भ द्वारा पथ्य पालन और औषध की बात। भीतरी आयाम शकार त्रय बीजाक्षर का प्रयोग, बाहर से माटी का उपचार।

सेठजी के सिर पर माटी का टोप, भीतर चल रहा ओंकार का उच्चारण, परा वाक् शब्दों की निर्माण यात्रा, बैखरी का अर्थ, मूर्च्छा दूर होने पर सेठजी की परिवार से वार्ता, वैद्यों को वेदना का अनुभव बताया, किन्तु आँखें पूर्ण रूप से नहीं खुल पा रही, अतः कुम्भ के कथनानुसार माटी की पूड़ियों का प्रयोग, सफल उपचार होने पर भोजन-पान के विषय में भी वैद्यों ने दिया अभिमत। वैद्यों की विदाई, जाते-जाते कुम्भ के सहकार की बात वैद्यों द्वारा।

४३. तपा शरीर : सेठजी का

इस प्रकार कुम्भ और अन्य पात्रों के बीच वाद-विवाद-संवाद की बात गौण हुई। क्रम-क्रम से सभी पात्रों ने प्रायः माटी के पात्र (कुम्भ) को उपहास का पात्र बना मूल्यहीन समझा। प्रायः बहुमत का यही परिणाम होता है कि पात्र भी अपात्र की श्रेणी में आ जाता है, फिर अपात्र की पूजा में पाप नहीं लगता। दुर्जन और व्यसनी व्यक्ति के समान भाँति-भाँति के सभी व्यञ्जनों ने भी श्रमण की समता को एक नाटक के रूप में देखा और खुलकर सेठ और श्रमण की अविनय

की।

इधर परिवार का भोजन पूर्ण हुआ। आज यथार्थ में भोजन का प्रयोजन ज्ञात हुआ। स्वाद से दूर रह साधु बन, साध्य-प्रभु की पूजा में डूबने से बहुत दूर खड़ी मुक्तिरूपी अंगना भी, कमल की ओर सूर्य किरणों के समान साधक की ओर दौड़ती-सी लगती है। कुछ और दिनों तक बिजली की चमक-सी वाद-विवाद की स्थिति बनती रही, पर अब वाद-विवाद की बाहरी स्थिति पूर्णतः समाप्त हो गई। भीतरी बात दूसरी है। वह तो प्रायः तन-धारकों में भट्टे की ऊष्मा-सी बनी ही रहती है।

एक पक्ष का संकल्प था, सो पूर्ण हुआ सानन्द और कृष्ण पक्ष का आगमन हुआ। सारा परिवार गहरी निद्रा में सोया हुआ है, पर सेठजी को नींद नहीं आ रही। बार-बार करवटें ले रहा है वह। एड़ी से लेकर चोटी तक सेठजी का पूरा शरीर गरम तवे के समान तप रहा है। जलांश लगभग सूख चुका है तभी आँखों से आँसू भी नहीं निकल रहे हैं और अन्दर की पीड़ा अन्दर ही रुकी घुट रही है। धीमी-धीमी हवा से पहले अग्नि सुलगती है फिर और तेज हो जाती है, उसी प्रकार पलकों की बार-बार टिमकार से आँखों की जलन भी बढ़ती जा रही है।

यद्यपि सेठजी के शयन कक्ष में खिड़कियों से शीतल वायु प्रवेश कर रही है, किन्तु सेठजी के मुख से निकलने वाली गरम-गरम श्वासों की लपटों से पूरा माहौल ही धगधगाहट में बदल गया है। इसी समय लाल-लाल बने सेठ के माथे पर एक मच्छर बैठने का प्रयास कर रहा है, किन्तु बैठ नहीं पा रहा है। कारण, माथे तक पहुँचते ही उसकी प्यास दुगुणी हो उठी। अंग तप गया, कण्ठ सूख गया, पंख शिथिल हुए और रक्त-पान की इच्छा कहीं उड़-सी गई और गुनगुनाहट के बहाने मच्छर कुछ कहता हुआ उड़ जाता है-

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,
उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,
काकतालीय न्याय से
कुछ मिल भी जाय
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है
पल में प्यास दुगुणी हो उठती है।" (पृ० ३८५)

प्रायः धनवान कंजूस ही हुआ करते हैं। जोड़-जोड़ कर धन रखना ही उनका धर्म, स्वभाव हुआ करता है। इनके सम्पर्क से हमें कुछ धन मिल जाये, ऐसी आशा कभी नहीं रखना चाहिए। काकतालीय न्याय[१] से कुछ मिल भी जाये तो वह भी खारे नमक से मिले हुए जल के समान प्यास को बढ़ाने वाला ही होता है। अर्थात् कंजूस का धन पचाना भी कठिन हो जाता है।

४४. प्रशिक्षित हुआ मन : खटमल द्वारा

देखो, मैंने सर्वप्रथम नमस्कार के साथ, सेठ की पाद-पूजन की, फिर कानों पर जा गुनगुना कर उनका गुणगान किया। फिर भी मेरी यह दुर्दशा हुई। अपने मित्र मच्छर से सेठ की निन्दा सुन, खून की बूँद का प्यासा, सेठ की परिक्रमा लगाता खटमल कहता है कि हे मित्र! सही समय पर-सही दिशा बोध दिया तुमने। इन लोभियों से हमें कुछ मिलेगा ऐसे भ्रम की रात्रि मिटा दी तुमने। ठीक ही है मानव के सिवा अन्य प्राणी समूह अपने जीवन में परिग्रह का संग्रह करते भी कब हैं ?

इस बात को मैं भी मानता हूँ कि जीवन में आवश्यक कुछ पदार्थ होते हैं।

---

१. काकतालीय न्याय = बिना पुरुषार्थ के स्वतः ही इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाना। जैसे-कौआ ने उड़ते हुए मुँह खोला और वृक्ष से फल उसके मुँह में गिर गया।

घर, पत्नी, घी, घट इत्यादि उनका ग्रहण होता ही है इसीलिए सन्तों ने–

"पाणिग्रहण संस्कार को
धार्मिक संस्कृति का
संरक्षक एवं उन्नायक माना है।
परन्तु, खेद है, कि
लोभी पापी मानव
पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ० ३८६)

कन्या के कर-ग्रहण संस्कार को, धार्मिक संस्कृति को सुरक्षित रखने वाला एवं उसे ऊपर उठाने वाला माना है, परन्तु दुख की बात है कि लोभ रूपी पाप से ग्रसित मानव पाणिग्रहण के यथार्थ स्वरूप को न जानते हुए दहेज की चाह में कन्या के प्राणों को ही ग्रहण कर रहे हैं। अर्थात् दहेज के कारण कन्या को प्रताड़ित करना, आग में जलाना इत्यादि दुर्घटनाएँ हो रही हैं।

ये सेठ लोग सेवकों को वेतन तो कम देते हैं, काम ज्यादा लेते हैं और अपने को आदि ब्रह्मा ऋषभदेव की सन्तान, महामानव बताते हैं। देने के नाम पर इनके हाथों में लकवा-सा लग जाता है। फिर भी यदि कभी जबरदस्ती एकाध बूँद देनी पड़ जाये तो पाने वाला भी उसे पचा न पाता। तभी तो हमारा रुधिर इतना लाल होकर भी दुर्गन्ध युक्त बना है।

और बिना रूठे ही मत्कुण वह, कुछ मिलेगा इस आशा को त्याग कर, परिक्रमा के कार्य को छोड़ सेठ से कहता है कि बातों ही बातों का लोभ मत दिया करो। छल, कपट और मायाचार को त्याग कर, स्वाश्रित जीवन जिया करो। बड़प्पन को जन्म देने वाली नम्र वृत्ति को अंगीकार करो, जीवन को अच्छा और उदार बनाओ। बिना अपेक्षा के सदा ही पर के दुख दूर किया करो।

अन्त में अपने विचार और रखता है मत्कुण वह, कि मैं कण अर्थात् छोटा-सा, हल्का-सा हूँ, मन यानी बहुत भारी नहीं। मैं धन-वैभव भी नहीं हूँ, अतः किसी के मरण का कारण युद्ध भी नहीं हूँ, मैं किसी का ऋणी भी नहीं हूँ और न ही बली-बलवान, न किसी के बल पर जी रहा हूँ न जीना चाहता हूँ। मैं बस हूँ और ऐसा ही रहना चाहता हूँ। मेरे पास कोई मन्त्र, यन्त्र, षड्यन्त्र नहीं हैं। मैं छली भी नहीं हूँ और किसी के छिद्र (दोष)भी नहीं देखता हूँ, छिद्र में रहता अवश्य हूँ। इतना कहता हुआ खटमल छोटे से छिद्र में प्रवेश कर जाता है। मत्कुण के मुख से निकली माध्यस्थ बात सुनकर सेठ का मन प्रसन्न हुआ और प्रशिक्षित भी।

४५. वैद्य : एक से बढ़कर एक

रात्रि व्यतीत हुई और दिन का मन्दगति से आगमन हो रहा है। ठीक ही है, इंतजार की घड़ियाँ बहुत लम्बी हुआ करती हैं और वह भी दुख की बेला हो तब कहना ही क्या ? वैसे सुख का सागरोपम काल भी शीघ्रता से कैसे व्यतीत हो जाता है, पता भी नहीं चल पाता।

प्रभातकाल होते ही एक से एक अनुभवी चिकित्सक विद्याविशारद, विश्वविख्यात वैद्य भी सेठजी की चिकित्सा हेतु आये, जिनमें ऐसे भी मेधावी हैं, जो रोगी के मुख-दर्शन मात्र से रोग का सही निदान कर लेते हैं, कुछ तो रोगी की जिह्वा का रंग-रूप देखकर ही, कुछ नाड़ी की फड़कन देख और नाखून तथा आँखों की लालिमा की तरतमता से रोग की पहचान कर लेते हैं।

एक वैद्य ऐसा भी आया जिसने पूर्व पुण्य के फल से और वर्तमान की दीर्घकालीन साधना के बल पर अति दुर्लभ स्वर-बोध (स्वर-विज्ञान) में सफलता हासिल की है और वह मन्त्र-तन्त्र का ज्ञाता एवं शुभाशुभ निमित्तों के माध्यम से भविष्य को बताने वाले निमित्त शास्त्र अर्थात् अरिष्ट शास्त्र का भी श्रेष्ठ जानकार है।

सभी ने अपनी-अपनी विधियों से सेठ का निरीक्षण किया। शरीर निद्रा से घिरा, रुक-रुक कर मूर्च्छित-सी दशा को प्राप्त हो रहा था। पर वचन की चेष्टा नहीं के बराबर थी। क्रमशः सबने अपने-अपने निर्णय दिये और सबका एक मत बना की दाह का रोग है। पीड़ा की अनुभूति हो रही है, इसका कारण किसी एक

वस्तु की निरन्तर चाह बनी हुई है।

चिकित्सकों ने कहा—इन्हें केवल चेतन-चेतन की रट, उसी की चिन्ता, चिन्तन-मनन ज्यादा नहीं करना चाहिए। थोड़ी-बहुत शरीर की भी चिन्ता करनी चाहिए, तन के अनुरूप खान-पान देना चाहिए और मन के अनुरूप विश्राम भी। **मात्र इन्द्रिय दमन की प्रक्रिया से कोई भी कार्य सफल नहीं होने वाला है** और वैद्यों ने एक सूक्ति कह सुनाई—

''प्रकृति से विपरीत चलना
साधना की रीत नहीं है।
बिना प्रीति, विरति का पलना
साधना की जीत नहीं,
''भीति बिना प्रीति नहीं है''
इस सूक्ति में
एक कड़ी और जुड़ जाय,
तो बहुत अच्छा होगा, कि
''प्रीति बिना रीति नहीं
और
रीति बिना गीत नहीं''
अपनी जीत का—
साधित शाश्वत सत्य का।'' (पृ० ३९१)

प्रकृति यानी शरीर के स्वभाव से बिल्कुल विपरीत चलना, साधना की सही-सही पद्धति नहीं है। बिना आत्म-तत्त्व की प्रीति जगे, सम्यग्दर्शन बिना वैराग्य का धारण करना, तप-साधना करना भी पारमार्थिक-संघर्ष की जीत का कारण नहीं है।

संसार के दुखों से, चतुर्गति भ्रमण से भयभीत हुए बिना निज आत्म तत्त्व से, मोक्षमार्ग से प्रीति भी नहीं हो सकती। इस सूक्ति में एक कड़ी और जुड़ जाय तो अति उत्तम होगा कि समीचीन आस्था, रुचि बिना ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना-सही रीति बिना सम्यक् चारित्र रूपी गीत का गाना अर्थात् धारण करना सम्भव नहीं हो पाता फिर ऐसी दशा में चेतन की जीत, शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि द्वारा सिद्धत्व का सही आनन्द नहीं आ सकता।

४६. खेल : पुरुष और प्रकृति का

यह बात सही है कि पुरुष भोक्ता, भोगने वाला होता है तो प्रकृति भोग्या,

भोगने योग्य। भोक्ता पुरुष जो श्रमी (श्रम करने वाला) है, आश्रय–सहारे की इच्छा रखता है। ऐसे भोक्ता को प्रकृति सहयोग प्रदान करती है। जैसे भोक्ता यदि रस का स्वाद लेना चाहता है तो लार के बहाने रसना उस रस को और सरस बना देती है। भोक्ता यदि देखना चाहता है तो प्रमाद से रहित पलकें (प्रकृति रूपी) अपने कर्त्तव्य में लीन हो, आँखों की बाधाओं को दूर कर सहलाती (झपकती) हुई दृष्टा पुरुष को दृश्य अवलोकन में सहयोग प्रदान करती है। यदि पुरुष योग–साधना में लीन होना चाहता है तो भी प्रकृति साधना की चरम सीमा तक उसका साथ देती है, स्वाश्रित रहकर सबका हित चाहती हुई।

यह कहना भी गलत नहीं होगा कि पुरुष में जो कुछ भी क्रियायें–प्रतिक्रियायें, हलन–चलन, स्पन्दन आदि होता है, उसका व्यक्तीकरण, पुरुष के जीवन का अस्तित्व प्रकृति (पुद्‌गल) पर ही आधारित है। प्रकृति का अर्थ नारी भी है। जैसे नाड़ी के बिना अर्थात् रुकने पर पुरुष का जीवन ही समाप्त हो जाता है उसी प्रकार **प्रकृति के बिना संसारी पुरुष नहीं रह सकता।**

यह भी जानना होगा कि प्रकृति में वासना का वास नहीं है यानी प्रकृति कभी विकार से युक्त नहीं होती, अपितु सुरभि यानी परहित की सुगंध ही उसमें पलती है। अनेक प्रकार के विकार (भीतरी कर्मोदय एवं बाहरी वासना उत्पत्ति के बाह्यकारण) की अवस्था में जब पुरुष विषय–वासनाओं का दास बना, उसे पूर्ण करना चाहता है तब प्रकृति की छाँव में आँख बंद कर बैठ जाता है, थके हुए राहगीर की भाँति और यह आवश्यक भी होता है पुरुष के लिए।

जो स्व यानी अपने आप में स्थित है ऐसे स्वस्थ्य पुरुष के लिए नहीं किन्तु जिसे पर पदार्थ को ग्रहण करने की चाह सता रही है, ऐसे प्यासे पुरुष को इमली खाने से ही नहीं, इमली के नाम स्मरण करने से ही मुख में पानी आ जाता है, यह तो स्वाभाविक है किन्तु यह आश्चर्य है कि भोक्ता के मुख में जाकर भी इमली के मुख में पानी नहीं आता। ऐसी दशा में प्रकृति भी पुरुष में लीन–सी लगती है।

जो युगों–युगों से विषय–वासना के वशीभूत होता आया है, ऐसे पुरुष का यही तो पागलपन, मूर्खपना है। प्रकृति का युगों–युगों से दूसरों के अधीन हुए बिना, अपने स्वभाव को जानते हुए, पुरुष को भी स्व–वश होने के लिए प्रेरित करना ही प्रकृति का पावनपन है। संसार के उस पार मुक्ति को देने वाला पुरुष खिलाड़ी है, जो प्रकृति को खिलौना बनाता है, किन्तु **स्वयं को खिलौना बनाने वाला विशेष पुरुष ही परमात्मा बनता है,** किन्तु यह कोई साधारण कार्य नहीं है, मोही प्राणी पुरुष और प्रकृति के खेल को संसार मानता है सो अज्ञान ही है।

४७. प्रयोजन : कलाओं का

चिकित्सकों के मुख से प्रकृति और पुरुष का सही-सही परिचय मिला और समीचीन ज्ञान मिला साथ ही यह रहस्य भी खुला–

''प्रकृति का प्रेम पाये बिना
पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं।'' (पृ० ३९५)

पुरुष का पुरुषार्थ तभी सफल हो, लक्ष्य को प्राप्त कर पाता है जबकि प्रकृति (पुण्य कर्म) का प्रेम अर्थात् सहयोग उसे मिलता है। पुरुष के जीवन में प्रकृति का मूल्य सुन परिवार ने सविनय निवेदन किया वैद्यों से–सेठजी शीघ्र ही आरोग्य-स्वस्थ हो, ऐसा उपचार करें। आपके निर्देशानुसार ही पथ्य का शत-प्रतिशत पालन किया जायेगा। आप जैसा कहें, जो कहें सो सब स्वीकार है, रोग का प्रतिकार हो बस!

राशि की चिन्ता न करें, मान-सम्मान के साथ वह तो प्रदान की ही जायेगी। वह तो पुरुष की सेवा में तत्पर ही है दासी के समान, पड़ने वाली प्रतिकृति (छाया) की मनोहारी शोभा-सी और वैसे भी–

''चिकित्सकों की दृष्टि वह
राशि की ओर कभी मुड़ती ही नहीं,
मुड़नी भी नहीं चाहिए,
मर्यादा में जीती–सुशीला
कुलीन-कन्या की मति-सी।'' (पृ० ३९५)

वैद्यों-उपचारकों की दृष्टि मान-मर्यादा में जीने वाली, सुन्दर चारित्र वाली कुलवन्ती नारी, कन्या की बुद्धि के समान ही धन की ओर जानी ही नहीं चाहिए।

फिर भी कलियुग का अपना प्रभाव है कि सेवा का संकल्प लेने वाले वैद्यों (डाक्टरों) की दृष्टि सही चिकित्सा की ओर न जाकर, धन प्राप्त करने की ओर जा रही है। जीवन में लिया गया संकल्प, सही लक्ष्य की ओर बढ़ भी जाये तो मन में दृढ़ता नहीं रह पाती। यह आज सुन भी रहे हैं और आँखों से देखा भी तो जा रहा है।

समस्त कलाओं, शिक्षा का लक्ष्य बस एक ही बना है मात्र धन कमाना, पैसा इकट्ठा करना। ऐसी आजीविका से जीभिका (जीभ साफ करने की पट्टी) जैसी गन्ध आती है, किन्तु सबकी नाक इतनी अभ्यस्त हो चुकी है कि उन्हें दुर्गन्ध, दुर्गन्ध-सी नहीं लगती। खेद की बात है कि इस विषय में आँखें भी जानती-देखती

हुईं कुछ कहती नहीं।

किस शब्द का क्या अर्थ है, यह कुछ प्रयोजन नहीं रखता अब। क्योंकि कला शब्द स्वयं ही कह रहा है–

" 'क' यानी आत्मा–सुख है
'ला' यानी लाना–देता है
कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है
न अर्थ में सुख है
न अर्थ से सुख!" (पृ० ३९६)

जो आत्मा अर्थात् जीव को सुख दे, जीवन को सुख, शान्ति और सम्पन्नता से पूर्ण कर देती है, कला कहलाती है। वह कोई भी कला (गायन, वाद्य, नृत्य, चित्र, लेखन, नाट्य, इन्द्रजाल, शिल्प, काव्य, रचना इत्यादि) हो सकती है। **वास्तव में न तो धन में सुख है और न ही धन से सुख है।** कारण कि धन तो सुख में निमित्त मात्र बन सकता है। वह भी तब, जब भीतरी परिणति, साता वेदनीय आदि पुण्य प्रकृति का उदय हो, मन स्वस्थ हो।

४८. मिट्टी का टोप

परिवार के मुख से कला सम्बन्धी व्याख्या सुनकर चिकित्सक दल भी सावधान हुआ। जिसे देखकर परिवार भी प्रासंगिक वार्ता में पर्याप्त परिवर्तन लाकर कुछ कहना चाहता है कि बीच में ही सब वार्ता को सुनने वाला कुम्भ बोल पड़ा, जहाँ तक पथ्य की बात है। सो सभी चिकित्सा ग्रन्थों का एक ही मत है, वह यह कि यदि–

''पथ्य[1] का सही पालन हो...तो
औषध की आवश्यकता ही नहीं,
और यदि
पथ्य का पालन नहीं हो...तो भी
औषध की आवश्यकता नहीं।'' (पृ० ३९७)

यदि प्रकृति के अनुकूल आहार लिया जाये, गमनागमन किया जाये तो औषध की आवश्यकता ही नहीं है और यदि प्रकृति के प्रतिकूल आहार-विहार किया जाये तो भी औषध की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो प्रकृति के विरुद्ध चलेगा वह कितनी भी औषध ले ले, उसे निरोगता का लाभ नहीं हो सकता।

फिर भी यदि औषध की बात सुनना चाहते हो तो सुनो–तात्कालिक शारीरिक ही नहीं, अनादिकालीन चेतनगत रोग (अज्ञान रूपी)। जो जन्म, वृद्धावस्था और मरण रूप है वह भी नष्ट हो जाता है क्षण मात्र में। श, स और ष ये तीन बीजाक्षर हैं। आरोग्य का विशाल वृक्ष इनसे ही फलता-फूलता है। इनके उच्चारण के समय पूरी शक्ति लगाकर श्वास को भीतर ग्रहण करना है और नासिका से ओंकार ध्वनि के रूप में बाहर निकालना है।

शकार त्रय स्वयं ही अपना परिचय दे रहे हैं। श–कषाय का शमन करने वाला, शंकर यानी शाश्वत सुख-शान्ति का प्रतीक है, शाश्वत शान्ति को देने वाला है। स–समता को निरन्तर झराता है, जो कि संसार दुख से विपरीत, सहज सुख का साधन है, पूर्णता यानी केवलज्ञान को देने वाला तथा आत्मा का सच्चा साथी और ष का खेल विचित्र ही है, संसार के कारणभूत पाप और पुण्य के पेट को फाड़ता है। पुण्य-पाप रूप संसार भ्रमण को दूर कर कर्मातीत-सिद्धावस्था दिलाता है। यह हुआ भीतरी आयाम, अब बाहरी भी सुनो–

भूत, भविष्य, भाव, प्रभाव, भवना (होना), सम्भावना, भावनी, भूधर,

---

१. पथ्य = जो स्वास्थ्य के लिए अनुकूल हो।

भूचर, भूख, भूमिका, भव, वैभव और स्वयम्भू–इन सबकी उत्पत्ति 'भू' शब्द से ही होती है। 'भू' इन सबकी माँ है, तीन काल में, तीनों लोक में जहाँ कहीं भी देखो भू की ही महिमा व्याप्त है कोशकारों ने। भू को 'सत्ता' भी कहा है और सत्ता 'भू' का पना, भाव माटी है और तभी तो यह सूक्ति कही जा रही है–

''माटी, पानी और हवा
सौ रोगों की एक दवा!'' (पृ० ३९९)

सौ रोगों को दूर करने का एक ही अचूक उपाय है कि मिट्टी, पानी और हवा का समुचित उपयोग किया जाये। अतः सेठजी की निरोगता हेतु मिट्टी का उपचार किया जाये, यह उपचार स्वाधीन है और मितव्ययी भी। इसका कोई विपरीत प्रभाव भी तन–मन पर नहीं पड़ता।

कुम्भ की बात को सबने स्वीकृति दी, सो छनी हुई कुंकुम समान मृदु माटी में मात्रानुकूल ठंडा जल मिला–मिलाकर रौंद–रौंद कर लोंदा बनाया गया फिर एक टोप बनाकर मूर्च्छा के प्रतिकार हेतु सेठजी के सिर पर चढ़ाया गया। टोप चढ़ाते ही जैसे लोहे का तप्त पिंड जल को सोखता है, उसी भाँति टोप भी मस्तक में व्याप्त उष्णता को पीने लगा। ज्यों–ज्यों उष्णता कम होती गई, त्यों–त्यों सेठजी की मूर्च्छा भी टूटती गई, जागृति आयी, होंठ हिलने लगे, सो ओंकार का उच्चारण स्पष्ट होने लगा। वैसे तो त्रिभुवनजेता, त्रिभुवन–पालक ओंकार का स्मरण भीतर ही भीतर चल ही रहा था, जो सुदीर्घकालीन साधना का फल है।

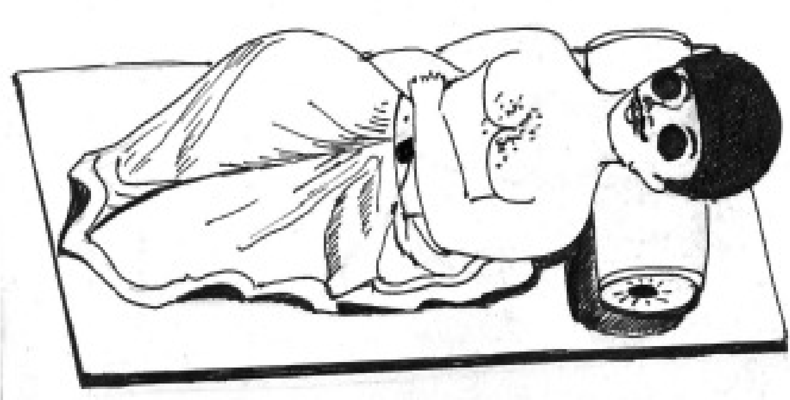

४९. परम्परा : वैखरी की

परा–वाक् की परम्परा अर्थात् वचनों की उत्पत्ति कैसे होती है ? पूर्व में कभी नहीं सुनी और अपरिचित भी रही, क्योंकि वह लौकिक शास्त्रों के अनुसार योगियों के ही ज्ञान का विषय बनती है, सो बताई जाती है। वायु के द्वारा संचालित मूल (योग शास्त्र के अनुसार मनुष्य के शरीर के भीतर का वह स्थान, जो गुदा और लिंग के बीच में स्थित है) से उत्पन्न, ऊर्ध्वमुखी हो ऊपर नाभि की ओर यात्रा करती है, फिर वहीं नाभि के चारों ओर घूमती हुई पश्यन्ती का रूप धरती है। चंचलता से युक्त, तरंग क्रम वाली ध्वनि अक्षर से रहित होती है, सो संयम से दूर रहकर मात्र विपश्यना की चर्चा करने वालों के द्वारा पकड़ में नहीं आती।

फिर वही पश्यन्ती घूमती–घूमती हृदय की ओर आ हृदय कमल को हिलाती है और उसकी खुली हुई प्रत्येक पंखुड़ी को सहलाती है, छूती है माँ के समान। हृदय मध्य में स्थित होने से मध्यमा कहलाती है। वह बालकवत्, जो पालक नहीं है अपितु निर्विकार है, वही माँ का स्वभाव जान पाता है, उसी प्रकार यह मध्यमा बालकवत् निर्विकार योगी को ही पकड़ में आती है, फिर वही मध्यमा अन्तः जगत् से बाहरी जगत् की ओर यात्रा करती हुई तालु, कण्ठ, जिह्वा आदि के योग से पुरुष के अभिप्रायानुसार अच्छे–बुरे वचनों में परिवर्तित हो सर्व साधारण के कर्ण इन्द्रिय का विषय बनती अर्थात् सुनने में आती है। 'वैखरी' कहलाती है।

पुण्य और पाप के भेद से प्रायः पुरुष का अभिप्राय दो प्रकार का मिलता है। पुण्य अर्थात् धर्म ही जिनका लक्ष्य है ऐसे सत्पुरुषों का वचन व्यापार दूसरों के हित के लिए ही होता है, जबकि पतित–पापी पुरुषों के वचन व्यापार का लक्ष्य दूसरों का अहित करना अथवा पीड़ा देना ही होता है।

रसना इन्द्रिय के वशीभूत हुए स्वादु व्यक्ति और राग–रंग को छोड़ आत्म–साधना में लगे साधुओं के मुख से निकली वाणी दोनों का नामकरण एक वैखरी ही क्यों ? ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पात्र के अनुसार अर्थ–भेद ही नहीं, शब्द–भेद भी है। सो आगे स्पष्ट है–

''सज्जन-मुख से निकली वाणी
'वै' यानी निश्चय से
'खरी' यानी सच्ची है,
सुख-सम्पदा की सम्पादिका।'' (पृ० ४०३)

बादलों से छूटकर गिरने वाली जल की धारा जैसे इक्षु/गन्ने का आश्रय पाकर मीठी/मिश्री के रूप में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार सज्जनों के मुख का आश्रय पा निकलने वाली वाणी, वैखरी वास्तव में सच्ची सत्य है और सच्चे सुख, सच्ची सम्पदा को देने वाली है–

''दुर्जन-मुख से निकली वाणी
'वै' यानी निश्चय से
'खली' यानी धूर्ता-पापिनी है,
सारहीना विपदा-प्रदायिनी।'' (पृ० ४०३)

वही जल की धारा जिस प्रकार नीम की जड़ में जाकर कटुता में परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार दुर्जन मुख का आश्रय पा, निकलने वाली वाणी निश्चय से छल स्वभाव वाली, पाप से भरी होती है। उसमें कुछ भी सार नहीं रहता वह संकटों, दुखों को देने वाली होती है। लगता है, यहाँ पर अज्ञान अथवा प्रमाद से 'ली' के स्थान पर 'री' का प्रयोग हो गया है। सही शब्द तो वैखली ही है।

इस पर भी यदि वैखरी ही पाठ स्वीकृत किया जाता हो तो इसका भिन्न पद्धति से भी अर्थ लिया जा सकता है। 'ख' का अर्थ होता है शून्य अथवा अभाव। इसीलिए 'ख' को छोड़कर शेष बचे दो अक्षरों को मिलाने पर 'वैरी' शब्द बनता है अर्थात् दुर्जनों का वाणी। स्व और पर के लिए वैरी यानी शत्रु का ही कार्य करती है, अतः उसे वै-खली या वैरी मानना ही उचित है।

५०. अतुलनीय उपचार : माटी का

आँखें खोलकर सेठ शुद्ध तत्त्व, परमात्मा की स्तुति करता है। पश्चात् परिवार के साथ चर्चा हुई, वैद्यों का परिचय मिला, वेदना का अनुभव बताया गया किन्तु निरन्तर जलन के कारण अभी भी आँखें पूरी तरह नहीं खुल पा रही हैं। प्रकाश को देखने की क्षमता अभी उनमें नहीं आयी है। रत्नों की कोमल किरणें तक अग्नि की चिनगारी-सी लग रही हैं। अनखुली आँखों को देख कुम्भ ने पुनः कहा–चिन्ता की कोई बात नहीं। मात्र हृदय स्थल को छोड़कर शरीर के किसी भी अवयव पर माटी का प्रयोग किया जा सकता है।

अधपका रुधिर से भरा घाव हो, भीतरी या बाहरी चोट हो, असहनीय कर्ण पीड़ा हो, बुखार से सिर फट रहा हो, नासा की नासूर ठंड से बह रही हो अथवा उष्णता से फूट गई हो और आधा सिरदर्द देता हो या पूरा–सभी अवस्थाओं में मिट्टी का प्रयोग लाभदायी होगा। यहाँ तक की हाथ-पैर की टूटी हड्डी भी माटी के योग

से शीघ्र ही जुड़ जाती है और फिर कुछ ही दिनों में कार्य पूर्ववत् प्रारम्भ हो सकता है। गुणों में अतुलनीय माटी की तुलना किससे करें और कहाँ तक माटी की महिमा का वर्णन करें ?

कुम्भ का इतना कहना ही पर्याप्त था कि–माटी की दो-दो तोले (१० ग्राम) की दो-दो गोलियाँ बना, उन्हें पूड़ियों-सा आकार दे सेठजी की दोनों आँखों पर रखी गईं और कुछ ही पलों में वैद्यों को सफलता के लक्षण दिखे। सो घड़ी-घड़ी (२४ मिनट) का अन्तराल देकर नाभि के निचले भाग पर भी योग्य विधि के अनुसार दिन व रात में छह-सात बार, छह-सात बार यह प्रयोग चलता रहा। माटी के उपचार की सफलता को देख वैद्यों ने भोजन-पान के विषय में भी कुम्भ के अनुरूप अपना अभिप्राय बताया।

माटी के पात्र में तपा-तपाकर, दूध को पूरा शीतल बना पेय के रूप में रोगी को देना है। और भी सुनो, उसी माटी के पात्र में अनुपात से जामन डाल, दूध को जमाकर दही बना, फिर मथानी से अच्छी तरह मथकर पूरा नवनीत निकाल शेष बचे निर्विकार तक्र (छाँछ) का सेवन कराना है। तथा मोती जैसी उजली, मधुर-पाचक-सात्त्विक कर्नाटकी ज्वार का हल्का-सा पतला रवेदार दलिया भी तक्र के साथ देना है, किन्तु दिन में संध्या-काल टालकर, क्योंकि सन्धिकाल में सूर्य तत्त्व का अवसान देखा जाता है और सुषुम्ना यानी उभय तत्त्व (चन्द्र-सूर्य) का उदय होता है, जो ध्यान-साधना का उपयुक्त समय माना गया है। कहा भी है–

"योग के काल में भोग का होना
रोग का कारण है,
और
भोग के काल में रोग का होना
शोक का कारण है।" (पृ० ४०७)

ध्यान आदि के काल में पञ्चेन्द्रियों के विषयों का भोग, सोना-खाना आदि रोग उत्पत्ति का कारण होता है तथा भोग के काल (युवावस्था) में रोग का होना ही दुख का कारण बनता है। फिर यह शोक की परम्परा का अन्त दीर्घ काल व्यतीत होने पर ही संभव होगा।

माटी के सफल प्रयोग से कुछ ही दिनों में सेठजी पूर्णतः स्वस्थ हो गये। जैसे तरह-तरह के छन्दों में मात्रा आदि के बन्धन के कारण कवि के अपने निर्मल भावों की स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता मिट जाती है, उसी प्रकार उपरिल कथित माटी

के उपचार से दाह रोग की स्वच्छन्दता भी दूर हुई अपने आप।

औषधि की उपयोगिता उसके कम-ज्यादा मूल्य से नहीं, अपितु रोग के शमन से होती है। ऐसा ही शास्त्र भी कहते हैं। फिर भी धनवानों और बुद्धिमानों की आस्था इससे विपरीत होती है अर्थात् बहुमूल्य औषधि ही रोग निवारक होती है, अल्प मूल्य वाली नहीं, किन्तु सेठजी इसके अपवाद हैं।

चिकित्सक दल को सेवा के अनुरूप पुरुस्कृत किया गया और अहिंसक पद्धति जीवित रहे दीर्घकाल तक, इसी सत् उद्देश्य से हर्ष से भीगी आँखों के साथ, विनय-अनुनय से झुके हुए सेठ ने स्वयं अपने हाथों से शाश्वत नौ अंक वाली राशि (९० या ९०० या ९००० अथवा १०८, १००८,१०००८)। भेंट की और दल की प्रसन्नता पर अपने को कृतकृत्य माना। जाते-जाते चिकित्सक दल ने मुड़कर सेठजी से कहा—यह सब उपकार तो माटी के कुम्भ का है। हम तो निमित्त मात्र उपचारक रहे। सही धन्यवाद-पुरस्कार का अधिकारी तो कुम्भ ही है और धन्यवाद देते, कुम्भ का आभार मानते हुए प्रस्थान करते हैं सभी।

विशेष—नौ अंक वाली राशि का अर्थ १० करोड़ से लेकर ९९ करोड़ तक भी लिया जा सकता है। अहिंसापरक चिकित्सा पद्धति चिरकाल तक जीवित रहे, इस उद्देश्य को लेकर यह लम्बी राशि चिकित्सकों (वैद्यों) को प्रदान की गई हो।

मूकमाटी, मानवीय विवेक की नई परतें खोलने का प्रयास है, जो उसे न केवल नए आयामों से परिचित कराती है अपितु जीवन विकास की विविध परिधियों की सीमाओं, सहजताओं, कठिनाइयों, साधनाओं एवं लक्ष्य के प्रति अवधानबद्ध यात्राओं को इस प्रकार अपने बीच बाँधती है कि अध्येता का मानस अपेक्षित दिशा में चलता हुआ रचनाकार के कथ्य का अनायास प्रत्यक्ष कर पाता है।

डॉ॰ सूर्यनारायण द्विवेदी
प्रवाचक-हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सोपान २६
अपमानित स्वर्ण कलश ने बुलाया आतंकवाद

एक बार पुनः आयी स्वर्ण-कलश के समक्ष आत्म ग्लानि की बात। चिन्ता से घिरा स्वर्ण-कलश इसे कलिकाल का प्रभाव ही कहता है जो यह लोक बहुमूल्य वस्तुओं को छोड़, काँच-कचरे का सम्मान कर रहा है। अब लोहे से लोहा लो।

मलयाचल चन्दन, सुगन्धित घी, रोगन तेल की मालिश करने की जगह माटी का लेप करना बुद्धि की अल्पता ही है। भोजन में भी दरिद्रता को निमंत्रण देना ही रोग का मूल कारण है। आय-व्यय की समीचीन व्यवस्था तथा मूर्च्छित सर्प समान बना स्वर्ण-कलश। कलशियों पर पड़ी कुम्भ की छाया देख कुम्भ ने कहा–रे कलशी! तुम अब कहाँ रही कल सी ? भीतर से उबलते स्वर्ण-कलश ने किया आतंकवाद को आमन्त्रित।

---

५१. सम्मान : काँच-कचरे का

माटी के उपचार द्वारा सेठजी को आरोग्य का लाभ मिलना, चिकित्सक दलों से माटी की प्रशंसा सुन एक बार और अपने सामने आत्म-ग्लानि, मान हानि की बात पैदा हो गई, यूँ कहता हुआ आत्मा की श्रद्धा से च्युत निष्कर्मा वनवासी के समान विवश हो उदासी में डूब जाता है, स्वर्ण-कलश।

इन उच्चकुलीन कर्णों को अब कुलहीनों की प्रशंसा सुननी है, वह भी धन के लोभी सज्जनों के मुख से। अब झूठी प्रशंसा सुनी नहीं जाती, लगता है कानों में कील ठोंक लूँ। सत्य धुँधला-धुँधला-सा होता जा रहा है। पतितों को पावन समझ, सम्मान के साथ ऊँचे सिंहासन पर बिठाया जा रहा है और पाप को खण्डित नष्ट करने वालों को पाखण्डी छली कहा जा रहा है।

ना ही कभी सोचा था और ना ही विश्वास था कि एक बार और मानवता के पतन की दुर्गन्ध इस नासा को मूर्च्छित करेगी, पीड़ा देगी मन को। इतना कहने के बाद भी स्वर्ण-कलश का गुस्सा शान्त नहीं हुआ और चिन्ता से घिरी गम्भीर मुद्रा लिए हुए वह कुछ और कहता है–

> **''इसे कलिकाल का प्रभाव ही कहना होगा**
> **किंवा**

अन्धकार-मय भविष्य की आभा,
जो
मौलिक वस्तुओं के उपभोग से
विमुख हो रहा है संसार!
और
लौकिक वस्तुओं के उपभोग में
प्रमुख हो रहा है, धिक्कार।'' (पृ० ४११)

इसे कलियुग का ही असर कहा जा सकता है अथवा आने वाले अंधकारमय काल का संकेत कि यह संसार मूल्यवान वस्तुओं के उपभोग से दूर रह रहा है और साधारण वस्तुओं के उपभोग को ही स्वीकार कर रहा है।

चमचमाती मणियों की मालाएँ, सुन्दर मोतियों की लड़ियाँ, हीरों के हार, तोते की चोंच को भी लजाने वाले मूँगे, मयूर कण्ठ की नीलिमा-सम नीले नीलम, केसरिया पुखराज, पारदर्शी स्फटिक, अग्नि के समान लाल होते हुए भी शान्त किरणों के समूह माणिक-इन सबके उपयोग से यह संसार दूर हो रहा है। जबकि इनमें केवल शीतलता ही नहीं मिलती अपितु मधुमेह, खाँसी, श्वास, क्षय रोग आदि-आदि राज रोग भी दूर होते हैं तथा इनको धारण करने से प्रायः प्रतिकूल ग्रहों का प्रभाव भी नहीं पड़ता, किन्तु आज इन्हें छोड़ काँच-कचरे का ही सम्मान हो रहा है, उसे ही स्वीकारा जा रहा है।

सोने के घट, कलश, थालियाँ, चाँदी के लोटे, प्याले, ताँबे के कुम्भ, कढ़ाई, बड़ी परात-भगोनियाँ आदि-आदि मौलिक बर्तनों को बेचकर जघन्य, सदोष स्टील (लोहे) के बर्तनों को धनी और बुद्धिमान भी खरीद रहे हैं। सर्वत्र इस्पात का ही स्वागत देखा जा रहा है। जेल में अपराधी के हाथ-पैरों में लोहे की बेड़ियाँ हैं तो **नवयुवक-युवतियों के हाथ में भी लोहे के कड़े मिलते हैं। समझ में नहीं आता कि क्या यही विज्ञान है। यही विकास है!** लगता है सोना सो गया यानी समाप्त हो गया। अब लोहे से ही लोहा लेना होगा अर्थात् काम चलाना पड़ेगा।

५२. व्यवस्था : आय-व्यय की

सुनो! सुनो! कुछ और सुनो-कलिकाल की महिमा, चाँदनी रात में चन्द्रकान्त मणि से झरा उज्ज्वल जल ले, मलयाचल का चन्दन घिसकर ललाट तल और नाभि पर किया गया लेप, दाह रोग के उपशमन हेतु वरदान माना गया है। यह सुना

भी है और अनुभव भी है कि तुरन्त निकाले गये ताजे सुगन्धित घी में अनुपात से कपूर मिलाकर, उसे घुलाकर हल्की-हल्की अँगुलियों से मस्तक के मध्यभाग ब्रह्मरन्ध पर और **मालिश की कला में कुशलों द्वारा रोगन आदि गुणकारी बादाम तेल का रीढ़ में मलना दाह के उपशमन में रामबाण (अचूक) उपचार माना गया है,** किन्तु विद्वानों द्वारा सम्मत इन उचित उपचारों को उपेक्षित कर माटी के कीचड़ का लेप करना बुद्धि की कमी ही मानी जायेगी।

भोजन-पान के विषय में भी ऐसा ही कुछ घटित हो रहा है। स्वादिष्ट बलवर्द्धक दूध का सेवन, ओज और तेज को देने वाले घी का भोजन, अकाल मरण को दूर करने वाला, भावों को सात्त्विक शान्त बनाने वाले दही से निर्मित अनेक पकवान और व्यञ्जनों की उपेक्षा की गई, उसी का यह फल निकला कि सेठजी भी ज्वर रोग से घिर गये और सत्त्व-शक्ति से रहित ज्वार के दलिए के साथ, सार रहित नीरस छाछ का सेवन करना दरिद्रता को निमन्त्रण देना है। एक बात और कहना है-

''धन का मितव्यय करो, अतिव्यय नहीं
अपव्यय हो तो कभी नहीं,
भूलकर स्वप्न में भी नहीं।
और
अव्यय हो तो...सर्वोत्तम!'' (पृ० ४१४)

पुण्योदय से यदि धन-सम्पदा मिली है तो उसको खर्च करते समय इतना ध्यान रखना चाहिए की सीमित मात्रा में खर्च हो, अत्यधिक नहीं। व्यर्थ का खर्चा तो कभी भी नहीं, स्वप्न में भी नहीं और बिल्कुल भी खर्च न हो तो सबसे ज्यादा श्रेष्ठ। ऐसी धारणा वस्तु तत्त्व को छूती नहीं अर्थात् वास्तविक ज्ञान का अभाव प्रदर्शित करती है।

क्योंकि वास्तव में देखा जाये तो प्रत्येक पदार्थ में उतना ही व्यय होता है, जितनी आय और उतनी ही आय होती है, जितना व्यय।

विशेष—जैसे संसार में स्थित असंख्यात त्रस जीवों में से ६ माह और ८ समय में ६०८ जीव मुक्त होते हैं तो उतने ही जीव निगोद पर्याय को छोड़कर त्रस पर्याय को धारण कर लेते हैं, अतः त्रस राशि हमेशा एक जैसी बनी रहती है, कम ज्यादा नहीं होती।

इसी प्रकार आय और व्यय की यह व्यवस्था ही शाश्वत सत्य है। फिर ऐसी

स्थिति में अतिव्यय और अपव्यय का हो प्रश्न ही शेष नहीं रहता।

वस्तुतः देखा जाये तो हमारे पुरुषार्थ से वस्तु स्वरूप में कभी भी परिवर्तन आ ही नहीं सकता। फिर भी राग–द्वेष से लिप्त हमारे मन में परिवर्तन का भाव आ सकता, आता है और यही तो संसार का मूल कारण है अहंभाव। इससे यही फलित हुआ–

''सिद्धान्त अपना नहीं हो सकता

सिद्धान्त को अपना सकते हम।'' (पृ० ४१५)

हमारे अपने विचार, अपना चिन्तन सो सिद्धान्त या आगम वाक्य नहीं हो सकता, किन्तु हम चाहें तो जिनोपदिष्ट सिद्धान्त वचनों को स्वीकार कर अपना हित कर सकते हैं।

जैनाचार्य सन्त कवि श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा विरचित 'मूकमाटी' युगप्रवर्तक महाकाव्य है। यह महाकाव्य ही नहीं, अपितु धर्म, दर्शन, अध्यात्म तथा चेतना का अभिनव शास्त्र है।

यह आधुनिक युग की 'मनुस्मृति' और 'गीता' भी है। यदि 'रामायण', 'महाभारत', 'पउमचरिउ' तथा 'रामचरितमानस' के रचयिता वाल्मीकि, व्यास, स्वयम्भू और तुलसी सन्त कवि हैं तो 'मूकमाटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागर भी वीतराग सन्त कवि हैं।

सूफी सन्त महाकवि मलिक मोहम्मद जायसी का महाकाव्य 'पद्मावत' यदि आध्यात्मिक रूपक है, महाकवि जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' यदि मनोवैज्ञानिक रूपक है तो 'मूकमाटी' धार्मिक रूपक है। वस्तुतः यह हिन्दी काव्य जगत् का गौरव ग्रन्थ है।

डॉ० परमेश्वर दत्त शर्मा
पूर्व प्रोफेसर–हिन्दी विभाग
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर, मध्यप्रदेश

सोपान २७
आपत्ति में फँसा सेठ परिवार

आतंकवाद के अवतार का कारण, गुपचुप स्वर्ण-कलश की सहचरों के साथ मन्त्रणा, आतंकवादी हमले के लिए दिन, समय की निश्चितता। इसी बीच पात्रों में ही असन्तुष्ट दल का निर्माण, जिसकी संचालिका है स्फटिक की झारी और उसके पक्ष में हुए अनेक चमचे, प्याले, प्यालियाँ।

झारी का उद्बोधन स्वर्ण कलश के लिए—माँ सत्ता के चरणों में नमन करो, तर जाओगे।

झारी की बात सुन और उत्तेजित हुआ स्वर्ण कलश जोरदार गर्जना करता है—एक को भी नहीं छोड़ूँगा।

झारी ने माटी के कुम्भ को संकेत दिया, सो कुम्भ के निर्देशानुसार कुम्भ को साथ ले सेठ परिवार प्रासाद के पिछले पथ से निकलता हुआ सघन वन में प्रविष्ट होता है। तरुवर की छाँव में आश्रय पा शान्ति का वेदन करता है, तभी वंश पंक्तियों द्वारा कुम्भ के पदों में वंश-मुक्ता की वर्षा होती है। इसी बीच सिंह से सताया हुआ हाथियों का समूह परिवार की अभय छाँव में आता है और गज-मुक्ता प्रदान करता है, धरती की गोद में गिरे वंश-मुक्ता और गज-मुक्ता एक दूसरे में मिलते हैं।

आगे चलने के लिए परिवार उठता है, कुछ कदम आगे बढ़ने पर पीछे से आतंकवाद का आना, दल की काया-माया की व्याख्या, संपुष्ट देह का कारण और ध्येय। गज-दल परिवार को घेर लेता है। भयंकर चिंघाड़ से धूल बन भू पर गिरती वामियों से निकलते अनगिनत सर्प, परिवार को निर्दोष देख प्रधान सर्प सब सर्पों से कहता है—आतंकवाद को काटना नहीं, सिर्फ शह देना है, प्राण-दण्ड की समीक्षा।

भयभीत हुआ आतंकवाद वनी में जा छिपा, नाग-नागिन ने कही उरग शब्द की सार्थकता, पदवालों की समीक्षा और नागफणों से नाग-मुक्ता का अर्पण।

५३. आमंत्रित हुआ : आतंकवाद

अन्त-अन्त में बिना छने तेल के कारण भभकते दीपक के समान आवेश में आकर ईर्ष्यावश स्वर्ण-कलश ने परिवार सहित सेठ को, पीठ पीछे वैद्य दल को

और माटी के कुम्भ को भी बहुत कुछ कह सुनाया परन्तु सबने शान्त भाव से सब कुछ सुन लिया। माहौल पूर्ववत् ही शान्त बना रहा। वैसे भी क्षमा के आगे क्रोध ज्यादा देर तक टिक नहीं सकता। जिसे सर्प काटता है वह मर भी सकता है और नहीं भी, उसे जहर चढ़ भी सकता है और नहीं भी, किन्तु काटने के बाद सर्प अवश्य मूर्च्छित हो जाता है।

मूर्च्छित सर्प-सी दशा स्वर्ण-कलश की हो रही है, उसी का प्रभाव छोटी-छोटी सोने-चाँदी की कलशियों पर भी पड़ रहा है। कुछ समय तक शान्त वातावरण, मौनी माहौल चलता रहा फिर सौम्य भावों से भरे कुम्भ ने स्वयं स्वर्ण-कलशी से कहा कि ओरी कलशी! तू कल जैसी सुन्दर, कमनीयता वाली, मधुर मुस्कान लिए नहीं दिख रही है। लगता है तेरी बुद्धि सही काम नहीं कर रही है, तू तेज रहित, छोटी-सी मुख-मुद्रा ले, यहाँ अकेली काया ले पड़ी है। भले तू कल की नकल-सी कर रही है, पर आज कहाँ दिख रही है तू कल...सी रे कलशी!

कुम्भ द्वारा व्यंग्यात्मक शब्द सुन, अपने को हँसी का पात्र समझ मूल्यहीन, उपेक्षित मान भीतर ही भीतर जलता-घुटता हुआ स्वर्ण-कलश बदले के भाव से भर गया। बदले के भाव से भरे स्वर्ण-कलश ने परिवार सहित सेठ और कुम्भ को नष्ट करने हेतु षड्यन्त्र रचा, आतंकवाद को आमंत्रित करने का दिन और समय भी निश्चित हुआ। यह बात भी जानना होगा कि आतंकवाद का जन्म कैसे होता है। यह निश्चय है–

> **''मान को टीस पहुँचने से ही,**
> **आतंकवाद का अवतार होता है।**
> **अति-पोषण या अति-शोषण का भी**
> **यही परिणाम होता है,**
> **तब**
> **जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,**
> **बदले का भाव...प्रतिशोध!'' (पृ० ४१८)**

मान को धक्का लगते ही, अतिपोषण-प्रोत्साहन, सम्मान, धन आदि होने से तथा अतिशोषण, दुत्कार-तिरस्कार, धनहीनता (गरीबी) होने से ही आतंकवाद का उदय होता है। तब जीवन का लक्ष्य शोध, कुछ नव निर्माण से बदलकर प्रतिशोध, दूसरों को कष्ट पहुँचाना, उपद्रव करना ही बन जाता है, जो कि महान् अज्ञानता और दूरदर्शिता के अभाव का प्रतीक है। उसका परिणाम मात्र दूसरों के लिए ही

नहीं, किन्तु स्वयं के लिए भी गलत, घातक सिद्ध होता है।

इधर स्वर्ण-कलश ने अपने साथियों और सेवकों, अनुचरों से मिलकर इस विषय में गुप-चुप मन्त्रणा की। इस बात की खबर परिवारजनों को नहीं लग पाई, सो ठीक ही है।

''सभ्यों की नासिका वह
भूखी रह सकती है, पर
भूल कर स्वप्न में भी
दुर्गन्ध की ओर जाती नहीं।'' (पृ० ४१८)

जो सज्जन व्यक्ति होते हैं, वे भले ही किसी का भला कर पावें अथवा नहीं, किन्तु भूलकर भी कभी किसी का बुरा नहीं सोचते। भौंरा और मक्खी दोनों गंध का सेवन करना चाहते हैं, किन्तु जिस प्रकार मक्खी मल, मूत्र, कफ और मांस आदि में फँसकर मर जाती है उस प्रकार सुगन्ध से भरे फूलों की गन्ध छोड़कर भौंरा कभी भी इन गन्दे पदार्थों पर नहीं बैठता।

५४. एक नेक सलाह : झारी की

आतंकवाद के आने का दिन और समय निश्चित हुआ। आज आधी रात को आपत्ति की आँधी ले आयेगा वह, किन्तु स्वर्ण-कलश के सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। उसी के दल में से एक असंतुष्ट दल का निर्माण हुआ, जिसने इस कार्य को अन्याय, असभ्यता कहकर नकारा है, अपने सहयोग की स्वीकृति प्रदान नहीं की। उस दल की संचालिका स्फटिक झारी ने कहा कि न्याय की वेदी पर अन्याय का ताण्डव नृत्य मत करो। धीरे-धीरे झारी का पक्ष मजबूत होता चला गया और पूर्व में जिन के मन में कुम्भ के प्रति द्वेष और पक्षपात का भाव था, ऐसे लगभग सभी बर्तन, चाँदी के कलश-कलशियाँ, चमचियाँ, ताँबे के बर्तन, कटोरे-कटोरियाँ आदि बर्तनों ने स्वर्ण-कलश के पक्ष को ठुकरा कर झारी को अपना समर्थन दिया है।

इन परिस्थितियों को देख पुनः समझाने का भाव ले झारी स्वर्ण-कलश से कहती है-

''जो माँ-सत्ता की ओर बढ़ रहा है
समता की सीढ़ियाँ चढ़ रहा है
उसकी दृष्टि में
सोने की गिट्टी और मिट्टी

एक है
और है ऐसा ही तत्त्व!'' (पृ० ४२०)

जो माँ सत्ता यानी शाश्वत सत्य की खोज में बढ़ रहा है, समता का जिसने आश्रय लिया और अपने भीतर समता का विकास कर रहा है, ऐसे **साधक की दृष्टि में सोने का टुकड़ा और पत्थर दोनों समान ही हैं। यही तत्त्व दृष्टि है** कि दोनों पुद्गल की पर्याय हैं, निज से भिन्न हैं। अतः अवसर का लाभ लो। मान को कम कर हठाग्रह को छोड़, जो वर्धमान होकर मान से रहित हैं उनके चरणों को नमस्कार करो, तुम भी इस अपार पाप-सागर से पार हो जाओगे।

मन्दोदरी द्वारा सीता को छोड़ देने की बात समझाने पर भी जैसे रावण को कुछ समझ में ना आया उसी प्रकार झारी की बातों का स्वर्ण-कलश पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अपितु उबलते तेल के कड़ाव में जल की चार-पाँच बूँदें गिरीं सी अनियन्त्रित दशा, क्षोभ का दर्शन ही हुआ, स्वर्ण-कलश के मुख पर। फिर उत्तेजित हुआ स्वर्ण-कलश कहने लगा—एक को भी नहीं छोड़ूँगा। तुम्हारे ऊपर दया करना अब सम्भव नहीं, प्रलयकाल का ही दर्शन तुम्हें करना होगा।

५५. पलायित हुआ परिवार

फिर निर्धारित समय से पूर्व ही दुर्घटना घटने की सम्भावना देख झारी ने माटी के कुम्भ को संकेत दिया बस इस आशय से कि अड़ोस पड़ोस की जनता भी इस दुर्घटना का शिकार न हो। कुम्भ ने भी सेठ से कहा कि तुरन्त परिवार सहित यहाँ से दूर निकलना चाहिए देरी करने से अनर्थ हो सकता है और भवन के पिछले पथ से पूरा परिवार निकल गया। किसी को पता भी नहीं चला, यहाँ तक कि झारी को भी नहीं, क्योंकि बताने जैसी परिस्थिति भी तो नहीं थी और फिर—

''विश्वस्त भले ही हुआ हो
सद्यः परिचित के कानों तक
गहरी-बात पूरी-बात
अभी नहीं पहुँचनी चाहिए।'' (पृ० ४२२)

भले ही उस पर विश्वास है, फिर भी तुरन्त परिचित हुए से रहस्य की गंभीर बातें, पूरी बातें नहीं बताना चाहिए, यह ही उचित है। सेठ के हाथ में कुम्भ है तथा पीछे-पीछे पूरा का पूरा पाप-भीरू परिवार चल रहा है। बीच-बीच में पीछे-पीछे मुड़कर देखते हैं सब तथा नगर के द्वार आदि को पार कर घने जंगल में पहुँच जाते हैं।

ऊँचे-ऊँचे, हरे-भरे वृक्ष खड़े हैं, जिनकी छाया रूपी दरी धरती पर बिछी है। अतिथि को बुलाती-सी विश्राम करने को कह रही है। सो पूरा परिवार अभयता महसूस करता जीव-जन्तु रहित प्रासुक भूमि पर कुछ समय के लिए बैठ जाता है। परिवार का पसीने से लथपथ शरीर, खेद से आहत मन शीतल हवा का स्पर्श पा शान्ति का वेदन करता है। युगों-युगों की वंश परम्परा से वंशीधर के अधरों का प्यार भरा अमृत मिला जिन्हें, अमंगल को दूर कर मंगल करने वाले, तोरण द्वारों का अनुकरण करते, मांसल बाँहों के समान भरे हुए पुष्ट, पास में ही खड़े हुए बाँस के वृक्षों की पंक्तियों ने कुम्भ के चरणों में नमन किया और आँसुओं के बहाने परमात्मा के समान अत्यधिक निर्मल वंश-मुक्ता की वर्षा की।

इसी बीच सिंह से भयभीत अभय स्थान की खोज करता हुआ हाथियों के झुण्ड को अपनी ओर आता देख सेठ परिवार ने प्रेम भरी आँखों से उन्हें बुलाया। कहा-डरो मत, आओ-इधर आओ भाई! फिर क्या परिवार की चरण-शरण में आ गज-दलों ने माँ की गोद में शिशु-सम निशंक हो अपूर्व शान्ति का अनुभव किया। इस अवसर पर हाथियों ने भी विनीत भाव से कुम्भ के सम्मुख मुक्ता-राशि को चढ़ाया। सो इसी कारण यह मुक्ता गज-मुक्ता के नाम से विख्यात है। धरती पर पड़े वंश-मुक्ता और गज-मुक्ता एक-दूसरे से मिले दूर-दूर तक अपनी आभा फैलाने लगे। मुक्ताओं के बीच आत्मीयता का दर्शन हो रहा है और स्व-पर का भेद दूर-सा हुआ। बस चारों ओर रह गई है आभा...आभा...!

५६. आया दल : आतंकवाद का

जब भ्रम दूर हुआ, श्रम टलते ही तन-मन की स्वस्थता होते ही सेठ परिवार आगे चलने के लिए उठ खड़ा हुआ कि पीछे से गरजती हुई जन दल के मुख से निकली कानों को बहरा करती, हिंसा ही जीविका है जिसकी, आक्रामक भाव को लिए भयंकर ध्वनि सुनाई पड़ी। अरे कायरो पापी! धर्म के नाम पर अधर्म करने वालो ठहरो, भाग कर कहाँ जाओगे अब, शरीर का मोह छोड़ो और मरने के लिए तैयार हो जाओ। परिवार ने मुड़कर देखा तो दिखा आतंकवाद का दल, हाथियों को भी हताहत अर्थात् मृत और घायल करने वाला, क्रोध से भरे जिनके होठों से खून टपक रहा है, शरीर गठीला और मन हठीला बना है जिनका। काले-काले लम्बे बाल वाले, आँखें आग-सी उगल रही हैं, त्रिकोणी तिलक कुमकुम का, काली काया, उठी हुई मूँछों वाले, जिनकी बाहुओं में निम्बू फल बँधे हैं, जिनके अंग-अंग से क्रूरता झलक रही है, ऐसा है आतंकवाद का दल। प्रायः सम्पुष्ट शरीर दया

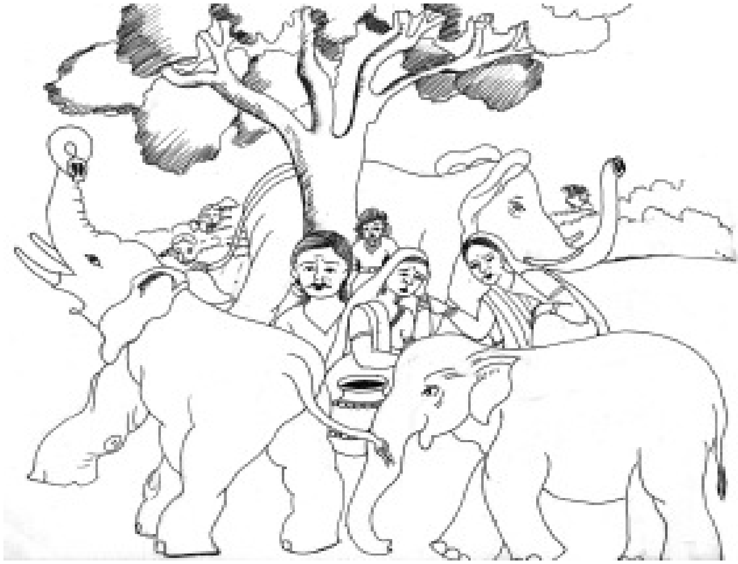

छोड़, हिंसक वृत्ति से ही बनता है। तभी सन्तों ने कहा है—

''अरे देहिन्!
द्युति-दीप्त-संपुष्ट देह
जीवन का ध्येय नहीं है,
देह-नेह करने से ही
आज तक तुझे
विदेह-पद उपलब्ध नहीं हुआ।'' (पृ० ४२८-४२९)

हे देहधारी मानव! जीवन का लक्ष्य सुन्दर, कांतिवान, हृष्ट-पुष्ट शरीर का निर्माण करना नहीं होना चाहिए, क्योंकि देह के प्रति राग, मोह करने का ही यह परिणाम है कि आज तक तुझे देह से रहित, देहातीत सिद्धावस्था की प्राप्ति नहीं हुई है।

दया से रहित दुष्टों द्वारा, दयालीन[१] शिष्टों पर आक्रमण होता गजदलों ने भी देखा और सोचते हैं वे, आर्यों का प्रथम कर्त्तव्य परिवार की रक्षा करना है, सो गज-दल परिवार को बीच में कर चारों ओर से खड़ा हो गया। हाथियों का समूह जोरदार चिंघाड़ करने लगा, सो इस गर्जना से पूरा आकाश मण्डल गूँज उठा, धरती का धैर्य हिल उठा, पर्वत भी घबरा गये, पंछी भयभीत हो दूसरों के घोंसलों में घुस गये,

१. दयालीन = जिनका मन दया के कार्यों में लगा रहता है।

अजगरों की गाढ़ निद्रा टूट गई, लोगों को बुखार-सा चढ़ गया अर्थात् शरीर तप गया, हिरण-दल मार्ग से भटक सिंह के सम्मुख जा खड़ा हुआ, सर्पों की वामियाँ धूल बनकर धरती पर गिर पड़ीं, जिससे क्रूर विषधर बाहर निकल आए और फण उठाकर बाधक तत्त्व को देख रहे हैं। तुरन्त ही विषधरों को विप्लव (उत्पात, उपद्रव, विपत्ति) का मूल कारण ज्ञात हुआ।

५७. अपराध : एक प्रकार का

प्रभु के स्मरण में लीन परिवार निर्दोष पाया गया, गज-दल क्रोधित पाया गया, जो परिवार के रक्षण में लगा हुआ है और पारिशेष न्याय[१] से बचा हुआ दल सदोष पाया गया। जो सबके भक्षण में लगा है। फिर क्या पूछना, प्रधान सर्प ने कहा सबसे-इनकी उद्दण्डता दूर हो इस हेतु इन्हें शह (सबक) देना है, किसी को भी काटना नहीं, मारना नहीं, क्योंकि-हम भी मानते हैं-

''दण्डों में अन्तिम दण्ड
प्राणदण्ड होता है।
प्राणदण्ड से
औरों को तो शिक्षा मिलती है
परन्तु
जिसे दण्ड दिया जा रहा है
उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।'' (पृ० ४३१)

अन्तिम दण्ड प्राणदण्ड होते हुए भी जिसे दण्ड दिया जा रहा है, उसे देखकर दूसरों को भले ही कुछ सीख मिल जाये, किन्तु उसके लिए तो सुधार के सारे रास्ते ही बन्द हो जाते हैं। दण्ड संहिता माने या ना माने किन्तु **क्रूर अपराधी को भी क्रूरता से दण्डित करना न्याय-मार्ग से दूर जाना, एक प्रकार का अपराध ही है।**

चारों ओर जहाँ देखो वहीं अनगिन (जिन्हें गिना न जा सके) नाग-नागिन देख ऐसा लग रहा है मानो नागेन्द्र ही पाताल से परिवार सहित धरती पर आया हो, पतितों-दुखियों का सहयोग करने। यह पहली बार घटित घटना है कि आतंकवाद स्वयं भयभीत हो पीछे भागने लगा। कीचड़ में फँसे हाथियों के समान उसका बल निष्क्रिय हुआ, सागर की ओर बहती नदी के समान चुपचाप आतंकवाद सघन वन

---

१. पारिशेष न्याय = यह भी नहीं, यह भी नहीं तो शेष जो यह ही रहा, ऐसा अनुमान लगा लेते हैं। १० व्यक्तियों में ५ पुरुष, ३ स्त्रियाँ, शेष बचे २ बच्चे हैं, ऐसा अनुमान लगा लेना।

में जा छुपा।

संहार की बात मत करो अपितु संघर्ष करते चलो। हार की बात मत करो उत्कर्ष करते चलो अर्थात् दूसरों को नीचा दिखाने, ठगने की मत सोचो, किन्तु अपने जीवन को श्रेष्ठ-अच्छा बनाने का प्रयास करो और फिर टूटी हुई घायल डाल पर रसदार फल लगते नहीं, लग भी जायें तो पकते नहीं। यदि काल पाकर पक भी जायें तो खाने वाले को उस रसदार फल का कुछ स्वाद नहीं आता, कारण कि शुरू से ही विपरीत, विकृत परिस्थिति जो रही उसकी।

५८. पदों की बात : अपदों के मुख से

इस प्रकार सर्प समाज में से एक नाग-नागिन का युगल कहने लगा—हे श्रेष्ठ पुण्यशाली मानव! हमें सदा विषैले, हानिकारक, पर-पीड़ादायक नाग, नागिन ही ना गिनो अर्थात् नहीं समझो। युगों-युगों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारी वंश परम्परा ने आज तक किसी कारणवश किसी को भी पैरों से नहीं कुचला। कारण कि पैरों से रहित जो रहे हम। इसी कारण सन्तों ने हमारा सार्थक नाम उर (छाती) से गमन करने वाले 'उरग' रखा।

हाँ ! यदि हम पर कोई पैर रखे, हमें छेड़े तो फिर हम भी उसे छोड़ते नहीं। जघन्य स्वार्थसिद्धि के लिए हमने कभी किसी को पद-दलित नहीं किया। बल्कि जो पद-दलित हैं, उन्हें प्रेम से पुचकारा है, उनके घावों को सहलाया है। काँटों को भी कभी काटा नहीं, उन्हें सदा प्रेम भरा आलिंगन ही दिया है, क्योंकि वे शोषित हैं। देखो डाल-डाल में भरे रस को चूसा फूलों ने, यश भी पाया फूलों ने, फल यह निकला कि सूख-सूख कर शेष काँटे ही बचे। एक बात और कहनी है—

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु
पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।
प्रभु से प्रार्थना है कि
अपद ही बने रहें हम!
जितने भी पद हैं
वह विपदाओं के आस्पद हैं।" (पृ० ४३४)

पैर वाले ही तुच्छ पदों की आकांक्षा ले दूसरों को अपने पैरों के नीचे दबाते हैं, हिंसादि पाप-प्रपञ्च करते हैं। सभी पद संकट के ही कारण बनते हैं, अतः प्रभु से यही प्रार्थना है कि हम बिना पद वाले अपद ही बने रहें। पद की चाह भविष्य

में भी हमारे मन में पैदा न हो, यही भावना है।

अपदों के मुख से पदों की, पद वालों की परिणति, रीति–नीति सुन कर परिवार कीलित–सा हुआ, चार पैर वाले हाथी भी परिस्पंदन से रहित यन्त्रवत् जड़ हुए। सबके पैर बर्फ के समान जम गये हों।

परिवार सहित हाथियों के समूह को उदासी में डूबा देख सम्हलते हुए सर्पों ने कहा—क्षमा करें! क्षमा करें! क्षमा चाहते हैं हम। हमारा पूर्ण आशय प्रकट न हो सका, जितने भी पद वाले होते हैं, सभी ऐसे ही होते हैं ऐसा नहीं, कुछ पद ऐसे भी होते हैं, जिनकी पूजा के लिए जीवन तरसता है। हम भी तरस रहे थे बहुत काल से। सो आज खुशी की घड़ी आ ही गई और हर्ष के आँसुओं से भरी हुई आँखों से पूज्य पदों का अभिषेक–वन्दन हुआ, फिर नाग–नागिनों ने फण फैला मणियों का अर्पण किया धन्य! धन्यतम! माना सर्प समाज ने स्वयं को।

सर्पों ने नमन किया। सबका अहंकार दूर हुआ। बाहर भले ही मारपीट का वातावरण–सा दिख रहा है, पर भीतर सबका एक–दूसरे के प्रति स्नेह का भाव चल रहा है और यहाँ एक मौलिक, किन्तु अलौकिक सुनने योग्य काव्य की रचना हुई, सो इसको रचने वाला कौन है ? कहाँ है वह, क्यों मौन है वह ? नम्र बुद्धि वाला, मानवों में श्रेष्ठ, अरिहन्तादिकों के आचरण को धारण करने वाला।

आचार्य श्री विद्यासागरजी एक कवि से बढ़कर श्रेष्ठ जैनाचार्य हैं, जो अपने धर्माचरण में निष्ठावान् और तदनुसार कठोर तपस्वी हैं। प्रज्ञाचक्षु, तपस्यारत आचार्य जी कवि कल्पना की अपूर्व सिद्धि से भी अनुगृहीत हैं। इसलिए लोक जीवन के प्राकृतिक उपादानों के रंगों से परमार्थ के रहस्यों का मोहकचित्र तैयार करने में पूर्णतः सफल बने हैं। इस सहज अभिव्यक्ति को योग परिणाम का वरदान मान सकते हैं। योग और कवित्व के संयोग से एक अमर रचना का प्रणयन हुआ है!! यही मूकमाटी है। इस रचना का मूलतः लक्ष्य जीवन को अमरत्व का संदेश देना है। अतः इसे मात्र एक रोचक महाकाव्य न मानकर एक अपूर्व एवं सांस्कृतिक तथा सोद्देश्य चेतन परिणति मानना ही संगत होगा।

डॉ॰ एन॰ चन्द्रशेखरन नायर 'देशरत्न'
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष – हिन्दी विभाग
महात्मा गाँधी कॉलेज, तिरुवन्तपुरम् (केरल)

सोपान २८
मूसलाधार वर्षा में कुम्भ का सहारा

झाड़ियों में छुपा आतंकवाद निन्दा की दृष्टि से बाहर झाँक रहा है, अपनी हार से उच्छृंखल हुआ, मंत्रित नींबू आकाश में उछालता है तुरन्त घनी-घनी मेघों की घटाएँ, आँधी तूफान, बिजली की चमक और मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ।

इधर गज-दल द्वारा परिवार का रक्षण, नदी तट पर पहुँचा परिवार नदी का उफान देख लौटने का मन बनाता है तभी कुम्भ लेता है आतंकवाद को नष्ट करने का दृढ़-संकल्प। निर्भय हो कुम्भ में तथा अपनी-अपनी कमर में रस्सी बाँध नदी में कूदने का निर्देश, बन्धन नहीं स्वतन्त्रता की बात कुम्भ द्वारा। परिवार द्वारा निर्देश का अनुकरण, नदी में कूदा, डूबा परिवार, ऊपर मुख मात्र दिख रहे हैं। जलीय जन्तुओं की वृत्ति में परिवर्तन, जल में उल्टी क्रांति, उफनती नदी परिवार के गालों पर तमाचा मारती, नाली-नदी संज्ञा की सार्थकता कहती है। नदी मुख से स्वयं की प्रशंसा सुन सेठ कहता है—धरणी को हृदय में धारण कर अपनी करनी सुधारो।

सेठ की समालोचना सुन लोहित हो नदी, भँवरदार लहरों में डुबाने का प्रयास। परिवार का धैर्य घट ना जाये, इसीलिए कुम्भ ने नदी को ललकारा, महामत्स्य ने मत्स्य-मुक्ता प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप नदी का उफान शान्त हुआ, लगभग आधी यात्रा हो चुकी है और प्रसन्नचित्त है कुम्भ।

५९. प्रारम्भ हुई : मूसलाधार वर्षा

नाग-नागिनों द्वारा पूजित परिवार, संरक्षण में लगे गज-दल को झाड़ियों में छुपा आतंकवाद निन्दा की नजरों से बार-बार, झाँक-झाँक कर देख रहा है। कल्पना से बाहर घटित इस घटना को देख वह पुनः और अधिक भयभीत हुआ, व्याकुलता, उत्तेजना और मानहानि से उत्पन्न हुई स्वच्छन्दता के ताप से। और फिर बलशाली के समक्ष निर्बल इसके सिवा कर भी क्या सकता है ?

काले-काले सघन बादलों की इच्छा के साथ ही, साधित मन्त्रों से मन्त्रित सात नींबू, जो कि काली डोर से बँधे हैं, शून्य आकाश में उछाल देता है वह। फिर तुरन्त ही फल सामने आ गया। यह सब एकाग्रता का परिणाम है, क्योंकि—

''मन्त्र-प्रयोग करने वाला
सदाशयी हो या दुराशयी

इसमें कोई नियम नहीं है।
नियन्त्रित-मना हो बस!
यही नियम है, यही नियोग,
और यही हुआ।'' (पृ० ४३७)

अच्छा-बुरा कैसा भी उद्देश्य हो यदि मन्त्र प्रयोगकर्ता स्थिरचित्त वाला हो तो मन्त्र नियम से कार्य करता है और यहाँ भी यही घटित हुआ।

घने-घने बादलों की काली-काली घटाएँ आकाश में डोलने लगीं, चारों ओर घना अंधकार छा गया, लगता है रव-रव नामक सप्तम नरक की रात्रि ही ऊपर आ गई है। प्रचण्ड पवन बहने लगा अर्थात् भयंकर तूफान प्रारम्भ हुआ जिससे पर्वत भी हिलने लगे, शिखर टूट कर गिरने लगे, वृक्षों में संघर्ष छिड़-गया, बड़े-बड़े वृक्ष जड़ सहित उखड़ गये और शीर्षासन करने लगे तथा बाँस दण्डवत् हो धरती की छाती से चिपक गये। भयंकर मेघों की गर्जना सुन मयूर-समूह द्वारा नृत्य करना तो दूर, उनके मुख से आवाज निकलना भी बंद हो गई और मान-मर्यादा से रहित स्त्री के समान, मेघों को क्रोधित करने वाली बिजली चमकने लगी।

और मूसलाधार वर्षा होने लगी, जिसे देख जलप्रपात-सा अनुभव हो रहा है। सारी धरती जल में ही डूबी जा रही है। उमड़ते बादल, चमकती बिजली और रह-रहकर ओला वृष्टि भी होती रही, शीत लहर चलने लगी। फिर भला ऐसी स्थिति में निद्रा किसे आ सकती है ? क्योंकि **पाप और पुण्य फलों के अनुभव के लिए, भोग और उपभोग के लिए केवल भोग-सामग्री की ही नहीं, किन्तु अनुकूल काल और क्षेत्र की भी अपेक्षा होती है।**

ऐसी भीषण प्रलयकारी स्थिति में भी सद्गुणग्राही गज-दल द्वारा परिवार का चारों ओर से रक्षण चलता रहा। परिवार के पुण्य योग से शीघ्र ही बादल छट गये, आकाश में पूर्व दिशा से लालिमा फूटने लगी है। बादलों का संकट दूर हुआ और परिवार जन नदी के किनारे जाकर खड़े हो गये, किन्तु अब परिवार के सम्मुख एक और गम्भीर समस्या आ खड़ी हुई। वर्षा के कारण नदी में नया पानी आया है और नदी वह संवेग[१]-निर्वेग[२] से दूर मदोन्मत्त प्रमदा[३]-सी वेग-आवेग

---

१. संवेग = पाप से डरना एवं धर्म से प्रीति करना।

२. निर्वेग = संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य।

३. प्रमदा = युवा स्त्री, युवती।

वाली बनी है। धीरे-धीरे परिवार की गहन गम्भीरता, भयता में ढलती जा रही है और परिवार का मन कह उठा चलो यहाँ से लौट चलें और लौटने का उद्यम हुआ कि कुम्भ कहने लगा।

६०. संकल्प : कुम्भ का

नहीं...नहीं...नहीं...अभी लौटना नहीं है, क्योंकि आतंकवाद अभी गया नहीं है। अभी उससे संघर्ष करना है वह अभी अपने संकल्प के प्रति दृढ़ है और ध्रुव पर अडिग। मैंने भी यह संकल्प किया है कि इस धरती पर वह रहेगा या मैं, किसी एक का ही अस्तित्व रहेगा। अब ये आँखें आतंकवाद को देख नहीं सकतीं और ये कान आतंकवाद का नाम सुन नहीं सकते, क्योंकि यह आतंकवाद जब तक जीवित रहेगा धरती में सुख-शान्ति का वातावरण बन नहीं सकेगा।

अतः अब देर न करो, शीघ्र ही नदी को पार करना ही है। क्या मेरे त्याग में कुछ कमी रह गई है ? क्या मुझे सफलता नहीं मिलेगी ? भय, आश्चर्य और संकोच मत करो। विश्वास रखो। निश्चित ही हमारा संकल्प पूर्ण होगा। हमें विजय मिलेगी रस्सी का एक छोर मेरे गले में बाँध दो और कुछ-कुछ अन्तर छोड़कर परस्पर तुम सब अपनी कमर में कसकर रस्सी बाँध लो। फिर ओंकार के उच्च उच्चारण के साथ नदी की धार में कूद जाओ।

इतना सुनकर भी जब परिवार का संकोच दूर नहीं हुआ। तब कुम्भ के मुख से निकली कुछ पंक्तियाँ—यहाँ बन्धन किसे अच्छा लगता है, मुझे भी स्वतन्त्रता प्रिय है। इसीलिए मैं किसी के बन्धन में बँधना नहीं चाहता और न ही किसी को बाँधना चाहता हूँ, क्योंकि दूसरों को बाँधना भी तो स्वयं के लिए बन्धन है। फिर भी—

"स्वच्छन्दता से स्वयं
बचना चाहता हूँ
बचता हूँ यथा-शक्य
और
बचना चाहे हो, न हो
बचाना चाहता हूँ औरों को
बचाता हूँ यथा-शक्य।" (पृ॰ ४४२-४४३)

स्व और पर को स्वच्छन्दता (मनचाहा आचरण) से बचाने के लिए बन्धन आवश्यक है, इसीलिए बन्धन की बात कही, वरना बन्धन रुचता किसे है ?

कुम्भ की ये पंक्तियाँ परिवार के लिए लवणभास्कर चूर्ण[1]-सी असरदार सिद्ध हुईं और कुम्भ के संकेतानुसार सेठ सिंह की कमर के समान पतली-सी अपनी कमर में रस्सी बाँध नदी की तेज धार में कूद पड़ा। परिवार ने भी उसका अनुकरण किया है, अब कमर में बँधी रस्सी ही सबकी रक्षक, सबके प्राण है, क्योंकि धरती का सहारा पूर्णतः छूट चुका है। सबके पैर निराधार हो गये हैं और कुम्भ महायान का काम कर रहा है। परिवार का पूरा शरीर जल में डूब चुका सबके मुख और मस्तक ही ऊपर दिख रहे हैं और परिवार को अत्यधिक ठंड का अनुभव हो रहा है इस समय।

६१. पानी में डूबा : पूरा परिवार

पानी में डूबने से सबके शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा कम होती जा रही है। रक्त का प्रवाह भी मन्द पड़ने लगा। हाथ-पैर क्रिया शून्य हो गये हैं। दाँत किटकिटाने लगे। नदी में कुछ और भीतर आना हुआ कि जल से ऊपर उछलती अनेक छोटी-बड़ी मछलियाँ आस-पास खेल खेलने लगीं, परिवार की पिंडरियों से, विषधरों की पतली पूँछें लिपटने लगीं। संकोच स्वभावी कछुवे भी परिवार की कोमल-मांसल जाँघों को छू-छूकर भागने लगे, सिंह के समान भयंकर जबड़ों में जिनकी टेढ़ी-मेढ़ी पैने दाँतों की पंक्तियाँ चमक रही हैं, जिनकी खून की प्यासी जिह्वा बार-बार बाहर निकल रही है और विष से युक्त, काँटों वाली पूँछें ऊपर उठी हैं, ऐसे मांस-भक्षी बड़े-बड़े मगरमच्छ भोजन की खोज में लीन परिवार के आस-पास सिर उठाते घूमने लगे।

अन्य क्रूर जलीय जन्तु भी भूख के कारण क्रोधित से आस-पास घूमते दिख रहे हैं। फिर भी परिवार की शान्त मुद्रा देख वे सभी क्रोध करना, वार (प्रहार) करना भूल-से गये हैं। भोजन का प्रयोजन दूर हुआ, आमूल-चूल परिवर्तन आया उनके आचरण में, जैसे भगवान् को देखते ही भक्त के मन में भजन-पूजन करने का भाव पैदा होने लगता है। हेय-उपादेय का बोध, क्षीर-नीर विवेक जागृत हुआ, कर्तव्य की ओर मुड़ गये वे सभी, इस प्रकार जलचरों के जीवन में अनेक परिवर्तन देखा गया।

जड़ यानी पुद्गल और जंगम यानी जीव। ये दो तत्त्व हैं। दोनों की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं—जीव को सही दिशा-बोध, सही निमित्त मिलते ही उसका विकास होने लगता है जबकि जड़ ज्यों का त्यों अज्ञानी, हठी, कूटस्थ बना रहता

---

१. लवणभास्कर चूर्ण = भोजन को पचाने के काम में आने वाली एक औषध।

है। यहाँ ऐसा ही घटित हुआ। जलचर प्राणियों में परिवर्तन आया किन्तु जल में और अधिक उल्टी क्रान्ति आयी। जलचरों की परिवर्तित प्रकृति देख उफनती हुई नदी और अधिक जलती हुई कहती है कि मेरे आश्रित होकर भी, मुझसे प्रतिकूल प्रवृत्ति करते हो और निर्बल बालक के समान होकर भी माँ को भुला रहे हो। निश्चित ही भविष्य में दुख पाओगे, पश्चात्ताप करना पड़ेगा तुम्हें। पृथ्वी पर चलने वाले भूचरों से मिल गये हो। उन्होंने तुम्हें छला, इसीलिए तुमसे कुछ नहीं कहना उन्हें ही देखना है जो निश्छलों से छल करते हैं और जल-देवता से भी जला करते हैं और कुपित पित्त वाली बनी नदी क्रोधित हो परिवार के कोमल गालों पर अनगिन लहर रूपी हाथों से तमाचा मारना प्रारम्भ करती है।

और वह कहती है—धरती के आराधक धूर्तो! बचकर कहाँ जाओगे अब, जाओ पाताल में चले जाओ, अपना मुख मत दिखाओ ग्रहण-संग्रहण रूप संग्रहणी रोग से ग्रसित हो धरती के समान एक स्थान पर रह कर, पर को और परधन को अपने अधीन किया है तुमने और मैं क्षण भर कहीं रुकती नहीं। पर-सम्पदायें मिलने पर उनको मैंने स्वप्न में भी ना...ली यानी नहीं लिया और स्वार्थवश या ख्याति की चाह के कारण उस सम्पदा को ना ही किसी को दी। तभी तो सन्तों ने हमें सार्थक संज्ञा दी है...नाली...नदी! और हमसे विपरीत चाल चलने वाले सदा न...दी ...दी...न...दीन ही हुआ करते हैं। हमारे इस बहाव स्वभाव से कुछ शिथिलाचारी साधुओं को भी दिशाबोध मिलता है ''बहता पानी और रमता जोगी'', इस सूक्ति से। इस आदर्श में तुम भी अपना मुख देख लो और अपने रूप-स्वरूप को पहचान लो।

नदी की बातें सुन उत्तेजित हुए बिना सेठ कुछ कहता है—देवों ने तुम्हें जगह नहीं दी, इसीलिए तुम पर्वत की चोटी पर गिरी। सब हँसे तुम रोयी थी। उस समय सरला-तरला-सी लग रही थी। सो धरती माँ ने तुम्हें सहारा दिया, वरना पाताल में चली जाती, फिर क्या दशा होती तुम्हारी—जरा विचार करो। अरी कृतघ्ने[१]! पाप-सम्पादिके! और अधिक पाप मत कमाओ, संसार ऋणी है धरती माँ का। तुम्हें भी ऋण चुकाना चाहिए। धरणी को हृदय में धारण कर अपनी करनी सुधारना चाहिए।

सेठ की बात सुन नदी के नेत्र खुले नहीं, अपितु लाल-लाल खूनी और हो गये और फिर नदी कहती है—अरे दुष्टो मेरे लिए पाताल की बात करते हो। अब तुम्हारा अन्त दूर नहीं और जोरदार भँवरवाली तरंगें उठने लगीं, जिन्हें देख सभी

१. कृतघ्न = किए हुए उपकार को न मानने वाला।

प्राणी अपने जीवन की सुरक्षा की चाह करने लगे। देखते ही देखते एक हाथी जिस पर सिंह बैठा था, भँवर में फँसकर एक-दो बार भ्रमता हुआ भँवर के उदर में डूब जाता है। यहाँ किसी की भी ताकत काम नहीं कर रही है।

६२. क्षमता : गागर में सागर की

घटती इस घटना को देख कहीं परिवार का धैर्य कम न हो जाये। उनका मन कहीं लक्ष्य से भटक न जाये, यूँ सोच कुम्भ ने नदी को ललकारा–यह परिवार तो किनारे पर ही है, मझधार में नहीं, क्योंकि–

''जिसने धरती की शरण ली है
धरती पार उतारती है उसे
यह धरती का नियम है...व्रत!
धरती इस शब्द का भी भाव
विलोम-रूप से यही निकलता है–
ध...र...ती ती...र...ध।'' (पृ० ४५१-४५२)

जिसने धरती का आश्रय लिया है, नियम से धरती उसे उस पार पहुँचाती ही है, किनारे पर धरती है और 'ध' के स्थान पर 'थ' करने से तीरध शब्द से तीरथ बनता है। सो शरणागत को भव से पार भी लगाती है।

फिर भला तुम हमें कैसे डुबा सकोगी ? अब हमें बहा न सकोगी तुम और किसी बहाने बहाव में हम भी न बहेंगे। जब आग की नदी को भी पार कर आये हैं हम और साधना से हारकर नहीं उसे स्वीकार कर, त्याग-तपस्या अंगीकार कर आये हैं हम–क्या फिर भी तुम हमें डुबोने की क्षमता रखती हो ? हमने पहले ही निर्णय किया कि सतह की ज्यादा सेवा-प्रशंसा नहीं करना है और न ही लहरों के दर्शन मात्र से संतुष्ट होना है, क्योंकि सतह पर तैरते-तैरते निश्चित ही हाथ भर आयेंगे और लहरों से ही संतुष्ट होने वाले प्रायः डूबते ही नजर आते हैं। भाव यह हुआ कि सांसारिक, इन्द्रिय सुख के लिए ज्यादा पुरुषार्थ नहीं करना, पुण्य से मिलने वाली विषय-भोग की सामग्री में संतुष्ट, लीन नहीं होना है। कारण ये भोग ही भविष्य में भयंकर दुख के कारण हैं। इन बाहरी **क्षणभंगुर इन्द्रिय सुख को ही सच्चा सुख मानकर जीने वाले चतुर्गति रूप संसार में भटकते हुए दुख ही पाते हैं।**

अरे नीचे की ओर बहने वाली निम्नगे! इस गागर यानी कुम्भ में सागर को भी धारण करने की क्षमता है, धरती के अंश जो रहे हम। कुम्भ की अर्थ-क्रिया

अर्थात् कार्य जल को धारण करना ही तो है और...सुनो–

> **''स्वयं धरणी शब्द ही**
> **विलोम-रूप से कह रहा है कि**
> **ध...र...णी नी...र...ध**
> **नीर को धारण करें...सो...धरणी**
> **नीर का पालन करे सो...धरणी!'' (पृ० ४५३)**

स्वयं धरणी शब्द पलट कर कह रहा है कि जो जल को धारण करे, उसका पालन करे, सो धरणी है।

६३. मत्स्य मुक्ता : बिन माँगे

जैसे मणियों में नील-मणि, कमलों में नील-कमल, सुखों में शील-सुख, गिरियों में मेरुगिरि, सागरों में क्षीर-सागर, मरणों में वीर-मरण, मुक्ताओं में मत्स्य-मुक्ता उत्तम माने जाते हैं, उसी प्रकार अनेक गुणों में कृतज्ञता गुण उत्तम माना गया है। इसी गुण से सुशोभित कुम्भ को देख एक महामत्स्य ने प्रसन्नचित हो एक मुक्ता-मणि प्रदान किया कुम्भ को ? और ''यह तुच्छ सेवा स्वीकृत हो'' कहता हुआ वह जल में लीन हो गया।

इस मुक्ता की यह बड़ी विशेषता है कि जिसके पास यह होती है, वह गहरे जल में भी बिना किसी बाधा के मार्ग पा जाता है और यहाँ भी यह घटित हुआ। भँवरदार धार को भी सहज ही परिवार सहित कुम्भ पार करता हुआ सेठजी से कहता है–''बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।'' और यह त्याग-तपस्या का ही फल है। कुम्भ के आत्म-विश्वास और साहसपूर्ण जीवन से नदी को बड़ी प्रेरणा मिली, उसकी व्यग्रता दूर हुई और उसके भीतर कुम्भ के प्रति समर्पण भाव

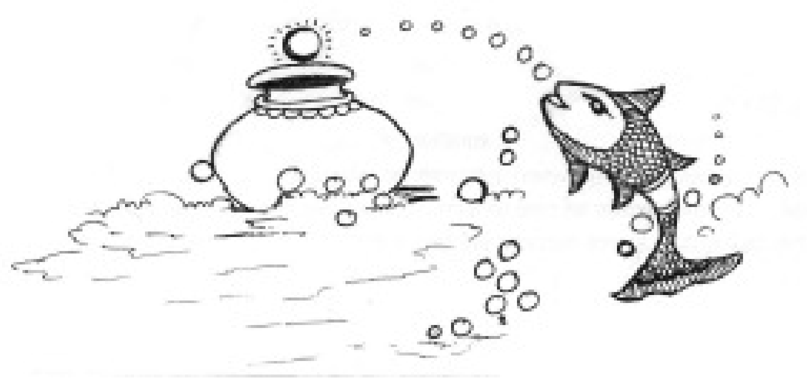

जागा तथा वह नम्र हो विनीत भावों के साथ कुम्भ से कहने लगी–उद्दण्डता के लिए क्षमा चाहती हूँ। और वह निस्तरंग हो राग-रंग से मुक्त चिर-काल से दीक्षित, नीचे आँखें कर चलने वाली आर्यिका[१] के समान चुपचाप गम्भीर हो बहने लगी। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण परिश्रमी विद्यार्थी के समान कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है। यात्री समूह को लग रहा है कि गन्तव्य ही अपनी ओर आ रहा है। लगभग आधी यात्रा हो चुकी है और परिवार भी प्रसन्नता से फूला नहीं समा रहा है।

'मूकमाटी' का नायकत्व

महाकाव्य हो या खण्डकाव्य, नाटक हो या उपन्यास–सबमें नायक की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। 'मूकमाटी' के नायक को लेकर असमंजस की स्थिति रही है। माटी तो नायिका ही है, कुम्भकार को नायक मान सकते हैं...किन्तु यह दृष्टि लौकिक अर्थ में घटित नहीं होती। यहाँ रोमांस यदि है तो आध्यात्मिक प्रकार का है।

कहीं कुम्भकार को नायक माना जाता है, कहीं सद्गुरु को नायक घोषित किया जाता है। श्री फणीश्वर नाथ रेणु ने जब 'मैला आँचल' उपन्यास लिखा तब समीक्षक उसमें नायक तलाश करने लगे। बाद में निर्धारित किया गया कि इस रचना का नायक कोई व्यक्ति नहीं, समूचा परिवेश है।

हमारे कहने का अभिप्राय मात्र इतना है कि जब कृतिकार का पौरुष, उसका रचना सामर्थ्य इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि हमारी परम्परागत सोच के ढाँचे छोटे पड़ जाते हैं, तब समीक्षा के नये निष्कर्ष बनते हैं। कोई निराला, कोई रेणु या कोई विद्यासागर जी जैसा रचनाकार अपनी अपरिमित प्राण ऊर्जा से शास्त्रीयता के बने बनाये साँचों को तोड़ डालता है; किंवा उसे छोटा कर देता है। इस प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में माटी ही इस सूचना का नायक है।

आचार्य डॉ० हरिशंकर दुबे

---

१. आर्यिका = दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा में दीक्षित साध्वी, श्रमणी।

सोपान २९
आतंकवाद की परिवर्तित हुई परिणति

आतंकवाद की पुनरावृत्ति, जलदेवता से परिवार को डुबाने की माँग, नदी का जवाब–समर्पण हो चुका है। पुनः सरोष सक्रिय आतंकवाद नाव पर सवार हो, परिवार के सम्मुख खड़ा होता है। समाजवाद की मीमांसा, पत्थरों की वर्षा, परवश हुआ सेठ परिवार, कुम्भ को फोड़ने का प्रयास किन्तु चारों ओर रक्षामण्डल की रचना। आतंकवाद को लगने लगी पराजय, फिर बड़ा–सा जाल परिवार पर फेंकना चाहता है, जिसे पवन दूर आकाश में उछाल देता है। आतंकवाद उल्टा नाव में गिर पड़ता है और डाँवाँडोल होती नाव।

कुम्भ के संकेत से संयत हुआ पवन, दुर्घटना टली, माहौल प्रसन्न। पुनः उछलता आतंकवाद शुभाशुभ भावों की बात, परिवार को धमकी, सेठ को छोड़ समूचा परिवार आत्मसमर्पण के विषय में सोचने को बाध्य हुआ। तभी नदी ने कहा–उतावली मत करो और कोपवती हो नाव को नाच नचाती कि आतंकवाद ने मन्त्र का स्मरण कर देवता–दल को आमंत्रित किया–देवों का आना, अपने बल की सीमा बताना और आतंकवाद को सलाह–परिवार की शरण में जाना ही पतवार को पाना है। इधर आतंकवाद की नाव का करधनी तक डूबना कि आतंकवाद क्षमा–याचना कर, दीन–हीन हो शरण की माँग करता है धरती से।

सेठजी द्वारा माँ की उदारता शिशु के प्रति बताकर निशंक होने की बात। आतंकवाद दल निःसंकोच हो नाव छोड़ नदी में कूद पड़ता। परिवार के एक–एक सदस्य ने आतंकवाद के नौ सदस्यों को झेल लिया और आतंकवाद का अन्त हो। अनन्तवाद का श्रीगणेश हुआ।

६४. पुनरावृत्ति : आतंक की

परिवार प्रसन्न है और उधर आतंक की पुनरावृत्ति प्रारम्भ हुई। वही पुराना रंग–ढंग, चाल–ढाल, नशा–दशा आदि–आदि और वह आतंकवाद नदी से प्रार्थना के स्वर में कुछ पूछता है–ओ माँ जलदेवता! पुण्यात्मा–धर्मात्मा का पालन–पोषण उचित है और कर्त्तव्य भी है तुम्हारा। परन्तु क्या पापियों को भी प्यार करती हो तुम? अपराधियों को भी पार लगाती हो ? यदि नहीं, तो जो कुम्भ का सहारा ले पृथ्वी की प्रशंसा करते हैं, उस पार उतरना चाहते हैं, उन्हें डुबो दे, इन्हें पुण्य–पाप

(धर्म–अधर्म) से कोई मतलब नहीं, इनका प्यार धन–वैभव, विषय–भोग से ही रहता है। फिर भी यदि तुम इन्हें सहयोग दोगी तो तुम्हारे निर्मल इतिहास की हँसी होगी और विश्वास का पतन होगा, फिर औरों की क्या बात। सबके जीवन पर प्रश्नचिह्न ही लगेगा।

वैसे औरों को दुख–ताप देने वाली स्वयं जलती और जो औरों को जलाती है, ऐसी अग्नि को भी तुमने लकड़ी में कीलित किया है। फिर कभी–कभी उसे दावानल के रूप में लपलपाती, उत्पन्न होती देख अपने अजेय बल से उसे लावा का रूप दे, पाताल तक पहुँचाया है और अभी भी उस पर तुम्हारा शासन चल रहा है। फिर पता नहीं आज तुम्हें क्या हो गया ? कुछ बता दे माँ ! इस पर नदी कहती है–जैसे तलवार के अभाव में म्यान का क्या मूल्य, भोक्ता के अभाव में भोग सामग्री से क्या प्रयोजन ? उसी प्रकार जिन्हें तुम डुबोने की बात कर रहे हो, उनके अभाव में यहाँ कुछ भी शेष नहीं बचेगा।

जो कुछ आज धरती की शोभा दिख रही है वह इन जैसे सेवाभावी जनों से ही हैं। जड़ के अभाव में पेड़ की तथा मिट्टी के अभाव में फूल की क्या गति हो सकती है ? तुम स्वयं विचार कर सकते हो, कहने की आवश्यकता नहीं। अब बल का दुरुपयोग नहीं होगा, क्योंकि कुम्भ के प्रति समर्पण हो चुका है, शक्ति आराधना में परिवर्तित हो चुकी है, हृदय में परोपकार, दया का भाव जाग चुका है और बस! इतना ही कहती हुई नदी मौन धारण करती है।

परिवर्तित नदी की विचारधारा और गम्भीरता से आतंकवाद उदास नहीं हुआ, अपितु कुछ क्षण शान्त रह पुनः लक्ष्य की ओर रोष के साथ सक्रिय होता है। और सही नीति भी यही है कि युद्ध के मैदान में कूदने के बाद मित्रों को याद नहीं किया जाता, अपितु शत्रु पक्ष पर प्रहार करने हेतु टूट पड़ना ही होता है। क्योंकि–

''पराश्रय लेना दीनता का प्रतीक है
वीर–रस को क्षति पहुँचती है इससे,
इतना ही नहीं,
मित्रों से मिली मदद
यथार्थ में मद–द होती है
जो विजय के पथ में बाधक
अन्धकार का कार्य करती है।'' (पृ० ४५९–४६०)

दूसरों के सहारे की अपेक्षा रखना ही कमजोरी का प्रतीक है और इस कार्य से स्वयं के स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है। इतना ही नहीं, वास्तव में मित्रों से

मिली सहायता उनमें मद, घमण्ड को ही पैदा करा देती है और यह घमण्ड ही सफलता के मार्ग में बाधक, अन्धकार का रूप ले लेता है।

६५. वर्षा : पत्थरों की

और अब आतंकवाद[१] को लगभग सफलता मिलती-सी लगी तथा भाग्य साथ देता-सा और नाव पर सवार हो वह परिवार के सम्मुख मार्ग रोककर खड़ा हुआ। तब कहकहाहट के साथ कहता है–मेरा मान-सम्मान हो, मन को लुभाने वाली भोग-विलास की अच्छी-अच्छी वस्तुएँ मुझे मिलें, ऐसी अज्ञानता से भरी धारणा है तुम्हारी। फिर बताओ समाजवाद में कहाँ आस्था है तुम्हारी। सबसे आगे मैं रहूँ और समाज बाद में, क्या यह ठीक है ? अरे कम से कम शब्द के अर्थ की ओर भी तो देखो–समाज का अर्थ होता है समूह और समूह यानी सम–समीचीन, ऊह–विचार, सही तरीके से सोचना-विचारना है जो सदाचार की नींव है। कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ–

> **''प्रचार-प्रसार से दूर**
> **प्रशस्त आचार-विचार वालों का**
> **जीवन ही समाजवाद है।'' (पृ० ४६१)**

समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने से समाजवादी नहीं बनोगे तुम और अब उस पार पहुँचने का विकल्प त्याग दो। पाप-पाखण्ड का फल पाना है तुम्हें। जीवन का मोह त्याग कर, नरक की ओर जाना है और परिवार के ऊपर अंधाधुंध पत्थरों की वर्षा होने लगी।

आतंकवाद द्वारा ऐसे असभ्य शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है कि–जिसे सुनते ही क्रोधाग्नि भभक उठे और मान तिलमिलाने लगे। पत्थरों की मार से घनी चोट लगने से सबके सिर घूम से गये हैं, खून की धारा बहने लगी है, जिस धारा से जल की धारा भी लाल-सी हो गई है, मानो एक विचार की ही दो सखियाँ आतंकवाद पर रुष्ट हुईं हों। सेठजी के सिवा पूरा परिवार परवश हो पीड़ा का अनुभव कर रहा है–

> **''आचरण के सामने आते ही**
> **प्रायः चरण थम जाते हैं**
> **और**

---

१. आतंकवाद = यह सिद्धान्त की अपना कोई बड़ा या विकट उद्देश्य सिद्ध करने के लिए लोगों को अपनी शक्ति से अत्यन्त भयभीत रखना।

आवरण के सामने आते ही
प्रायः नयन नम जाते हैं।'' (पृ० ४६२)

चारित्र की बात आते ही प्रायः अच्छे-अच्छे लोग चुप हो जाते हैं। थोड़ा-सा भी नियम-संयम लेने की हिम्मत नहीं करते, जैसे आवरण के सामने आते ही आँखें झुक जाती/बंद हो जाती हैं। जब तक वस्तु स्वरूप का सही ज्ञान नहीं होता तब तक मोह के कारण संसारी प्राणी कभी रस्सी को सर्प मानकर विषय-भोगों को छोड़ देता है तो कभी सर्प को रस्सी मान विषय-भोगों में लीन हो जाता है।

ऐसी स्थिति में भी धैर्य-साहस के साथ, आतंक से संघर्ष करता हुआ सेठ सबसे आगे हो, कुम्भ की सुरक्षा हेतु, उसे अपने पेट के नीचे ले नीचे मुख कर लेटा है और वन की घटना को याद रख, अपने ही दुष्कर्मों का फल मान समता से सहन कर रहा है। कुम्भ को फोड़ने का प्रयास विफल हुआ, कमर में बंधी रस्सी को काटने का प्रयास भी सफल नहीं हुआ। लगता है कुम्भ की कठिन तपस्या देख जल-देवता ने परिवार के चारों ओर रक्षामण्डल-भामण्डल की रचना की हो अथवा यह मत्स्य-मुक्ता का चमत्कार भी हो सकता है। कुछ भी हो, अब आतंकवाद को अपनी हार निकट लगी। साथ ही साथ उसके मन में कुम्भ का अच्छा उद्देश्य भी समझ आने लगा।

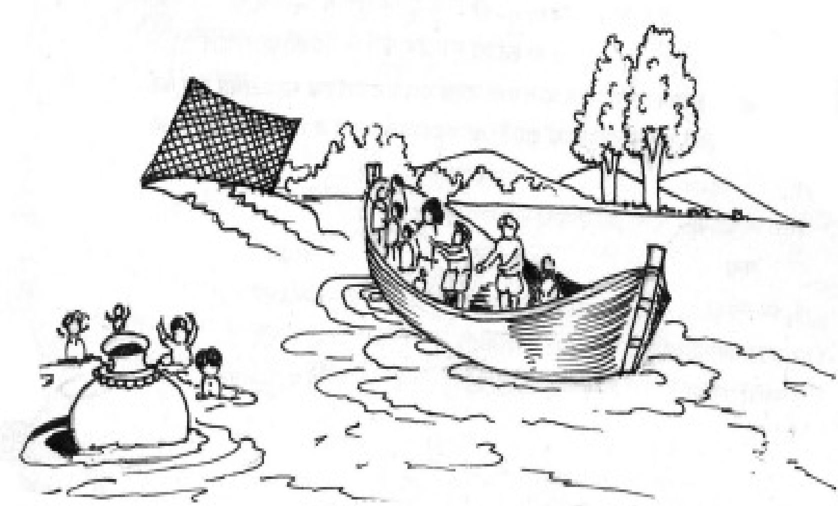

६६. डूबते प्राण : आतंक के

फलस्वरूप आतंकवाद के तन की शक्ति कमजोर पड़ने के कारण वह कुम्भ सहित परिवार को ईर्ष्या भाव से देखने लगी, मन की शक्ति स्वयं पर क्रोधित हुई और वचन की शक्ति पराजित-सी चुप पड़ गई। किन्तु उसकी धोखा देने रूप वंचन शक्ति नष्ट नहीं हुई और पहले के समान ही पुनः परिवार को नष्ट करने हेतु एक बहुत बड़ा-सा मछली पकड़ने का जाल परिवार के ऊपर फेंकने को तैयार होता है आतंकवाद कि धरती के उपासक पवन से यह देखा नहीं गया और वह प्रलयकारी चक्रवात का रूप धरता एक ही झटके में झट से दल के हाथों से जाल को सुदूर शून्य आकाश में फेंक देता है। सो ऐसा लगा रहा है मानो प्रकाशपुंज प्रभाकर! सूर्य को ही पकड़ने का प्रयास चल रहा है।

झटका लगने से दल के पैर निराधार हुए और वे चक्कर खा कई गोलाटे लेते हुए सिर के बल नाव में ही गिर पड़े। उसके सामने अन्धेरा छा गया, नेत्र बन्द हो गये, हृदय का स्पन्दन/धड़कना मन्द हो गया, रक्त-गति में अन्तर आने से मूर्च्छा आ गई। इतने पर भी उनकी मूँछें पूर्ववत् तनी हैं, बिना मूर्च्छित हुए। दल के मुख से झाग निकलने लगा, लग रहा है प्राण निकल से गये और नाव भी डाँवाँडोल हो गई, अपनी ही परिक्रमा लगाती रही वह। नाव के और सभी के प्राण लगभग डूबने को हैं।

घटित घटना को देख अपनी अति की समाप्ति के लिए कुम्भ ने संकेत दिया पवन को, सो श्रद्धेय स्वामी की सेवा, आदेश का पालन ही सुखमय जीवन का मूल कारण है सेवक लिए, ऐसा मान पवन संयत बना और नाव भी परिवार को तीन परिक्रमा दे पूर्व स्थिति पर आती है। दुर्घटना टलने से सम्पूर्ण माहौल ही प्रसन्न हुआ। इतना होने के बाद भी जिस प्रकार अनंगसरा की अंजुलि के जल सिंचन से लक्ष्मण की मूर्च्छा टूटी थी, वैसी ही सरिता के शीतल जल कणों का स्पर्श पा आतंकवाद की मूर्च्छा दूर हुई। फिर क्या पूछो, लक्ष्मण की भाँति उबल उठा आतंक फिर से ? और कहता है–

६७. जन्मदाता : चोरों के

अरे संसार को नरक में पटकने वाले, पाप के मापदण्डो! ठहरो ठहरो मरो या हमारा समर्थन करो, किसी को उतारने वाले नहीं हो तुम, सुनते हो या नहीं अरे बहरो! सुनो! सुनो!!...जरा सुनो!!!

''अब धन-संग्रह नहीं,

जन-संग्रह करो!
और
लोभ के वशीभूत हो
अन्धाधुन्ध संकलित का
समुचित वितरण करो
अन्यथा,
धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।'' (पृ० ४६७-४६८)

लोभ के कारण तुमने दिन-रात एक करके धन-संग्रह किया है, उसका सही-सही पात्र अनुसार दान करो। अब धन का संग्रह नहीं, किन्तु लोगों के मन को अपना बनाने का पुरुषार्थ करो, क्योंकि मात्र धन जोड़ने से, समुचित वितरण न करने से धन-हीनों के मन में उस धन को चुराने के भाव पैदा होते हैं, इसीलिए चोर इतने दोषी नहीं, जितने कि चोरों को पैदा करने वाले। चोरी मत करो, चोरी मत करो—यह कहना मात्र ऊपरी नाटक है तुम्हारा, तुम स्वयं चोर हो और चोरों को जन्म देने वाले भी—

''सज्जन अपने दोषों को
कभी छुपाते नहीं,
छुपाने का भाव भी नहीं लाते मन में
प्रत्युत उद्घाटित करते हैं उन्हें।'' (पृ० ४६८)

जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे कभी भी अपने दोषों-अवगुणों को छुपाते नहीं, न ही छुपाने का भाव रखते हैं, बल्कि उन्हें सबके सामने प्रकट करते हैं, जिससे वे दूर हो जायें।

देखो रावण ने सीता का हरण किया था तब सीता ने रावण को ही दोषी नहीं माना, बल्कि यह कहा कि—यदि मैं इतनी रूपवती न होती तो रावण के मन में हरण के दूषित भाव ही उत्पन्न नहीं होते। मेरे ही शुभाशुभ भावों से जो कर्म बँधा उसी का यह परिणाम कि ऐसा रूप-लावण्य मिला और मेरा हरण हुआ। ऐसी स्थिति में मात्र रावण को ही अपराधी मानना अपने भविष्य को दुखी बनाना है।

६८. नाच नाचती : नाव

आतंकवाद की अदमनीय धमकी सुन सेठ को छोड़ सारे परिवार का दिल हिल गया, भय से भरा दृढ़ संकल्प टूटने-सा लगा। अकाल में ही जीवन का अवसान होता-सा देख और आगे जीने की इच्छा रखता हुआ आत्म-समर्पण के

लिए बाध्य हुआ परिवार कि नदी ने कहा–उतावली मत करो! क्या असत्य के समक्ष सत्य का आत्मसमर्पण होगा ? क्या असत्य शासक बनेगा और सत्य शासित होगा अब ? हे भगवन् ! कैसा काल आ गया कि जौहरियों के बाजार में काँच की चकाचौंध के कारण हीरों के हार को नीचा देखना पड़ रहा है। अब सती भी व्यभिचारिणी की अनुचरी बन पीछे–पीछे चलेगी क्या ? सत्य का भी विवेक समाप्त हो गया। उसे अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा। भीड़ के अनुसार ही सत्यासत्य का निर्णय होगा। नहीं...नहीं...कभी...नहीं।

जल में, थल में और गगन में सब कुछ असहनीय हो गया है अब। जब तक घट में प्राण हैं, डटकर मुकाबला करना होगा, यह धारा अब अपने लक्ष्य से नहीं हटेगी, यूँ कहती–कहती कोपवती हो, बहती–बहती क्षोभवती हो नदी नाव को नाच नचाती है। पल में ही नाव पलटने वाली है, ऐसा देख आतंकवाद ने मन ही मन मन्त्र का स्मरण किया, सो तुरन्त देवता–दल का आना हुआ उन्होंने सविनय नमन कर, प्रार्थना की कि किस कारण हमें याद किया गया स्वामिन्! कारण ज्ञात हो।

आदेश की प्रतीक्षा में कुछ पल व्यतीत हुए कि स्वयं देवों ने कहा–नमन की मुद्रा में ही – विद्याबलों की अपनी सीमा होती है स्वामिन् ! उसी सीमा में हमें कार्य करना पड़ता है कहते हुए लज्जा का अनुभव हो रहा है कि प्रासंगिक कार्य करने में हम पूरी तरह असमर्थ हैं। अतः हम क्षमा चाहते हैं, वैसे हे स्वामिन्! यहाँ आते ही हमने अनुभव किया कि हम हिरण–शिशु के समान सिंह के सम्मुख खड़े हैं, फिर संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता और तुमने भी अपने बल की उस बल के साथ तुलना तो की ही होगी, ऐसी दशा में परिवार की शरण में जाना ही पतवार को पाना है तथा अपार संसार का किनारा पाना है। अन्य सभी प्रकार के उपाय, अपने लिए ही घातक और हार के कारण सिद्ध होंगे, यह निश्चित है। उस पर भी यदि प्रतिकार करने का विचार हो, तो सुनो–

''सलिल की अपेक्षा
अनल का बाँधना कठिन है
और
अनल की अपेक्षा
अनिल को बाँधना और कठिन है।
परन्तु,

सनील को बाँधना तो...
सम्भव ही नहीं है।'' (पृ० ४७२)

पानी की अपेक्षा आग को बाँधना कठिन है और आग की अपेक्षा हवा को बाँधना तो और अधिक कठिन है, किन्तु आकाश को तो बाँधना ही सम्भव नहीं है। कभी भी घी पर जल का शासन नहीं चल सकता, क्योंकि घी सदा जल के ऊपर रहना जानता है, देवों पर कभी जहर का प्रभाव नहीं पड़ता और न ही भौरों पर लेखनी का। इसी प्रकार कई सूक्तियाँ, प्रेरणा देती पंक्तियाँ, कई उदाहरण, नई-पुरानी दृष्टियाँ और दुर्लभतम अनुभूतियाँ देवता-दल ने आतंकवाद को सुनाईं।

६९. गले उतरी : बात

जैसे-तैसे आतंकवाद को यथार्थता समझ में आयी, किन्तु वह तुरंत कार्य रूप परिणत कैसे होती ? क्योंकि अभी पर्याप्त काल भी अपेक्षित है, गले उतरी बात पचने के लिए। देखते ही देखते दृष्टिकोण बदल सकता है पर चाल-ढाल नहीं। कषाय के वेग को संयत होने में समय तो लगता ही है पर अब ज्यादा समय कहाँ रहा-कुछ ही समय में सब कुछ समाप्त होने को है। नाव करधनी तक डूब गई है। जहाँ पर लिखा था ''आतंकवाद की जय हो, समाजवाद का लय हो भेद-भाव का अन्त हो, वेद-भाव जयवन्त हो।''

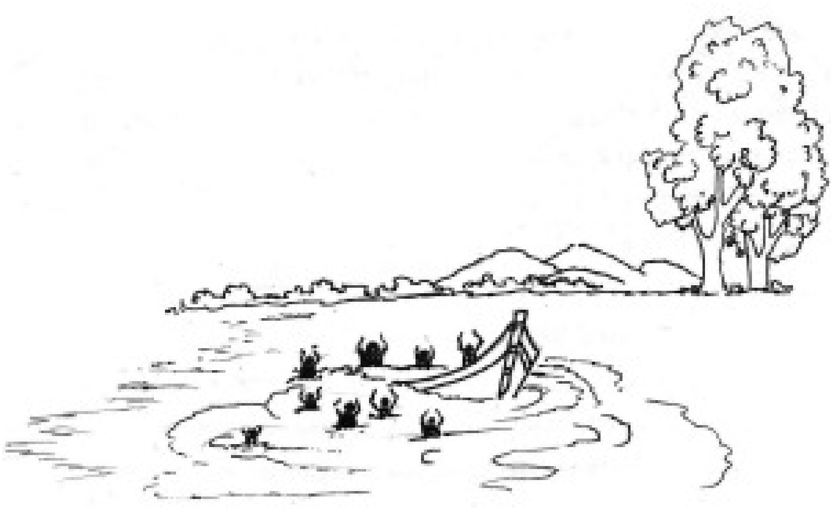

डूबती नाव के दृश्य को देख, दल के आत्म-विश्वास को एकाएक आघात पहुँचा। मानो वज्रपात ही हुआ हो। देवता-दल की बात सत्य निकली और पश्चाताप से घुटता हुआ व्याकुल, शोकाकुल हो, अवरुद्ध कण्ठ से आतंकवाद कहने लगा—कुम्भ और परिवार से कि तुम्हारे बिना कोई शरण और पार उतारने वाला तरणि (नाव) नहीं है। हे क्षमा के अवतार! हमें क्षमा करो। बड़ी भूल हुई हमसे। अब पुनरावृत्ति नहीं होगी। हम पर विश्वास करो।

संकटों से घिरे हैं चाहो तो बचा लो। काँटों से छिदे हुए हैं चाहो तो फूल बिछाओ। हम तो अपराधी हैं, हमेशा जघन्य बुद्धि ही रही, सही पदार्थों का ज्ञान हो ऐसी बुद्धि चाहते हैं। अब अधिक समय न बिताओ, किन्तु सच्चा मार्ग हमें बताओ। स्वभाव से शैतानी करने वाली सन्तान पर भी तो माँ की कृपा होती ही है और फिर अपनी सन्तान हो या दूसरों की—कष्ट देना, सताना माँ की सत्ता को कब स्वीकार था—हमें बताओ ? इतना कहते-कहते दल का मुख बन्द हो गया।

''पर्त से केन्द्र की ओर
जब मति होने लगती है
अनर्थ से अर्थ की ओर
तब गति होने लगती है।'' (पृ० ४७५)

बुद्धि जब पर्याय से हटकर द्रव्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर होने लगती है, तब अनिष्ट से इष्ट की ओर यात्रा होने लगती है। ऐसा सोचता हुआ सेठ कहता है कि अधिक दीन-हीन मत बनो भाई! जो फूल-फलों के समूह से लदा, हरा-भरा वृक्ष है, उससे थोड़ी-सी छाया माँगना क्या हँसी का कारण नहीं है ? वह तो स्वयं पथिक की प्रतीक्षा में खड़ा ही है। षट्रस मिश्रित भोजन बनाकर जिसने जिसे विनय-आग्रह कर आमंत्रित किया है, क्या वह उसे जल नहीं पिला सकता—भला तुम ही बताओ ?

७०. माँ की गोद में आतंक : शिशु-सम

रही माँ की बात तो कभी-कभार किसी कारणवश माँ की आँखों में उत्तेजना, उद्वेग आ सकता है, आता है और आना भी चाहिए, किन्तु माँ की वात्सल्यमयी, गौरवपूर्ण गोद में गुस्से का घुस आना, न सुना, न देखा—जिस गोद में शिशु सहज सुख का अनुभव करता है। और देखो माँ की उदारता-परोपकारिता कि अपने वक्षस्थल पर युगों-युगों से, दीर्घकाल से दूध से भरे दो कलश [स्तन] ले

खड़ी है और भूख-प्यास से पीड़ित शिशुओं का पालन करती है। जो भयभीत हैं और सुख से रहित हैं जिनका जीवन, उन्हें चुपचाप पुचकारती हुई अपने हृदय से लगा लेती है और फिर जब एक बार माँ को माँ के रूप में स्वीकार ही कर लिया तो बार-बार परख-परीक्षा क्या ? इसीलिए माँ की आँखों में दया है कि नहीं यह मत देखो और अपराधी नहीं, किन्तु अपरा धी[१] यानी विनम्र बुद्धि वाले बनो दूसरों को दुख देने वाले पराधी और पराश्रित रहने वाले पराधीन नहीं, किन्तु स्वतन्त्र-स्वाधीन बनो!

सेठ का इतना कहना पर्याप्त था कि दल का संकोच-संशय समाप्त हुआ और डूबती हुई नाव से बाहर कूद पड़ा दल माँ की गोद में निशंक होकर शिशु की भाँति। तुरन्त ममता की मूर्ति माँ के समान परिवार के प्रत्येक सदस्य ने भी दल के प्रत्येक सदस्य को आदर के साथ सहारा दिया और नौ प्राणियों को नया जीवन मिला। इधर नाव का पूरा डूबना हुआ। इसी के साथ आतंकवाद का अन्त हुआ और हुआ अनन्तवाद, शाश्वत पद की उपलब्धि हेतु सम्यक् पथ का मंगलाचरण, श्रीगणेश।

आचार्य विद्यासागर आधुनिक राष्ट्रीय सन्त हैं, इसलिए वे जमीन से जुड़े हैं और मूक माटी को स्वर एवं वाणी प्रदान करते हैं। मध्यकालीन सन्तों की दो विशेषताएँ रही हैं–एक तो उन्होंने जनभाषा का प्रयोग किया और दूसरे भारत की माटी के साथ सांस्कृतिक न्याय किया। इसी समृद्ध, पुनीत एवं सात्त्विक परम्परा का सफल एवं सार्थक निर्वाह आचार्य विद्यासागर में मिलता है। उनका व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व साधना की उच्चतर सीढ़ियों पर सतत आरोह्य का आलोक बिन्दु है।

प्रोफेसर (डॉ०) पद्मश्री लक्ष्मीनारायण दुबे
अन्तर्राष्ट्रीय अध्यक्ष
अन्तर्राष्ट्रीय भारतीय भाषा संस्कृति फाउण्डेशन
सागर (मध्यप्रदेश)

---

१. अपरा धी = पर यानी शत्रु, अपर यानी मित्र। स्त्रीलिंग में अपरा धी यानी बुद्धि अर्थात् मैत्री भाव।

सोपान ३०
कुम्भ और कुम्भकार का पुनः मिलन

आतंकवाद परिवर्तित हुआ, सेठ परिवार और वे दोनों परस्पर आश्रित हो आगे बढ़ रहे हैं। कुम्भ के मुख से मंगल कामना निकलती है और इधर सरिता तट भी कुम्भ के स्वागत हेतु आतुर हो रहे हैं। तट के निकट पहुँचते ही कुम्भ ने तट का चुम्बन लिया और सब नदी से बाहर निकल आते हैं, कमर की रस्सी खोली गई, रस्सी ने सबसे क्षमा माँगी सो परिवार ने भी कृतज्ञता व्यक्त की, उपादान की योग्यता और निमित्त की कृपा का परिचय। परिवार कुम्भ को छने जल से भर आगे बढ़ता है कि वही पुराना स्थान, जहाँ कुम्भकार पुनः माटी लेने आया है।

परिवार सहित कुम्भ ने कुम्भकार का अभिवादन किया। धरती प्रसन्न होती है माटी की इस विकासशील-विकसित दशा को देखकर। आदिम सर्ग, द्वितीय सर्ग, तृतीय सर्ग, अन्तिम सर्ग और वर्गातीत अपवर्ग की बात। धरती की भावना सुनकर कुम्भ सहित सबने कुम्भकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की सो नम्र भाव से कुम्भकार ने यह सब ऋषि-सन्तों की कृपा बताकर, कुछ ही दूर बैठे साधु की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कराया।

सबने गुरु चरणों के निकट पहुँचकर प्रणाम किया, फिर पादाभिषेक कर गंधोदक उत्तमांग पर लगाया और हाथ जोड़कर गुरुकृपा की प्रतीक्षा में बैठ गये। कुछ पल बीते कि गुरुदेव ने आशीष का हाथ उठाया, जिसमें भाव भरा था शाश्वत सुख का लाभ हो। इस पर आतंकवाद ने कहा—स्वामिन्! सांसारिक दुख और क्षणिक इन्द्रिय सुख तो अनुभूत हैं, किन्तु अक्षय सुख पर विश्वास नहीं हो रहा है। यदि आप दिखा सकें तो हम भी आप जैसी साधना कर सकें। हमारी भावना पूरी हो, ऐसा वचन दें आप।

दल की धारणा सुन गुरुदेव ने बतायी—गुरु को दिए वचन की बात, श्रमण साधना और अक्षय सुख के विषय में अन्तिम समाधान तथा महामौन में डूबते सन्त और माहौल को निहारती मूकमाटी।

७१. आकुलित तट : स्वागत हेतु

अब मान से रहित कुम्भ सबसे आगे है पीछे नौ-नौ व्यक्तियों की दो पंक्तियाँ कुम्भ के पीछे, जो परस्पर एक-दूसरे के आश्रित हो चल रही हैं। एक माँ

की दो सन्तान के समान शरीर से पृथक्-पृथक्, किन्तु एक जान-सी और कुम्भ के मुख से निकली मंगल-कामना की पंक्तियाँ–

"यहाँ...सबका सदा
जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें–
वह अमंगल-भाव।" (पृ० ४७८)

सबका जीवन सदा पुण्य से भरपूर और पाप से खाली रहे। सबके जीवन में सुख की छाँव रहे। सबका सब अमंगल दूर हो। सबकी जीवन लता सद्‌गुणों से हरी-भरी प्रसन्नचित हो। सबकी असीम इच्छाएँ दूर हों और इच्छा रहित, निर्विकल्प-शान्त जीवन बने बस।

इधर सरिता-तट के किनारों में कुम्भ के स्वागत हेतु आकुलता-सी झलक रही है। उदित होते सूर्य की किरणें, चंचल लहरों में समाती हुईं ऐसी लग रही है मानो मदवाली कोई नारी गुलाबी साड़ी पहने हुई स्नान करती-करती हैं सकुचा रही है। पूरा वातावरण सत्य धर्ममय हो चुका है। सरिता का किनारा, तट निकट आ ही गया।

उदित सूर्य की किरणों का, तट में उठते झाग की सफेदी में मिश्रण ऐसा लग रहा है, मानो सरिता तट अपने हाथों में गुलाब फूल की माला लिए स्वागत के लिए खड़े हों। प्रथम ही उत्साह से सादर तट का स्वागत स्वीकारते हुए कुम्भ ने तट का चुम्बन किया। फिर प्रसन्नता के साथ सभी नदी से बाहर निकल आये। सभी की पगतलियों ने धरती की दुर्लभ धूल का स्पर्श किया। फिर कमर में बँधी एक-दूसरे की रस्सी खोल दी। इस पर रस्सी बोलती है–मुझे क्षमा करना तुम। मेरी वजह से आप लोगों की दुबली-पतली कमर छिल-छुल गई।

७२. उपादान का सच्चा मित्र

सो तुरन्त परिवार ने कृतज्ञता[१] व्यक्त करते हुए कहा–नहीं नहीं अरे विनय-शील, परहित-सम्पादिके[२] रस्सी! तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है, जो हम पार हो गये। आज हमें–किसकी क्या योग्यता है, किसका कार्य क्षेत्र कहाँ तक है–सही-सही ज्ञात हुआ।

---

१. कृतज्ञता = अनुग्रह/उपकार मानने का भाव।

२. परहित-सम्पादिके = दूसरे के हित का कार्य करने वाली।

"केवल उपादान कारण ही
कार्य का जनक है–
यह मान्यता दोष-पूर्ण लगी,
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।
हाँ ! हाँ !!
उपादान-कारण ही
कार्य में ढलता है
यह अकाट्य नियम है।" (पृ० ४८०-४८१)

मात्र निज की योग्यता, उपादान शक्ति[१] से ही कार्य सम्पन्न होता है। निमित्त[२] का उसमें कोई हाथ नहीं, ऐसी एकान्त धारणा[३] दोष पूर्ण अनुभूत हुई। किसी भी कार्य की पूर्णता में निमित्त का भी होना अति आवश्यक है समझ में आया। यह भी अकाट्य नियम है कि कार्य रूप में परिणत निमित्त नहीं उपादान ही होता है। सही कहें तो उपादान का सही मित्र तो निमित्त ही है, जो अपने मित्र को निरन्तर लक्ष्य तक साथ देता है और फिर रस्सी की ओर आदर की आँखों से देखता हुआ परिवार छने जल से कुम्भ को भर आगे बढ़ता है कि वही पुराना स्थान, जहाँ कुम्भकार माटी लेने आया है। परिवार सहित कुम्भ ने कुम्भकार का अभिवादन किया। स्मृति ताजी हो आयी, जैसे हवा का स्पर्श पाकर सरवर में तरंगें उठने लगती हैं।

७३. सृजनशील जीवन

कुम्भ को देख प्रसन्न हुई धरती कहती है–माँ सत्ता को तुम्हारी उन्नति, मान को हरने वाली प्रवृत्ति देख अत्यन्त प्रसन्नता है "पूत का लक्षण पालने में कहा था ना", उस समय, जिस समय तुमने मेरी आज्ञा पाली। कुम्भकार का सम्पर्क किया सो सृजनशील-विकासशील जीवन का प्रथम सर्ग (अध्याय) हुआ। जिसका सम्पर्क किया, उसके चरणों में अहं का त्याग कर जो समर्पण किया तो निर्माणशील जीवन का द्वितीय अध्याय हुआ। समर्पण के बाद बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ और खरी-खरी समीक्षाओं को स्वीकारते हुए उत्साह-साहस के साथ जो अग्नि-परीक्षा दी उपसर्ग सहन किया, सो विकासशील जीवन का तृतीय सर्ग हुआ। परीक्षा के बाद पराश्रित अनुस्वार यानी बिन्दु समान जीवन को जो तुमने ऊर्ध्वगामी, ऊर्ध्वमुखी, स्वाश्रित

---

१. उपादान शक्ति = भीतरी योग्यता।

२. निमित्त = बाह्य कारण।

३. एकान्त धारणा = किसी एक पक्ष का हठाग्रह मन में रखना।

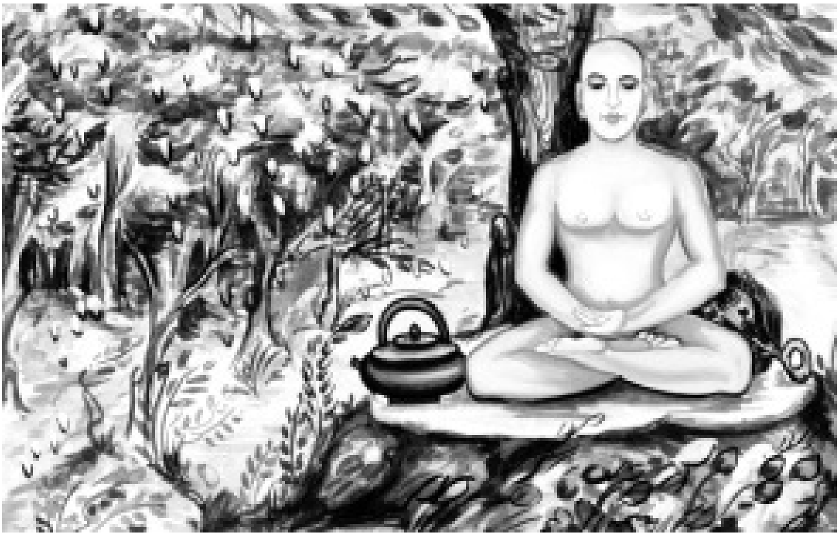

बनाया सो विकासशील जीवन का अन्तिम सर्ग (अध्याय) हुआ। और स्वभाव से ही सृज धातु की भाँति अनेक उपसर्ग को सहनकर, तुमने जो लौकिक जीवन का अन्त किया। सो मानो समस्त कक्षाओं, गुणस्थानों[1] से अतीत मोक्षधाम, सिद्धत्व की उपलब्धि हुई।

धरती की भावना सुन कुम्भ सहित सभी ने कृतज्ञता की दृष्टि से कुम्भकार की ओर देखा। सो नम्रता की मुद्रा में कुम्भकार ने कहा–यह सब ऋषि, मुनियों, सन्तों की कृपा का फल है। मैं तो एक नादान छोटा-सा सेवक मात्र हूँ और कुछ नहीं। और सामने ही कुछ दूरी पर पेड़ के नीचे, पाषाण पर विराजित वीतरागी साधु की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कराता है। वह तुरन्त कुम्भ, परिवार जन, आतंकवाद दल सभी ने गुरु निकट पहुँच, आदर सहित तीन प्रदक्षिणा दे गुरु चरणों में नमन किया। पादाभिषेक कर पादोदक (गंधोदक)सिर पर लगाया और चातक पक्षी के समान गुरुकृपा (वचनों) की प्रतीक्षा करने लगे सब।

७४. वचन दिया : गुरुदेव को

कुछ समय व्यतीत हुआ कि गुरुदेव का प्रसन्न-मुख प्रसाद बाँटने लगा। अभय का हाथ उठा, जिसमें यह भाव भरा था कि शाश्वत सुख का लाभ हो। इस पर आतंकवाद ने कहा–हे स्वामिन्! समस्त संसार ही दुखों से भरा है। यहाँ सुख है पर पञ्चेन्द्रिय के विषयों से उत्पन्न होने वाला, वह भी नश्वर। यह तो अनुभूत

१. गुणस्थान = संसारी जीव के परिणामों का विकास क्रम जिनकी संख्या १४ होती है।

हुआ, किन्तु शाश्वत–अक्षय सुख पर विश्वास नहीं हो पा रहा है। यदि आप शाश्वत सुख पाने के बाद हमें वह सुख दिखा सको, उस विषय में अपना अनुभव बता सको तो संभव है हमें भी विश्वास हो जाये और हम भी आप जैसी साधना अपने जीवन में अपना सकें, ग्रहण कर सकें। अन्यथा मन की बात मन में ही रह जायेगी। अतः हमारी भावना पूर्ण हो, ऐसा वचन दो, तो बड़ी कृपा होगी।

दल की बात सुन मन्द, मृदु मुस्कान ले सन्त ने कहा–ऐसा होना सम्भव नहीं है। कारण सुनो–मेरे गुरुदेव ने मुझसे कहा है–

''कभी किसी को भी
वचन नहीं देना,
क्योंकि तुमने
गुरु को वचन दिया है :
हाँ! हाँ!
यदि कोई भव्य
भोला-भाला भूला-भटका
अपने हित की भावना ले
विनीत-भाव से भरा–

कुछ दिशा-बोध चाहता हो
तो...
हित-मित-मिष्ट वचनों में
प्रवचन देना उसे,
किन्तु
कभी किसी को
भूलकर स्वप्न में भी
वचन नहीं देना।'' (पृ० ४८६)

कैसी भी परिस्थिति हो, किसी को भी कभी वचन नहीं देना। हाँ, यदि कोई भूला-भटका भव्य जीव आत्महित की भावना ले, कुछ दिशा-बोध चाहे, तो उसे हित-मित-प्रिय वाणी से प्रवचन अवश्य दे देना, किन्तु स्वप्न में भी वचन नहीं देना। और दूसरा कारण यह है कि तन, मन और वचन रूप बन्धन का पूर्ण रूप से नष्ट हो जाना ही अविनश्वर सुख को पाना है। जिसे पाने के बाद संसार में आना कैसे संभव है, तुम्हीं बताओ।

दूध घी बन सकता है, किन्तु क्या घी पुनः दूध बन सकता है ? यदि नहीं, तो प्रभु पुनः संसारी कैसे बन सकते हैं ? और इतने पर भी तुम्हें श्रमण-साधना, शाश्वत सुख के विषय में विश्वास नहीं हो रहा हो, तो फिर अब अन्तिम कुछ कहता हूँ-

''क्षेत्र की नहीं,
आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,
तुम्हें होगी मेरी
सही-सही पहचान।'' (पृ० ४८७)

७५. डूबे सन्त : महामौन में

केवल क्षेत्र की ओर नहीं, आचरण को जीवन में धारण करके देखो। तुम्हें श्रमण-साधना की सही-सही पहचान होगी, क्योंकि ऊपर से नीचे देखने पर माथा घूमने लगता है, चक्कर आता है और नीचे से ऊपर की ओर देखने पर उपरिल वस्तु का अनुमान गलत निकलता है। जैसे बहुत बड़ा विमान भी छोटा-सा दिखता है, इसीलिए इन-

''शब्दों पर विश्वास लाओ,
हाँ ! हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी
अवश्य मिलेगी
मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर!'' (पृ० ४८८)

कहे गये शब्दों पर विश्वास रखो, निश्चित तुम्हारे विश्वास को अनुभूति मिलेगी, लेकिन रास्ते पर नहीं मंजिल में, लक्ष्य मिलने पर ही, इतना कहकर सन्त महामौन में डूब जाता है और माहौल को अपलक निहारती–सी–मूकमाटी!

❑ ❑ ❑

कृतज्ञता

अंतरिक्ष में प्रभु पार्श्व महान
चन्द्रगिरि पर जिन गुणगान
जिनपुर-जिन्तूर सुनाम
महाव्रती-इच्छुक एकान्तवासी
आचार्य ज्ञानसागर गुरु के प्रथम शिष्य
सूरि-प्रवर श्री विद्यासागरजी के
परम आशीष से
वर्षायोग २००८ हुआ
और
बढ़े चरण, बढ़ते चले
शुद्ध आत्मानुभूति की ओर
साथ ही साथ पूर्ण हुआ
भादों शुक्ल दूज
आचार्य श्री शान्तिसागरजी
समाधि-स्मृति दिवस पर
'उपाश्रम की छाँव में'
मूकमाटी महाकाव्य : एक भावानुवाद
का सृजन
मुनि-मन-रंजन
बनूँ निरंजन
यही भावना
शत-शत वन्दन
जिन पद अभिलाषी
लघु श्रमण

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट-१

‘मूकमाटी’ महाकाव्यगत कुछ रोचक काव्य खण्ड

१. युग के आदि में
इसका नामकरण हुआ है
कुम्भकार!
‘कु’ यानी धरती
और
‘भ’ यानी भाग्य होता है—
यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो
कुम्भकार कहलाता है। (पृ० २८)

२. पर की दया करने से
स्व की याद आती है
और
स्व की याद ही
स्व-दया है
विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या...द द...या (पृ० ३८)

३. मेरा नाम सार्थक हो प्रभो!
यानी
गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक
मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
...बस,
और कुछ वांछा नहीं
गद-हा...गदहा! (पृ० ४०)

४. संयम की राह चलो
राही बनना ही तो
हीरा बनना है,

स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है—
रा...ही ही...रा...। (पृ० ५६-५७)

५. खरा शब्द भी स्वयं
विलोम रूप से कह रहा है
राख बने बिना
खरा-दर्शन कहाँ ?
रा...ख ख...रा... (पृ० ५७)

६. संयम के बिना आदमी नहीं
यानी
आदमी
वही
है
जो यथा-योग्य
सही आ...दमी है। (पृ० ६४)

७. कृपाण कृपालु नहीं हैं
वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण
हम में कृपा न ! (पृ० ७३)

८. मंगल-कामना मुखरित होती-
मछली के मुख से
"यही मेरी कामना है
कि
आगामी छोरहीन काल में
बस इस घट में
काम ना रहे!" (पृ० ७७)

९. मानवता से दानवत्ता
कहीं चली गई है ?
और फिर
दानवता में दानवत्ता
पली थी कब वह ? (पृ० ८१-८२)

१०. 'वसुधैव कुटुम्बकम्'
इसका आधुनिकीकरण हुआ है
'वसु' यानी धन-द्रव्य
'धा' यानी धारण करना
धन ही कुटुम्ब बन गया है
आज
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का। (पृ० ८२)
११. वातानुकूलता हो या न हो
बातानुकूलता हो या न हो
सुख या दुःख के लाभ में भी
भला छुपा हुआ रहता है,
देखने से दिखता है समता की आँखों से,
लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम रूप से कह रहा है—
ला...भ भ...ला। (पृ० ८७)
१२. कम बलवाले ही
कंबलवाले होते हैं
और
काम के दास होते हैं। (पृ० ९२)
१३. मन के गुलाम मानव की
जो कामवृत्ति है
तामसता काय-रता है
वही सही मायने में
भीतरी कायरता है! (पृ० ९४)
१४. मन की छाँव में ही
मान पनपता है
मन का माथा नमता नहीं
न -'मन' हो, तब कहीं
नमन हो 'समण' को
इसलिए मन यही कहता है सदा—
नम न! नम न!! नम न !!! (पृ०९७)

१५. हित से जो युक्त-समन्वित होता है
वह सहित माना है और
सहित का भाव ही
साहित्य बाना है। (पृ० १११)

१६. प्रकृति ने पुरुष को आज तक
कुछ भी नहीं दिया
यदि दिया भी है...तो...
रस-भाग नहीं, खोखा दिया है
कोरा धोखा दिया है।
धोखा दिया! धोखा ही सही
यूँ बार-बार कह उसे भी
पुरुष ने आँखों के जल से
धो, खा दिया
और आज भी
पामर पुरुष मौका देख रहा है
कुछ अपूर्व पाने का प्रकृति से...! (पृ० १२२-१२३)

१७. किसीविध मन में
मत पाप रखो,
पर, खो उसे पल-भर
परखो पाप को भी
फिर जो भी निर्णीत हो,
हो अपना, लो, अपनालो उसे! (पृ० १२४)

१८. अगर बाती को अगरबाती का
योग नहीं मिलता... तो...
बात दूसरी थी...अधूरी थी,
मगर बात पूरी हुई
भीतर बराबर बारूद भरा हुआ था ही
फिर क्या पूछना! (पृ० १३४-१३५)

१९. कोप की कोषिका नाक ही है
''नाक में दम कर रक्खा है'' सबका
मनाक् भी सन्देह नहीं इसमें। (पृ० १३५)

२०. ''किसलय ये किसलिए
किस लय में गीत गाते हैं ?
किस वलय में से आ
किस वलय में क्रीत जाते हैं ?
और अन्त-अन्त में श्वास इनके
किस लय में रीत जाते हैं ? (पृ० १४१-१४२)

२१. इस जीवन में न सही
अगली पर्याय में तो
मर, हम 'मरहम' बनें...! (पृ० १७५)

२२. मैं दो-गला...! मैं...दोगला!!
मैं दो गला...!!! (पृ० १७६)

२३. इनका विलोम परिणमन हुआ है
यानी,
न...दी... दी...न।
जल से विहीन हो
दीनता का अनुभव करती है नदी,
और
ना...ली...ली...ना
लीना हुई जा रही है धरती में
लज्जा के कारण (पृ० १७८)

२४. मुख से बाहर निकली है रसना उसकी
रसना थोड़ी-सी उलटी-पलटी है,
कुछ कह रही-सी लगती है—
भौतिक जीवन में रस ना!
और
र...स...ना, ना...स...र
यानी वसन्त के पास सर नहीं था
बुद्धि नहीं थी हिताहित परखने की,
यही कारण है कि
वसन्त-सम जीवन पर
सन्तों का नाऽसर पड़ता है। (पृ० १८०-१८१)

२५. स्वभाव से ही सुधरता है
स्व-पन... स्व-पन...स्व-पन
अब तो चेतें विचारें
अपनी ओर निहारें
अपन...अपन...अपन
यहाँ चल रही है केवल
तपन...तपन...तपन...! (पृ० १८६)
२६. यह निन्द्य कर्म करके
जलधि ने जड़-धी का
बुद्धि-हीनता का, परिचय दिया है। (पृ० १८९)
२७. इसीलिए...तो...धरती
सर्व-सहा कहलाती है
सर्व-स्वाहा नहीं...
और
सर्व-सहा होना ही
सर्वस्व को पाना है जीवन में। (पृ० १९०)
२८. जलधि 'जड़धी' है
इसका भाव बुद्धि का अभाव नहीं
परन्तु,
जड़ यानी निर्जीव—
चेतना-शून्य, घट-पट पदार्थों से
धी यानी बुद्धि का प्रयोजन
और
चित् की अर्चना—स्वागत नहीं करना है। (पृ० १९९)
२९. इनका सार्थक नाम है 'नारी'
यानी—
'न अरि' नारी...
अथवा
ये आरी नहीं हैं
...सो...नारी...!
३०. जो

'मह' यानी मंगलमय माहौल,
महोत्सव जीवन में लाती है
'महिला' कहलाती वह ! (पृ० २०२)

३१. जो अव यानी
'अवगम'—ज्ञानज्योति लाती है
तिमिर—तामसता मिटाकर
जीवन को जागृत करती है
अबला कहलाती है वह!
...न बला...सो अबला। (पृ० २०३)

३२. 'कु' यानी पृथिवी
'मा' यानी लक्ष्मी
और
'री' यानी देने वाली...
इससे कुल मिलाकर भाव निकलता है कि
यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी
जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी। (पृ० २०४)

३३. 'स्' यानी सम-शील संयम है
'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ और काम—पुरुषार्थों में
पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो...स्त्री कहलाती है (पृ० २०५)

३४. 'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ
और
'ता' प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है
यानी
सुख-सुविधाओं का स्रोत...सो—
'सुता' कहलाती है। (पृ० २०५)

३५. मैं 'अंगना' हूँ
परन्तु,

मात्र अंग ना हूँ...
और भी कुछ हूँ मैं...! (पृ० २०७)

३६. शुभ-कार्यों में विघन डालना ही
इनका प्रमुख कार्य रहा है
इनका जघन परिणाम है,
जघन ही काम!
और
'घन' नाम ! (पृ० २२७)

३७. इसके अंग-अंग में
रग-रग में
विश्व का तामस आ भर जाय
कोई चिन्ता नहीं,
किन्तु, विलोम-भाव से
यानी
ता...म...स स...म...ता...! (पृ० २८४)

३८. पावन-व्यक्तित्व का भविष्य वह
पावन ही रहेगा।
परन्तु,
पावन का अतीत-इतिहास वह
इति...हास ही रहेगा
अपावन...अपावन...अपावन। (पृ० २९७)

३९. सा...रे ग...म यानी
सभी प्रकार के दु:ख
प...ध यानी! पद-स्वभाव
और
नि यानी नहीं,
दु:ख आत्मा का स्वभाव–
धर्म नहीं हो सकता (पृ० ३०५)

४०. धा...धिन्...धिन्...धा...
धा...धिन्...धिन्...धा...
वेतन-भिन्ना चेतन-भिन्ना,

ता...तिन...तिन...ता
ता...तिन...तिन...ता
का तन...चिन्ता, का तन...चिन्ता ? (पृ॰ ३०६)
घूँ...घूँ...यूँ!

४१. धन्य! धन्य है यह नर
और यह नर-तन
सब तनों में 'वर'-तन। (पृ॰ ३३२)

४२. स्व यानी सम्पदा है,
स्व ही विधि का विधान है
स्व ही निधि-निधान है
स्व की उपलब्धि ही सर्वोपलब्धि है
फिर,
अतुल की तुलना क्यों ? (पृ॰ ३४०)

४३. 'नि' यानी निज में ही
यति यानी यतन-स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है
निश्चय से यही यति है,
और
'पुरुष' यानी आत्मा-परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
सही पुरुषार्थ है। (पृ॰ ३४९)

४४. चरण को छोड़ कर
कहीं अन्यत्र कभी भी
चर न ! चर न !! चर न !!!
इतना ही नहीं,
विलोम-रूप से भी
ऐसा ही भाव निकलता है,
यानी
च...र...ण, न...र...च

चरण को छोड़ कर
कहीं अन्यत्र कभी भी
न रच ! न रच ! न रच ! (पृ॰ ३५९)

४५. माटी के कुम्भ में भरे पायस ने
पात्र-दान से पा यश
उपशम-भाव में कहा, कि
तुम में पायस ना है
तुम्हारा पाय सना है
पाप-पंक से पूरा अपावन। (पृ॰ ३६४)

४६. इन वैभव-हीन भव्यों को
भवो-भवों में
पराभव का अनुभव हुआ।
अब,
'परा'-भव का अनुभव वह
कब होगा ? (पृ॰ ३७१)

४७. मेरे साथ बोलना भी यदि
पाप है तो...मत बोलो,
....
कम-से-कम इसे सुन तो लो!
...फिर तोलो! (पृ॰ ३७५)

४८. श्रमण भेष धारे
वर्षों-युगों व्यतीत हुए
पर, श्रामण्य का अभाव-सा लगता है
सर होते हुए भी बिसर चुके हैं
अपने भाव-धर्म।
वह सर-दार का जीवन
असर-दार कहाँ रहा ? (पृ॰ ३८०)

४९. जीवन का, न यापन ही
नयापन है
और
नैयापन! (पृ॰ ३८१)

५०. परन्तु खेद है कि
लोभी पापी मानव
पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं। (पृ॰ ३८६)

५१. 'क' यानी आत्मा-सुख है
'ला' यानी लाना-देता है
कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है। (पृ॰ ३९६)

५२. सज्जन-मुख से निकली वाणी
'वै' यानी निश्चय से
'खरी' यानी सच्ची है,
सुख-सम्पदा की सम्पादिका।
....
दुर्जन-मुख से निकली वाणी
'वै' यानी निश्चय से
'खली' यानी धूर्ता-पापिनी है,
सारहीना विपदा-प्रदायिनी। (पृ॰ ४०३)

५३. ओरी कलशी!
कहाँ दिख रही है तू
कल...सी ?
केवल आज कर रही है
कल की नकल-सी!
तू रही न कलशी
...कल-सी! (पृ॰ ४१७)

५४. एक युगल नाग और नागिन,
हमें नाग और नागिन
ना-गिन, हे वरभागिन् ! (पृ॰ ४३२)

५५. पर-सम्पदाएँ मिलने पर भी
उनको मैंने स्वप्न में भी
ना लीं।

और
अपनी उदारता दिखाने
किसी स्वार्थ या यश-लोकैषणावश
दूसरों को उन्हें न दीं।
तभी...तो...हमें
सन्तों ने सार्थक संज्ञा दी—
...नाली!...नदी! (पृ० ४४८)
५६. धरती इस शब्द का भी भाव
विलोम-रूप से यही निकलता है
ध...र...ती ती...र...ध
यानी,
जो तीर को धारण करती है
या शरणागत को
तीर पर धरती है
वही 'धरती' कहलाती है।
और सुनो!
'ध' के स्थान पर
'थ' के प्रयोग से
तीरथ बनता है
शरणागत को तारे सो...'तीरथ'! (पृ० ४५२)
५७. स्वयं धरणी शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है कि
ध...र...णी नी...र...ध
नीर को धारण करे...सो...धरणी
नीर का पालन करे सो...धरणी ! (पृ० ४५३)
५८. समाज का अर्थ होता है समूह
और
समूह यानी
सम—समीचीन, ऊह—विचार है
जो सदाचार की नींव है
....

आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?
सबसे आगे मैं
समाज बाद में! (पृ॰ ४६१)

५९. हम तो...अपराधी हैं
चाहते अपरा 'धी' हैं। (पृ॰ ४७४)

६०. अपराधी नहीं बनो
अपरा 'धी' बनो,
'पराधी' नहीं
पराधीन नहीं
परन्तु
अपराधी न बनो। (पृ॰ ४७७)

❑ ❑ ❑

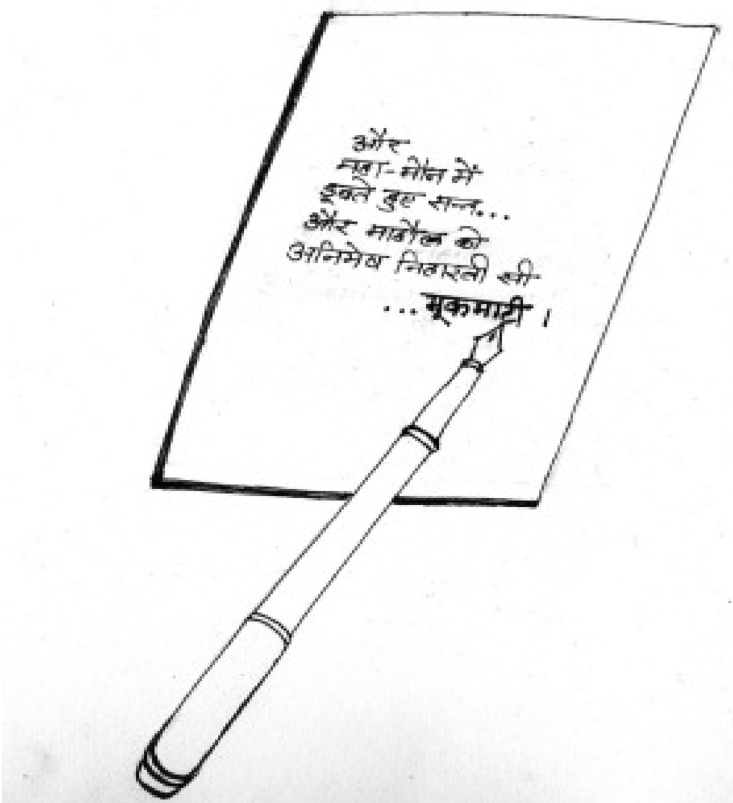

परिशिष्ट–२

दिगम्बर जैनाचार्य सन्त शिरोमणि श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर हुए शोध कार्य

डी॰लिट्॰

१. **मूकमाटी : चेतना के स्वर**
डॉ॰ भागचन्द्र जैन 'भास्कर', नागपुर

२. **महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर : जीवन एवं साहित्यिक अवदान**
डॉ॰ विमलकुमार जैन, सहारनपुर

पी–एच॰ डी॰

३. **संस्कृत शतक परम्परा एवं आचार्य विद्यासागर के शतक**
डॉ॰ (श्रीमती) आशालता मलैया, सागर

४. **संस्कृत काव्य के विकास में बीसवीं शताब्दी के जैन मनीषियों का योगदान**
डॉ॰ नरेन्द्रसिंह राजपूत, पटेरा

५. **हिन्दी साहित्य की संत काव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्व का अनुशीलन**
डॉ॰ बारेलाल जैन, रीवा

६. **जैन दर्शन के संदर्भ में मुनि श्री विद्यासागरजी के साहित्य का अनुशीलन**
डॉ॰ (श्रीमती) किरण जैन, सागर

७. **आचार्य विद्यासागर व्यक्तित्व एवं काव्यकला**
डॉ॰ (श्रीमती) माया जैन, उदयपुर

८. **आचार्य श्रीविद्यासागरकृत मूकमाटी का सांस्कृतिक अनुशीलन**
डॉ॰ चन्द्रकुमार जैन, राजनांदगाँव

९. **जैन विषय वस्तु से सम्बद्ध आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में सामाजिक चेतना**
डॉ॰ (श्रीमती) सुशीला सालगिया, इन्दौर

१०. **'कामायनी' और 'मूकमाटी' महाकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन**
डॉ॰ संजय कुमार मिश्र, रीवा

११. **आचार्य विद्यासागर की लोक दृष्टि और उनके काव्यकाकलागत अनुशीलन**
डॉ॰ (श्रीमती) सुनीता दुबे, विदिशा

१२. **'मूकमाटी' का शैलीपरक अनुशीलन**
डॉ॰ (श्रीमती) मीना जैन, ओबेदुल्लागंज

१३. **हिन्दी महाकाव्य परम्परा में 'मूकमाटी' का अनुशीलन**
डॉ० (श्रीमती) अमिता जैन, सागर

१४. **आचार्य श्रीविद्यासागरजी के साहित्य में उदात्त मूल्यों का अनुशीलन**
डॉ० रश्मि जैन, बीना

१५. **आचार्य विद्यासागर के साहित्य में जीवनमूल्य**
डॉ० श्रीमती निधि गुप्ता, पद्मनाभपुर, दुर्ग

१६. **आचार्य विद्यासागर के 'मूकमाटी' महाकाव्य का अनुशीलन**
डॉ० (श्रीमती) निधि ए. जैन 'देवा', इन्दौर

१७. संत कवि आचार्य श्री विद्यासागर की साहित्य साधना
डॉ० (श्रीमती) राजश्री जैन, दिल्ली

१८. **भक्तिकाव्य के मूल्य और आचार्य विद्यासागर का काव्य**
डॉ० (श्रीमती) शालिनी गुप्ता, कुसुमी,छत्तीसगढ़

१९. **आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के साहित्य एवं श्रीमद् भगवद् गीता का तुलनात्मक अध्ययन**
डॉ० सुधीरकुमार जैन, भोपाल

२०. **आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास में आचार्य श्रीविद्यासागरजी का योगदान**
डॉ० प्रशान्तकुमार जैन, राघौगढ़

२१. **आचार्य विद्यासागर केन्द्रित प्रमुख शोध ग्रन्थों का अनुशीलन**
डॉ० रमाशंकर दीक्षित, हरदी, जिला-कटनी

२२. **आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज का दार्शनिक चिंतन**
डॉ० (श्रीमती) साधना सेठी, उज्जैन

२३. **आचार्यविद्यासागर का साहित्य : एक अनुशीलन**
डॉ० अनिलकुमार सिरवैयां, भोपाल

२४. **मूकमाटी महाकाव्य में लोकोपयोगी विचार**
डॉ० सुदाणी जल्पा,

२५. **आचार्य विद्यासागर कृत संस्कृत काव्य शतकों का अनुशीलन**
डॉ० संतोषकुमार सिंह, जामुनीपुर (उत्तरप्रदेश)

२६. **आचार्य विद्यासागर के शैक्षिक विचार**
डॉ० सपना जैन, जबलपुर

२७. **आचार्य विद्यासागर के हिन्दी काव्य में समाज दर्शन : परम्परा व नवीनता**
डॉ० सुरभि जैन, सतना

२८. **महाकवि आचार्य विद्यासागर के हिन्दी काव्य ग्रन्थों का अध्ययन**
डॉ॰ अलका द्विवेदी, इलाहाबाद

२९. **हिन्दी साहित्य की संत काव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागरजी के साहित्य का मूल्यांकन**
डॉ॰ रामनरेश सिंह यादव, मैनपुरी

शोधरत

३०. **जैनाचार्य श्री विद्यासागर कृत संस्कृत साहित्येषु शैक्षिक तत्त्वानुशीलनम्**
नवीन जैन, बीना

३१. **आचार्य विद्यासागरस्य संस्कृतकृतिनां समीक्षात्मकमध्ययनम्**
प्रदीप जैन शास्त्री, कुम्हारी, तह॰ पटेरा, जिला–दमोह

एम॰ फिल॰

३२. **'मूकमाटी' महाकाव्य में रसों एवं बिम्बों का अनुशीलन**
डॉ॰ संजयकुमार मिश्र, बसगड़ी, रीवा, मध्यप्रदेश

३३. **आचार्य विद्यासागर और उनका काव्य : एक अनुशीलन**
कृष्णा पटैल, रीवा, मध्यप्रदेश

३४. **आचार्य विद्यासागर विरचित 'पञ्चशती' का साहित्यिक मूल्यांकन**
सुशीला यादव, रेवाड़ी, हरियाणा

३५. **आचार्य विद्यासागर के दोहा–दोहन एक अनुशीलन**
सुश्री सुनीता देवी मिश्रा, दमेहड़ी, अनूपपुर, मध्यप्रदेश

३६. **'चेतना के गहराव में' आचार्य विद्यासागर का काव्य चिंतन**
विभा तिवारी, रोरा, रीवा, मध्यप्रदेश

३७. **आचार्य विद्यासागर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना**
श्रीमती प्रियंका बौद्ध, शाहपुर, सतना, मध्यप्रदेश

३८. **आचार्य विद्यासागर की अनूदित रचनाओं का अनुशीलन**
संजयकुमार जैन, भेलसी, छतरपुर, मध्यप्रदेश

३९. **मूकमाटी महाकाव्य के प्रतीकों का वैज्ञानिक विश्लेषण**
रमेशचन्द्र मिश्र, भोपाल, मध्यप्रदेश

एम॰ एड॰

४०. **आचार्य श्री विद्यासागर के व्यक्तित्व एवं शैक्षिक विचारों का अध्ययन**
श्रीमती सारिका जैन, भोपाल

४१. **आचार्य श्री विद्यासागरजी की कृति 'मूकमाटी' का शैक्षिक अनुशीलन**
श्रीमती प्रतिभा जैन, भोपाल

एम० ए०

४२. **आचार्य कवि विद्यासागरजी के प्रबन्ध मूकमाटी का समीक्षात्मक अध्ययन**
मेहेरप्रसाद यादव, झाँसी

४३. **आचार्य विद्यासागरजी कृत मूकमाटी : एक अध्ययन**
नरेशचन्द्र गोयल, जयपुर

४४. **आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत मूकमाटी महाकाव्य : एक साहित्यिक मूल्यांकन**
श्रीमती सीमा जैन, ग्यारसपुर, विदिशा

४५. **आचार्य श्री विद्यासागरजी की मूकमाटी का समीक्षात्मक दार्शनिक अनुशीलन**
श्रीमती अनीता जैन, विदिशा

४६. **आचार्य श्री विद्यासागरजी के संस्कृत शतकों का साहित्यिक अनुशीलन**
आदित्यकुमार वर्मा, इन्दौर

४७. **'मूकमाटी' महाकाव्य : एक अनुशीलन**
श्रीमती कल्पना जैन, चिरमिरी

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट-३

मूकमाटी-मीमांसा : एक परिचय

'मूकमाटी' पर केन्द्रित विविध आयामी समीक्षाओं के प्रस्तुत संकलन 'मूकमाटी-मीमांसा' में समीक्षकों ने प्रयास किया है कि आलोच्य ग्रन्थ का कथ्य उभरकर पाठकों के समक्ष स्पष्ट रूप से आ जाये। एतदर्थ धर्म, दर्शन, अध्यात्म, काव्य आदि विभिन्न कोणों से उसे देखा-परखा गया है। स्वयं रचनाकार मानता है कि जैन प्रस्थान के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है। यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर सामान्य भी विशिष्ट हो गया है, राग भी वैराग्यपर्यवसायी हो गया है। इसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक क्षेत्रों में प्रविष्ट अवांछित स्थितियों को निर्मूल करना और युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना है। समीक्षकों ने आचार्यश्री की इन मान्यताओं का अपने वैचारिक आलोक में पल्लवन, सम्पोषण एवं संवर्धन किया है।

ये समीक्षाएँ पाठ या पाठकवादी दृष्टि से नहीं, अपितु कृतिकार की कृति को केन्द्र में रखकर इस प्रकार प्रस्तुत हुई हैं कि जिज्ञासु एवं रसिक पाठक रचनाकार के कहे-अनकहे की गहराइयों से संवाद लाभ कर सके। समीक्षकों ने इस कालजयी कृति में निहित जहाँ जीवन की चिरन्तन, ऊर्ध्वमुखी, सात्त्विक वृत्तियों एवं गहन दार्शनिक पक्षों का अनावरण किया है वहीं समकालीन समस्याओं के संकेतों को भी विस्तृत पीठिका पर विवेचित और समीक्षित किया है। युग की अर्थलिप्सा, यशोलिप्सा, अहंकारिक और आतंकवादी समकालीन उग्रवृत्तियों पर स्वयं रचनाकार एवं समीक्षकों की समीक्षण वृत्ति रेखांकनीय है।

उक्त चिरन्तन एवं अद्यतन समस्याओं और उनकी समाहितियों की विभिन्न स्थितियों के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र के गम्भीर अध्येताओं ने पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक इसके प्रबन्धत्व या महाकाव्यत्व पर तलावगाही आलोडन-विलोडन कर बताया है कि प्रस्तुत कृति एक शास्त्रकाव्य है। महाकाव्य का सन्दर्भ आते ही नायक-नायिका, उसकी प्रकृति, भाव-रस की विविध स्तरीय स्थितियाँ, कथानक की संश्लिष्टता, आधिकारिक प्रासंगिक कथाओं का संयोजन जैसे वस्तुगत पक्षों के साथ उसके कलात्मक पक्ष का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। कृति में रचनाकार का वाक्पाटव, आलंकारिक भंगिमा, भाषा पर उसके अप्रतिम अधिकार को भी सुस्पष्ट किया है। विश्वास है, यह संकलन रचनाकार से पाठक का संवाद कराता हुआ अपने दायित्व का समग्रता में प्रत्याशित निर्वाह कर सकेगा।